॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११८

महाकविश्रीक्षेमेन्द्रविरचिता

औचित्यविचारचर्चा

'प्रभा' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेता

व्याख्याकार :—

व्याकरण–साहित्यायुर्वेदाचार्य–साहित्यालङ्कारः–

आचार्य श्रीव्रजमोहन झा

बिहारराज्यान्तर्गत'चाइबासा'स्थ-राजकीय-संस्कृतोच्चविद्यालयाध्यापकः

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
११८

महाकविश्रीक्षेमेन्द्रविरचिता

औचित्यविचारचर्चा

'प्रभा' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेता

व्याख्याकार :—
व्याकरण–साहित्यायुर्वेदाचार्य–साहित्यालङ्कारः–
आचार्य श्रीव्रजमोहन झा
विहारराज्यान्तर्गत 'चाइवासा'स्थ-राजकीय-संस्कृतोच्चविद्यालयाध्यापकः

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

118

AUCITYAVICĀRACARCĀ

OF

ŚRĪ KṢEMENDRA

Edited with

THE PRABHA SANSKRIT & HINDI COMMENTARIES

By

Acharya Sri Vrajmohan Jha

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

समर्पण

मज्जीवननिर्मातॄणां सदा सहजवात्सल्यरसवर्षिणां 'भागलपुरस्थ'-
राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये व्याकरणविभागाध्यक्षाणां गुरु-
कल्पानां स्वाग्रजानां न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्याणां
परमविदुषां श्री पं० मदनमोहनझाशर्म-
महानुभवानां पावनकरकमलयोः

आत्मोद्गारः

अये विद्याविलासमग्ना मर्मज्ञा विद्वांसः ! प्रेयांसोऽध्यापकजिज्ञासवो विद्यार्थिनश्च ! जानन्त्येव भवन्तो यन्नाट्याचार्यभरतात् (ई० पू० प्रथमशताब्दीतः) समारभ्य पण्डितराजजगन्नाथं (षोडशतमवैक्रमशताब्दीम्) यावत्सहस्रशशतकानां सुदीर्घपरम्परायामनेके भारतीया विद्वांसोऽनेकान्वादानाविष्कृत्य संस्कृतसाहित्यक्षितिजेऽरुणकिरणवच्चमत्कृतिमापुरिति ।

तेषु च वादेषु कतमो गरीयान् कतमो वा लघीयानित्यालोचनातीतम् । यतो ह्यनेके वादाश्चिरतरप्रसारमासाद्याप्यद्यत्वे नामशेषाः संवृत्ताः, अनेके च सहस्राब्दीं यावदुपेक्षा-कुक्षि-नियमित-तनवोऽपि साम्प्रतं महता गर्वेण समुज्जृम्भन्ते ।

दृश्यताम्—योऽयमलङ्कारवादः कदाचित् (नवमशताब्दीतः पूर्वम्) परमां प्रतिष्ठामशिश्रियत् स एवेदानीं स्वमहिमानमपहाय विषादमासादयति । यश्चौचित्यवाद एकादशतमे वैक्रमशतके ध्वनि-रस-वक्रोक्तीनां चरमपरिणतिस्वरूपतया प्रकाशमासाद्याप्युपेक्षित इवासीत् स एव साम्प्रतं जन-मानसेषु परमस्पृहणीयतामालम्बते । अतो विज्ञायते यत्र साम्प्रतिकप्रसिद्ध्यप्रसिद्धी मूलतः कारणे कस्याप्युत्कर्षापकर्षयोरिति । एतत्तु महामहिम्नो भगवतः कालस्यैव माहात्म्यं येन कदाचित्कोऽप्युपचीयतेऽपचीयते वा ।

तस्माद्ये केऽपि कृतविद्याः सुरभारत्याः श्रीवर्धने मनागप्यायासमकुर्वंस्ते सर्वेऽपि नः परमादरपात्रम् । अस्तु तस्यैव महामहिमशालिनः कालस्य प्रभावादस्यां शताब्द्यां पुनरौचित्यवादो विदुषां ध्यानमाकर्षत् । येन यत्र तत्र तच्चर्चा प्रारब्धा, पत्र-पत्रिकादिषु विवेचना स्थानमलभत, विद्वत्समाजे विचारविनिमयकोटिमाश्रयच्च ।

इत्थमयं वादो ममाप्यन्तःस्थलं स्प्रष्टुं प्राभवत् । हठादहं परिणाममननुसंधायैव तद्वादव्यापिकाया 'औचित्यविचारचर्चाया' व्याख्यां विधातुं प्रत्यज्ञासिषम् ।

गुरु-चरण-संस्मरण-सञ्जातावबोधोऽहमस्याः संस्कृत-हिन्दी-समन्वितां प्रभाभिधां व्याख्यां सकलान्यकार्यसंपादनेन सहैव षण्मासाभ्यन्तरे पूर्णतामनयम् । व्याख्येयं कीदृशी सम्पन्नेत्यत्र सहृदया विद्वांस एव प्रमाणभूताः । अस्या व्याख्यायाः प्रभेतिनामकरणे प्रभानाम्नी स्तनन्धया मदङ्गजा प्रेरिका ।

तदानीमहं वैद्यनाथधामस्थगुरुकुलमहाविद्यालयेऽध्यापनं कुर्वाण आसम । गुरुकुलञ्चावासीयः (Residential) विद्यालयो भवति । आवासीयविद्यालयाध्यापकस्य च जीवनं रात्रिन्दिवं व्यस्तकार्यक्रमसंचालन एव व्यत्येति । अस्यां स्थितौ यद्यपि एकान्ताध्यवसाय-साध्यं व्याख्याकार्यं मम कृते दुष्करप्रायमासीत्, तथापि तत्रत्यानां प्राचार्याणामुदार-शासन-प्रणाल्या, पुस्तकालयाध्यक्षाणां सहयोगात्मकप्रवृत्त्या, मित्रवराणां समुत्साहकप्रकृत्या च नितरामुत्साहितोऽहं कथंकथमपि कृतकृत्योऽभवम् ।

एतदर्थमहं वैद्यनाथधामस्थ-गुरुकुलमहाविद्यालस्य प्राचार्येभ्यः श्री प० महादेवशरणमहाभागेभ्यः तदानींतन-तत्रस्थ-पुस्तकालयाध्यक्षेभ्यः श्री प० उमाकान्तशास्त्रिमहानुभावेभ्यः, प्रियसुहृच्छ्रीजगन्नाथपाठकमहोदयेभ्यस्तथाऽन्येभ्योऽपि सहकर्मिभ्यः कृत विविध-सहायेभ्यः हार्दिकाननेकान् धन्यवादानर्पयामि ।

सहैव स्वसतीर्थ्यस्य स्वान्तेवासिनश्च व्याकरणसाहित्याचार्यस्य श्री पं० विद्यानाथ मिश्र एम. ए. महोदयस्यापि प्रयासो न मे विस्मरणीयः, यस्मान्ममैतत्पुस्तकप्राप्तिरभूत्, अतः सोऽपि धन्यवादार्हः ।

सर्वतो धन्यवादार्हास्तु श्रेष्ठि-श्रीजयकृष्णदासहरिदासगुप्तमहानुभावाः, यैश्चैतत्प्रकाशनमङ्गीकृत्य मत्प्रयासः सफलीकृतः ।

अन्ते च सकल-सहायक-विदुषामाभारमावहन्नहं वक्तव्यमिदं संवृणोमि ।

यद्यनया व्याख्ययाऽध्येत्रध्यापकानां भविष्यति मनागप्युपकारस्तदैवाहं कृतकृत्यो भविष्यामि प्रयासं वा सफलं मंस्ये । अलमतिविस्तरेण । शमिति !

सप्रणयावनतस्य
व्रजमोहनस्य

अवतारणा

कृतारिवञ्चने दृष्टिर्येनाञ्जन-मलीमसा।
अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे॥ (क्षेमेन्द्र)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने प्रकृत पुस्तक—औचित्यविचारचर्चा—का आरम्भ इसी मङ्गल पद्य से किया है और मैं भी अपनी इस 'अवतारणा' की अवतारणा इसी पद्य से कर रहा हूँ। ऐसा इसलिये करना पड़ रहा है कि औचित्य-तत्त्व के विश्लेषण में प्रवृत्त होने पर सर्वप्रथम ध्यान उस जगन्नियन्ता परब्रह्म परमेश्वर की ओर बरबस चला जाता है जिसने अपनी लीला द्वारा संसार में औचित्य की प्रतिष्ठा की।

वस्तुतः भारतीय वाङ्मय में 'अवतारों' की कल्पना औचित्य के ही आधार पर की गई है। परमात्मा ने अपने विविध अवतारों के द्वारा, औचित्य के स्वरूप को परिस्फुट किया है, औचित्य की सर्वतोभावेन रक्षणीयता का मङ्गलमय उपदेश सांसारिक मानवों को दिया है।

मत्स्य से लेकर कल्की पर्यन्त अवतार-परम्परा औचित्य की ओर ही इङ्गित करती है। जब जैसा उपयुक्त था तब वैसा अवतार हुआ। जब दुर्दान्त दानव हिरण्यकशिपु का विनाश करना था तब तदुचित-तदुपयुक्त भीषण नरसिंह रूप में परमात्मा ने अवतार लिया और जब अमृत-पान के अवसर पर दानवों को छलने का प्रसंग उपस्थित हुआ तब छल के लिए परमोपयुक्त मोहिनीरूप धारण कर अपने नयनों को कज्जल-मलिन बनाने में भी संकोच नहीं किया।

औचित्य से कदापि च्युत नहीं होने के कारण भगवान् का 'अच्युत' नाम सर्वथा सार्थक तथा उपयुक्त है। इस तरह यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि औचित्य एक ईश्वरीय तत्त्व है—भागवत गुण है।

परमात्मा ने अपने नानाविध अवतारों के द्वारा जिस औचित्य का उपदेश किया, मानव-जगत् उसका पालन-पोषण व्यवहाररूप में सर्वथा न भी कर सका हो, पर सिद्धान्तरूप में उसने उसको सर्वात्मना स्वीकार किया इसमें सन्देह नहीं है। कारण यह कि अनादिकाल से लोक में उसी व्यवहार को सद्व्यवहार

माना जाता है जो औचित्य के ऊपर अवलंबित रहता है और उसी व्यवहार की संज्ञा दुर्व्यवहार है जिसके साथ औचित्य का आधार नहीं होता।

एक तरह से व्यवहारों के समूह का ही नाम लोक है। पिता–पुत्र का, गुरु–शिष्य का, भ्राता–भगिनी का, पति–पत्नी का, सेव्य–सेवक का, राजा–प्रजा का एवम् साधारण मानव–मानव का जो एक दूसरे के प्रति आचरण होता है उन्हीं से तो लोक-व्यवहार की सीमा निश्चित की जाती है। इनमें यदि औचित्य का आधार न रहे तो यह लोक लुप्त ही हो जाय। अतः लोकव्यवहार में सब से अधिक ध्यानीय बात यही होती है कि किस व्यक्ति के साथ किस तरह का आचरण उपयुक्त होगा, किस वस्तु का सन्निवेश कहाँ समुचित होगा। थोड़ी भी असावधानता हुई, किसी भी आचरण में अनौचित्य का लेशतोऽपि सम्बन्ध हुआ कि उस आचरण का कर्त्ता विवेचकों की दृष्टि में दोषी सिद्ध हो कर हेय कोटि में जा पड़ता है।

पाप-पुण्य की कल्पना भी बहुत-कुछ अनौचित्य और औचित्य से ही संबद्ध है। जिस अवस्था-विशेष में जिस वस्तु-विशेष के प्रति, जैसा भाव, आचरण अनुपयुक्त है, वहाँ वही प्रायः पाप कहलाता है और ठीक इसके विपरीत आचरण ही प्रायः पुण्य संज्ञा का भागी बनता है। दयनीय के प्रति दया का प्रदर्शन करना उचित है, यदि वह नहीं किया जाय तो उसकी गणना पाप में होगी और यदि वह किया जाय तो उसका नाम होगा पुण्य।

इस दृश्य जगत् में सौन्दर्य-भावना का आधार भी यही औचित्यतत्त्व है। कोई वस्तु असुन्दर इसलिये मानी जाती है कि उसमें औचित्य का अभाव है। सांसारिक पदार्थों के अपने-अपने विशिष्ट और निर्दिष्ट स्थान होते हैं जहाँ से भ्रष्ट होने पर पदार्थ अपने मूल्य और महत्त्व खो देते हैं। मानवों के दन्त, केश, नख आदि स्थानभ्रष्ट हो जाने पर शोभाहीन हो जाने की बात परम प्रसिद्ध है—

"स्थानभ्रष्टा न शोभते, दन्ताः केशा नखा नराः॥'

यहाँ चार पदार्थों का उल्लेख उपलक्षण रूप में ही हुआ है, वस्तुतः संसार की कोई भी वस्तु अपने समुचित स्थान से पृथक् हो कर—औचित्य का उल्लङ्घन कर शोभित नहीं होती ऐसा तथ्य ही विज्ञात होता है।

शरीर को अलंकृत करने के लिए रचे गये कटक-कुण्डल आदि अलंकार तभी तक अलंकार कहे जा सकते हैं जब तक वे अपने उचित स्थान पर विन्यस्त

रहेगें। अनुचित स्थान में धारण किया गया अलंकार स्वयं को ही असुन्दर नही बनाता अपितु धारण करने वाले व्यक्ति को भी मूर्ख सिद्ध कर देता है, उपहासास्पद बना देता है।

विहारी का कथन ठीक है कि जिस मुकुट को मस्तक पर धारण कर राजे-महाराजे महिमान्वित होते हैं उसी को जड़ जन चरण में पहन कर अपनी जड़ता को प्रकट करते हैं—

जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा-राव।
प्रगटत जड़ता आपनी, मुकुट पहिरियत पाव॥

गुणों की भी स्थिति ठीक इसी तरह की है—अर्थात् गुण भी औचित्य की सीमा के अन्दर रहकर ही गुण होते हैं, औचित्य-सीमा से बाहर होने पर गुण, गुण नहीं, दोष हो जाते हैं। अहिंसा तथा दया दोनों निःसन्देह दैवी गुण हैं। इनका प्रयोग करना मानव-धर्म माना गया है। किन्तु आततायी के ऊपर दया दिखलाना अनुपयुक्त होने के कारण पाप है, तभी तो शास्त्रकारों ने भी कह दिया—

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।"

ग्राम में आकर उपद्रव मचाने वाले नरभक्षी व्याघ्र के प्रति अहिंसा का पालन करना क्या कभी पुण्य माना जा सकता है? फलतः यही मानना पड़ता है कि दया, अहिंसा आदि दैवी गुण भी औचित्य का पल्ला पकड़ कर ही गुणता को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वरीय व्यापारों से लेकर मानवीय व्यवहारों तक—सर्वत्र—औचित्य का ही अखण्ड साम्राज्य विराजमान है।

ऐसी स्थिति में, जब कि देवलोक से लेकर मानवलोक तक के व्यापार-कलापों में औचित्यतत्त्व की महनीय महत्ता दृष्टिगोचर होती है, यदि काव्य-कला-जगत् में भी औचित्य का समधिक आदर हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि काव्य तथा कला आखिर लोकवृत्त के प्रतिविम्ब ही तो हैं।

यद्यपि ललित कलाओं में आदर्श के साथ यथार्थ का सामञ्जस्य रहता है अथवा नहीं; रहना चाहिए किंवा नहीं; इस विषय में समालोचकों के मत समान नहीं हैं तथापि कोई भी कला सर्वथा लोक का परित्याग नहीं कर सकती यह बात अकामेनापि सब को माननी पड़ेगी। आदर्शवाद की रक्षा के लिए

कटिबद्ध होकर प्रवृत्त होने वाले कलाकारों की कलाओं के भी अन्तराल से लौकिक अनुभूति अपनी सूक्ष्म झाँकी दिखाती ही रहती है, यह कथा मतवाद से बहुत ऊपर की है।

अतः लोकवृत्त के समान ललित कला भी औचित्यपूर्ण होने पर ही सहृदयानुरञ्जक हो सकती है, अन्यथा नहीं। वस्तुतः औचित्यतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित कला ही पद से अभिहित हो सकती है। अनौचित्य को प्रश्रय देने वाली कला कथमपि 'कला' जैसी महत्त्वमय संज्ञा की अधिकारिणी नहीं बन सकती।

ललित कलाओं में सर्वाधिक रुचिकर होने के कारण पहले चित्रकला पर ही ध्यान दीजिए। चित्रकला में भी चमत्कार का कारण औचित्य ही लक्षित होगा। चित्र-निर्माण में देश-काल की अनुरूपता, वेश-भूषा की अनुरूपता, रङ्ग-रेखा की अनुरूपता किस सीमा तक अपेक्षित है यह कला-परीक्षकों से अगोचर नहीं।

क्या देवों के चित्र दानवोचित शैली में और राज-परिवार के चित्र दरिद्र-जनोपयुक्त रीति में निर्मित होने पर दर्शकों के मानस में आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ हो सकेंगे ? यदि नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि औचित्य से विहीन होने के कारण वैसे चित्र आह्लाद के बदले एक प्रकार का वैरस्य ही उत्पन्न करते हैं।

अब यदि काव्य भी एक कला है तो उसके क्षेत्र में भी औचित्य की महत्ता माननी ही पड़ेगी। भारतीय परम्परा के अनुसार क्या दृश्य, क्या श्रव्य, सभी काव्यों का दर्शक तथा श्रोताओं के हृदय में रस का उन्मीलन करना ही एक मुख्य लक्ष्य रहा है। और इस लक्ष्य की सिद्धि में औचित्य की नितान्त आवश्यकता है ! अनुचित वेश-भूषा, अनुचित कथोपकथन, अनुचित मञ्च-रचना जिस तरह दृश्य काव्यों के अभिनय देखने वालों के हृदय में रसोन्मीलन नहीं कर पाते उसी तरह अनुचित पद-प्रयोग आदि श्रव्य-काव्य के श्रोताओं के मानस में आनन्दोद्बोधक नहीं होते। अतएव भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की भारतीय आलंकारिक परम्परा अपने-अपने दृष्टिकोण से काव्य-क्षेत्र में औचित्य की आवश्यकता मानती-बतलाती आ रही है।

यह बात दूसरी है कि पहले औचित्य शब्द की चर्चा नहीं मिलती, केवल

औचित्य-पदार्थ का ही विश्लेषण मिलता है और पश्चात् औचित्य पद का प्रयोग भी प्राप्त हाता है ।

औचित्य का ऐतिहासिक विकास

भरत

उपलब्ध निवन्धों में सबसे प्राचीन होने के कारण, किसी भी साहित्यिक तत्त्व के विकास-क्रम का अध्ययन करते समय हमें भरत कृत नाट्यशास्त्र की ओर सर्वप्रथम ध्यान देना पड़ता है, अतः औचित्य के विकास का अध्ययन भी भरत से ही आरब्ध किया जाता है ।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना कर सामान्यतः कलामात्र के सर्वमान्य सिद्धान्तों का समीक्षण किया है । यद्यपि उनका मुख्य लक्ष्य नाटक के स्वरूप, अभिनय आदि का वर्णन करना है, परन्तु इसके साथ अङ्गभूत सभी कमनीय कलाओं का विवरण प्रायः उन्होंने दिया है । नाट्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भरत का कथन है कि "सांसारिक व्यक्तियों का चरित्र एक समान नहीं होता है और न उनकी अवस्थाएँ ही एकाकार होती हैं । कोई धार्मिक होता है तो कोई पापी, कोई सदाचारी होता है तो कोई कदाचारी, कोई परोपकारी तो कोई स्वार्थी, कोई सुख के मधुर अनुभव में जीवन-यापन करता रहता है तो कोई दुःख के आँसू बहाता हुआ समय काटता रहता है । इन्हीं नानाभावों से सम्पन्न नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य[1] है । नाट्य में कितनी वस्तुएँ ग्राह्य हैं और कितनी त्याज्य हैं ? किनका अभिनय अभिनन्दनीय है और किनका निन्दनीय ? इस प्रश्न का उत्तर 'लोक' से ही प्राप्त होता है, अतः नाट्य का 'प्रमाण' लोक ही है। नाट्यसम्बन्धी सभी नियमों का उल्लेख किसी भी निबन्धकार से संभव नहीं, अतः भरत ने विस्तृत और व्यापक नियमों की जानकारी के लिए लोक की ओर अङ्गुलि-निर्देश कर दिया है ।[2]

---

१. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।। (नाट्यशास्त्र १।१०९)

२. (क) लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।
(नाट्यशास्त्र २६ अ. ११२ श्लो.)

इस 'लोक-प्रामाण्य' के तत्त्व का पालन भरत ने बड़े विवेक से किया है, भरत ने नाट्य-प्रयोग में दो प्रकार के धर्मी माने हैं—लोक-धर्मी तथा 'नाट्य-धर्मी।' 'लोकधर्मी' से लोकसिद्ध धर्मों का ग्रहण अभीष्ट है और 'नाट्यधर्मी' से नाट्य में प्रयुक्त होनेवाली परम्परागत वस्तुओं का बोध होता है। लोकधर्मी का सिद्धान्त नाट्य में यथार्थवाद का बोधक होता है, तो नाट्यधर्मी का तथ्य नाट्य में आदर्शवाद तथा मान्य रूढ़ियों का प्रतिपादक है। ग्राहक दोनों हैं। इसी तथ्य की दृष्टि से भरत ने 'प्रकृति' का विचार किया है। उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से त्रिविध प्रकृति के गमन, स्थान तथा आसन का विधान किया गया है। आहार्य अभिनय के अवसर पर नाटकीय पात्रों के वेष, भूषा, सज्जा आदि की रचना का विवेचन मार्मिक ढङ्ग से किया गया है। भिन्न-भिन्न पात्रों के लिये विभिन्न पाठ्यों का निर्देश किया गया है। प्रकृति के अनुरूप भाषा का विधान हुआ है। पुरुष-पात्र संस्कृत का तथा स्त्री-पात्र प्राकृत का प्रयोग करते हैं। नाटक की रचना को लक्ष्य कर रस और भाव के अनुरूप माधुर्य, ओज आदि गुणों का तथा उपमा, रूपक, दीपक और अनुप्रास इस अलंकार-चतुष्टय का निवेश करने का आदेश उन्होंने कवियों को दिया है।

अभिनय, प्रकृति, पाठ्य, छन्द, अलंकार, स्वर, संगीत—नाट्य की इस विशाल सामग्री का अवसान दर्शकों के हृदय में अनुकूल रस-भाव के उन्मीलन में ही होता है। रस के आधार पर ही भरत ने गुण-दोष की व्यवस्था की है। रसोद्‌बोध में सहायक 'गुण' हैं और रसोद्‌बोध में बाधक हैं 'दोष'। समग्र नाट्य-विधान का यही मूलमन्त्र है।

भरत ने अभिनय के सिद्धान्त का रहस्य प्रकट करते हुए कहा है—"सर्वप्रथम अवस्था के अनुरूप वेष होना चाहिए। वेष के अनुरूप गति तथा क्रिया होनी चाहिए। गति-प्रचार के अनुरूप पाठ्य होता है और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए।"[1]

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः॥
(ख) नोक्तानि च मया यानि लोकग्राह्याणि तान्यपि॥
(ना. शा. २४।२१४)

१. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।

अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, सात्त्विक, वाचिक तथा आहार्य। इन चारों में परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है। इन चारों अङ्गों के सामरस्य के उपर ही अभिनय की कृतार्थता आश्रित है। इस अवसर पर 'लोक का उल्लंघन कथमपि क्षन्तव्य नहीं होता। लोक का अनुगमन ही कवि के लिए आवश्यक होता है। वेष के संबन्ध में भरत का स्पष्ट कथन है कि जिस देश के पात्रों का वर्णन करना अभिमत हो, उस देश का ही वेष दिखलाना चाहिए। इसीलिए विभिन्न प्रान्तीय वेष-भूषा की समग्रता के लिए भरत ने चार प्रकार की 'प्रवृत्ति' मानी है। देश से प्रतिकूल वेष कभी शोभादायक नहीं हो सकता, जैसे गले में मेखला और हाथ में नूपुर का धारण।[१] इस अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि भरतमुनि के 'औचित्य' पद का उल्लेख न करने पर भी वे 'औचित्य तत्त्व' के उद्भावक हैं। इस तत्त्व का व्यापक साम्राज्य उन्होंने नाट्य में दिखलाया है। इन्हीं के सूत्र को पकड़कर परवर्ती आलंकारिकों ने इस तत्त्व की विस्तृत व्याख्या की है।

भामह

भरत के बाद अलंकार-शास्त्रियों की परम्परा में सर्वप्रथम नाम आता है 'भामह' का, अतः अब 'औचित्य' के संबन्ध में भामह के दृष्टिकोण का अध्ययन आवश्यक है।

आलंकारिकों के आगे एक महती समस्या यह थी कि क्या दोष सर्वदा दोष ही रहते हैं? अथवा किसी-किसी अवस्था में दोषत्व से मुक्त होकर वे गुण कोटि में भी आ जाते हैं?

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इस विषय का सुन्दर विवेचन किया है। वे कहते हैं कि रस आदि को अपकृष्ट करने के कारण कोई दोष होता है। अतः यदि कोई दोष किसी खास रस का अपकर्ष न कर उत्कर्ष ही करे तो उस स्थिति में वह वहाँ दोष नहीं, गुण है। इसीलिए ऐसे दोषों को वे अनित्य दोष मानते हैं। इस तरह के दोषों से भिन्न कतिपय दोष ऐसे भी हैं जो नियमतः सभी रसों को अपकृष्ट करते ही हैं, अतः वैसे दोषों को वे नित्य दोष की संज्ञा देते हैं।

गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥ (ना. शा. १४।६८)

१. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥

इस सूक्ष्म विवेचन का सूत्रपात भामह ने ही किया था। भामह ने अपने काव्यालंकार नामक निवन्ध के प्रथम परिच्छेद में कई दोषों के विषय में विशिष्ट सन्निवेश के कारण दोषत्व से मुक्त होने की वात लिखी है।

सन्निवेश-विशेष के कारण दुष्ट उक्ति भी उसी प्रकार शोभामय हो उठती है जिस तरह माला के मध्य में गुम्फित नील पलाश।[1] 'असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर हो जाती है' यह भी भामह कहते हैं। जिस प्रकार स्वभावतः काला (कुरूप) कज्जल भी कमिनी-नयन-विन्यस्त होने पर शोभा-वर्धक हो जाता है।[2]

आगे चलकर उनका एक और स्पष्ट कथन है कि 'पुनरुक्ति' दोष अवश्य है परन्तु भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय आदि भावों से चित्त के आक्षिप्त होने पर पुनरुक्ति दोष नहीं है।[3]

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि औचित्य होने के कारण ही भयादि के अवसर पर 'पुनरुक्ति' का दोषत्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार भामह ने भी औचित्य-तत्त्व की ओर संकेत किया है।

दण्डी

आचार्य दण्डी के विचारानुसार प्रत्येक दोष किसी विशिष्ट स्थिति में ही दोष कहा जा सकता है। जैसे अपार्थ दोष पागल के वकवाद, वालक के आलाप तथा अस्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति के प्रलाप को पुष्ट करने के कारण, उनके वर्णन में गुण हो जाते हैं।[4]

इसी तरह सामान्यतः दोषरूप में स्वीकृत परस्पर-विरुद्धार्थक वाक्यस्थलीय

---

१. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव। (का. अ. १।५४)

२. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ता-विलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ (का. अ. १।५५)

३. भयशोकाभ्यसूयासु, हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ-गच्छेति, पुनरुक्तं न तद्विदुः॥ (का. अ. ४।१४)

४. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्त-मत्त-बालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥ (का. आदर्श ४।५)

'व्यर्थ' नामक दोष भी किसी वस्तु के प्रति अत्यधिक आसक्ति के प्रसङ्ग पर गुण-कोटि में आ जाता है ।[1]

देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम से यदि विरोध हो तो वह काव्य-दोष माना गया है। परन्तु कवि कौशल के कारण उस तरह का विरोध भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है, ऐसी मान्यता दण्डी की है ।[2]

दण्डी के पूर्वोक्त दोषविषयक विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें औचित्य-तत्त्व का पर्याप्त परिचय था। कारण, उनके कथन का सारांश यही ज्ञात होता है कि अनुचित स्थान पर सन्निवेश के कारण ही दोष की दोषता है और उचित स्थान पर निवेश के कारण दोषों का दोषत्व-परिहार हो जाता है।

यशोवर्मा

यशोवर्मा कन्नौज के अधिपति थे। वे लक्ष्मीपूजक होने के साथ-साथ सरस्वती के सहृदय उपासक भी थे। महाकवि भवभूति और प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' के निर्माता वाक्पतिराज इन्हीं के आश्रय में रहकर अपनी अमरकृति की रचना करने में समर्थ हुए थे। 'गउडवहो' में इन्हीं यशोवर्मा का वर्णन किया गया है। यशोवर्मा स्वयं भी कवि थे। इनका 'रामाभ्युदय' नाटक यद्यपि आज उपलब्ध नहीं होता, परन्तु उस नाटक का उद्धरण साहित्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। संभवतः इसी नाटक की प्रस्तावना से भोजराज ने 'शृङ्गार-प्रकाश' में निम्न निर्दिष्ट पद्य उद्धृत किया है।[3]

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः ।

---

१. अस्ति काचिदवस्था सा, साभिषङ्गस्य चेतसः ।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती ।। (का. आदर्श ४।१०)

२. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।। (का. आदर्श ४।५७)

३. 'ध्वन्यालोक-लोचन' से यह पद्य यशोवर्मा-रचित प्रमाणित होता है। 'कथामार्गे न चातिक्रमः' को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने अपनी टीका (लोचन) में इस पद्य को यशोवर्मा के 'रामाभ्युदय' नाटक का माना है।

शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रोढिश्च शब्दार्थयो-
र्विद्वद्भिः परिभाव्यतामविहितैरेतावदेवास्तु नः ॥"

—शृङ्गारप्रकाश भाग २

यशोवर्मा ने इस श्लोक में नाटक के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए जिस वस्तु की प्रथम चर्चा की है, वह है वचनौचित्य, अर्थात् नाटक के पात्रों का कथन उन पात्रों की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। साहित्य में 'औचित्य' पद का यह प्रथम प्रयोग है। इससे पूर्व इस पद का प्रयोग इस अर्थ में प्राप्त नहीं होता।

भट लोल्लट

नाट्यशास्त्र के मान्य टीकाकार तथा रस के सम्बन्ध में स्वतन्त्र मत के संस्थापक भट्ट लोल्लट के तीन पद्यों को राजशेखर, हेमचंद्र एवम् नमिसाधु ने उद्धृत किया है जिनमें औचित्य-सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है। भट्ट लोल्लट कहते हैं कि—"अर्थ-समूह अनन्त है, परन्तु काव्य में रसमय अर्थ का ही वर्णन उचित है, नीरस का नहीं। काव्य में मज्जन, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होने पर भी प्रकृतरसानुकूल ओर अनतिविस्तृत ही करना चाहिए। नदी, पहाड़, समुद्र, गज, तुरग, नगर आदि के वर्णन करने में जो महान् यत्न भिन्न-भिन्न कवियों के द्वारा किया जाता है उससे उन कवियों की शक्तिशालिता भले ही प्रथित होती हो, पर उससे प्रबन्ध-काव्य में किसी प्रकार की रुचिरता नहीं आती। इसी प्रकार यमक आदि का महाकाव्य में निबन्ध कवि के अभिमानमात्र का सूचक होता है, काव्यगत प्रमुख रस का उससे पोषण नहीं होता।"[1] सारांश यह कि लोल्लट की दृष्टि में महाकाव्य के मुख्य रस और उसके विभिन्न अङ्गों में पूर्ण समरसता अवश्य होनी चाहिए। यह रसौचित्य का एक प्रकार ही तो है।

रुद्रट

औचित्य का इतिहास लिखते समय आचार्य रुद्रट भुलाये नहीं जा सकते।

---

१. (क) "अस्तु नाम निस्सीमा अर्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तः, न तु नीरसस्य" इति आपराजितिः, यदाह—

मज्जन-पुष्पावचयन-सन्ध्या-चन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसेनान्वितं रचयेत् ॥

यद्यपि अलंकार-युग के ही अन्तिम आचार्य रुद्रट हैं, अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' रक्खा और उसमें प्रधानतया अलंकारों का ही विवेचन किया तथापि वे इस सिद्धान्त से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। रस के साथ अलंकारों का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए इसका विवेचन भी रुद्रट ने अतिसूक्ष्म पद्धति से किया हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में जिस सिद्धान्त का पल्लवन किया है उसका उल्लेख—सूत्ररूप में ही सही पर—काव्यालंकार में है अवश्य। काव्य में वे ही अलंकार ग्राह्य हैं जो प्रकृत रस का पोषण करते हों। इस तथ्य का उन्मीलन रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में किया है जिससे औचित्यविषयक उनकी धारणा उच्चतर ज्ञात होती है। काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में अनुप्रास अलंकार की पाँच जातियों का विवरण देने के अनन्तर काव्य में उनके प्रयोग का वर्णन रुद्रट ने किया है। इस प्रसङ्ग पर उन्होंने औचित्य को ही प्रधान कसौटी मानी है।

काव्य में औचित्य के आधार पर ही अनुप्रास का प्रयोग होना चाहिए। रुद्रट ने ठीक ही कहा है—

> एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थाम्।
> मिश्राः कवीन्द्रै रचनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥

काव्यालंकार २।३२

यही है रसौचित्य का सिद्धान्त। रुद्रट के इस पद्य के 'गृहीतमुक्ताः' अंश के आधार पर ही आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में आवश्यकता के अनुसार अलंकार के ग्रहण तथा त्याग की व्यवस्था 'काले च ग्रहणत्यागौ' लिख कर की है।

(ख) यस्तु सरिदद्रिसागर-पुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह॥
(ग) यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा॥

इन तीनों पद्यों में से प्रथम दो पद्यों को राजशेखर ने काव्यमीमांसा के नवम अध्याय में 'आपराजिति' नामक आचार्य के नाम से उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में अन्तिम दो पद्यों को भट्ट लोल्लट के नाम से उद्धृत किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भट्ट लोल्लट का ही दूसरा नाम आपराजिति है। सम्भवतः लोल्लट के पिता का नाम अपराजित था।

यमकालंकार का विस्तृत विवरण रुद्रट के ग्रन्थ में मिलता है। परन्तु काव्य में यमक के निवेश को वे कवि-कौशल का कार्य नहीं समझते प्रत्युत कविहृदय की अभिव्यक्ति मानते हैं। औचित्यतत्त्व का पारखी महाकवि ही काव्य में रस-पोषक यमक का निवेश कर सकता है। अनुचित स्थान में सन्निविष्ट होने पर यमक शोभावर्धक नहीं, अपितु गलगण्ड के समान काव्य के वैरूप्य का ही संपादन करता है। इस प्रसङ्ग पर नमिसाधु की टीका दर्शनीय है।[1] भामह आदि के समान रुद्रट ने भी दोषों की गुणवत्त्वापत्ति की चर्चा की है। 'ग्राम्य' दोष अवश्य है किन्तु विशिष्ट अवस्थाओं में इस दोष का ग्राम्यत्व सर्वथा अपहृत हो जाता है और यह गुण कोटि में समाविष्ट हो जाता है।[2]

पुनरुक्ति दोष भी औचित्यवशात् स्थलविशेष में गुण हो जाता है ऐसी मान्यता रुद्रट की है।[3] दोष-प्रकरण का उपसंहार करते हुए रुद्रट ने लिखा है कि सभी दोषों का दोषत्व तब परिहृत हो जाता है जब उसका काव्य अथवा नाटक में केवल अनुकरण किया जाता है। यह सिद्धान्त नितान्त मार्मिक है अत-एव परवर्ती आलंकारिक मम्मट, विश्वनाथ आदि ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में 'अनुकरणे च सर्वेषाम्' लिखकर रुद्रट का अनुगमन किया है। यदि नाटक में किसी मूर्ख का चित्रण करना हो तो उसके असंबद्ध प्रलाप, असमर्थ वाक्य तथा अवाचक पदों का प्रयोग करना ही होगा। अनुकरण के अतिरिक्त इस पात्र के चित्रण का उपाय ही कौन सा है? अतः अनुकरण की दशा में दोषत्व-परिहार

---

१. इति यमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यवद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं, तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना॥

"तथा च वस्तुविषयविभागमालोचयद्भिः यथा कस्मिन् रसे कर्तव्यम्' क्व वा न कर्तव्यम्। यमकश्लेषचित्राणि हि सरसे काव्ये क्रियमाणानि रसखण्डनीं कुर्युः। विशेषतस्तु शृङ्गारकरुणयोः। कवेः किलैतानि शक्तिमात्रं पोषयन्ति न रसवत्ताम्। यदुक्तम् 'यमकानुलोम—गड्डरिकाप्रवाहो वा॥'

(नमिसाधु की टीका)

२. अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद् विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि॥ (क.व्यालंकार ६.२३)

३. वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन् निन्दन्।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात् तत्पुनरुक्तं न दोषाय॥ (का. अ. ६.२९)

समोचीन है। ग्राम्य-दोष का स्वरूप ही रुद्रट के मत से देश, कुल, जाति; विद्या आदि के विषय में व्यवहार, आकार, वेष और वचन का अनौचित्य है।[1]

रुद्रट के मत की उक्त समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य में सब से अधिक व्यापक तत्त्व औचित्य ही है। इसके अपकर्षक होने पर ही दोषों का दोषत्व सम्पन्न होता है और अवस्था-विशेष में रस की अनुकूलता होने पर वे ही हेय दोष उपादेय गुण के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अनुकरण दोषों के दोषत्व को दूर करने वाला पदार्थ है और वह औचित्य के ऊपर ही निर्भर है।

आनन्दवर्धन

रुद्रट के बाद औचित्य-सिद्धान्त के विकास में प्रमुख स्थान है आचार्य आनन्दवर्धन का। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में औचित्यतत्त्व का व्यापक समीक्षण किया है। ध्वन्यालोक में कहीं औचित्य शब्द के प्रयोग द्वारा व्यापक रूप में और कही संकेत रूप में इस तत्त्व की विशद अभिव्यक्ति हुई है। आनन्दवर्धन से प्राचीन आलंकारिकों ने अलंकार-शास्त्र के कतिपय प्रकीर्ण अङ्गों के विषय में ही औचित्यतत्त्व का विवेचन किया था पर आनन्दवर्धन ने अलंकार-शास्त्रीय सभी अङ्गों के साथ घनिष्ठ संबन्ध दिखला कर औचित्य को काव्य के व्यापक अथ च महनीय तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन के ही विचारों से स्फूर्ति ग्रहण कर अपने विख्यात ग्रन्थ औचित्यविचारचर्चा में इस तत्त्व का पल्लवन किया है। औचित्यविचार-चर्चा के मूल स्रोत को जानने के लिए ध्वन्यालोक का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

आनन्दवर्धन रस को ही काव्य का सारभूत पदार्थ मानते हैं। उनकी सम्मति में यह रस कथमपि वाच्य नहीं हो सकता। ध्वनि के द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। इस रस में सबसे आवश्यक वस्तु है औचित्य। वस्तु अलंकार आदि रस के बाह्य परिधान मात्र हैं।

आनन्दवर्धन ने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ ध्वन्यालोक में अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य और रसौचित्य का विशद निरूपण किया है।

---

१. ग्राम्यत्वमनौचित्यं, व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।
देश-कुल-जाति-विद्या-वित्त-वयःस्थान-पात्रेषु ॥ (का. अ. ११।९)

अलंकाय के बिना अलंकार का स्वतः कोई मूल्य नहीं होता—और काव्य में रस आदि अलंकार्य वस्तु है। अतः रस आदि को पुष्ट करने के लिए अलंकारों का प्रयोग किया जाता है तो अलंकार का अलंकारत्व सिद्ध होता है।[1]

इन अलंकारों के औचित्य-सम्पादन के लिए आनन्दवर्धन ने सुन्दर नियमों का उल्लेख किया है।[2] शब्दालंकारों की रसानुरूपता प्रदर्शित करते समय उन्होंने विप्रलम्भ आदि कोमल रसों के लिए यमकालंकार को सर्वथा त्याज्य माना है। इस सिद्धान्त का मौलिक रहस्य यह है कि कवि के द्वारा काव्य में निबद्ध वस्तु को रस का उद्बोधक अवश्य होना चाहिए।

काव्य में किसी भी वस्तु की उपादेयता तथा अनुपादेयता, संबद्धता और असंबद्धता, सुरूपता और कुरूपता, रस के पोषण तथा शोषण पर ही निर्भर है। रस-पोषक वस्तु ग्राह्य है, परन्तु रस-शोषक सर्वथा वर्ज्य है। अलंकारौचित्य के संबन्ध में उनका कथन अत्यन्त स्पष्ट और हृदयग्राही है। वे कहते हैं कि अलंकारों को इतना स्वाभाविक होना चाहिए कि रसाकृष्ट कवि के किसी विशिष्ट आयास के बिना ही वे स्वतः आविर्भूत हों। वे बाह्य न होकर आभ्यन्तर हों, उनकी रचना के लिए न तो कवि को किसी प्रकार का यत्न करना पड़े और न उनका इतना चाकचिक्य हो कि पाठक प्रकृत रस के सौन्दर्य से हट कर उन्हीं के प्रभाव से आकृष्ट हो जाय।[3]

आनन्दवर्धन गुणों का साक्षात् संबन्ध रस-भावदि से मानते हैं। गुण धर्म है और रस आदि धर्मी। शृङ्गार, विप्रलम्भ और करुणरस के साथ माधुर्य गुण का प्रधान संबन्ध है। रौद्र, वीर और भयानक रस के साथ ओजगुण का घनिष्ठ संपर्क है। ऐसी दशा में शब्द-योजना ऐसी होनी चाहिए कि प्रकृत गुण और रस के साथ उसका सर्वथा सामञ्जस्य हो जाय। वर्णों का अपना एक विशिष्ट प्रभाव होता है। कुछ वर्ण स्वभावतः कोमलता के द्योतक होते हैं तो अन्य वर्ण स्वतः कठोरता को प्रकट करते है। वर्णों की इस प्रकृति को ध्यान में रख कर काव्य में उनका प्रयोग सर्वथा श्लाघनीय होता है।

---

१. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ (ध्वन्यालोक ३।६)

२. ध्वन्यालोक २।१५–२०।

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग् यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ (ध्वन्यालोक २।१०)

शृङ्गार रस में रेफ के साथ संयुक्त सकार और शकार तथा ढकार का अत्यधिक प्रयोग प्रकृत रस के विरोधी होने के कारण नहीं करना चाहिए क्योंकि ये वर्ण रस की हानि करने वाले होते हैं। परन्तु ये ही वर्ण बीभत्स आदि रस में आवश्यक दीप्ति के प्रकट करने के कारण यदि रक्खे जाँय तो वे रस के उत्पादक होते हैं।

प्रथम स्थिति में यदि वर्ण 'रसच्युतः' (रस को च्युत करने वाले) होते हैं—तो द्वितीय स्थिति में ये ही वर्ण 'रसश्च्युतः' (रस के टपकाने वाले) होते हैं।[1]

पदों की विशिष्ट योजना का नाम संघटना है। संघटना प्रायः तीन प्रकार की होती है। १—असमासा, २—मध्यम-समासा और ३—दीर्घ-समासा।[2] गुणों का संघटना के साथ घनिष्ठ संवन्ध है। आनन्दवर्धन ने संघटना को गुणों के आधार पर रहने वाली तथा रसों को अभिव्यक्त करने वाली कहा है।[3]

संघटना के प्रसङ्ग में चार वस्तुओं के औचित्य का विचार करना आनन्द-वर्धन ने आवश्यक बतलाया है। मुख्य तो रस का औचित्य ही है परन्तु उसके साथ वक्ता वाक्य और विषय इन तीन गौण पदार्थों के औचित्य पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

वक्ता का अभिप्राय है काव्य अथवा नाटक के पात्र। वाच्य का अर्थ है प्रतिपाद्य वस्तु तथा विषय का तात्पर्य है नाटक, महाकाव्य, गद्य, पद्य और चम्पू आदि काव्य-प्रकार। संघटना के चुनाव में इन चारों विषयों के औचित्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

---

१. शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसश्च्युतः॥ (ध्वन्यालोक ३।३४)

२. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ (ध्वन्यालोक ३।५)

३. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसास्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥

(ध्वन्यालोक ३।६)

ध्वनिकार का यह कथन सर्वथा सत्य है कि संघटना के इस चतुरस्र औचित्य का विचार सर्वप्रथम उन्होंने ही किया ।[1]

गद्य, पद्य, नाटक तथा महाकाव्य इन काव्य-प्रकारों की अपनी अपनी विशिष्टता होती है, जिस पर ध्यान देने से संघटना का निवेश श्लाघनीय होता है। नाटक का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के हृदय में रस की अभिव्यक्ति ही है । अतः उसमें दीर्घ-समास वाली संघटना तथा शब्दाडम्बर वाले अलंकारों के प्रति कवि को कथमपि आसक्ति नहीं रखनी चाहिए । कारण, इन बाह्य अङ्गों की बहुलता रस की शीघ्र प्रतीति में बाधा डालती है ।[2]

आनन्दवर्धन ने प्रबन्धध्वनि के विवेचन के अवसर पर काव्य तथा नाटक के इतिवृत्त के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षा की है । इतिहास साधारणतः दो प्रकार का होता है—एक वृत्त (पुराण तथा इतिहास आदि में प्रसिद्ध) और द्वितीय उत्प्रेक्ष्य (कविकल्पना-प्रसूत) । दोनों प्रकार के इतिवृत्तों में औचित्य का रहना अत्यन्त आवश्यक है ।[3]

कथानक के संविधानक में वर्णनीय वस्तु को प्रस्तुत रस के अनुकूल बनाने के लिए कवि को सदा सचेष्ट रहना चाहिए । सर्वथा औचित्यपूर्ण तथा यथाशक्ति रसाविर्भावक घटनाओं को ही काव्य में स्थान देना चाहिये । रसाभिव्यञ्जक होने के कारण ही किसी कथा की कमनीयता सिद्ध होती है। परम्परागत किसी कथा के काव्य में निबन्धन करते समय कवि के द्वारा प्रस्तुत रस के प्रतिकूल अंशों का परिवर्तन न्याय्य है ।[4]

---

१. इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी ।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः ।।
(ध्वन्यालोक)

२. एवं च दीर्घसमासा संघटना समासानामनेकप्रकारसंभावनया कदाचित् रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते । विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये । (ध्वन्यालोक)

३. विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य च ।। (ध्वन्यालोक)

४. इतिवृत्तिवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्ट रसोचितकथोन्नयः ।। (ध्वन्यालोक)

प्रबन्धौचित्य के विषय में आनन्दवर्धन के सिद्धान्त अत्यन्त मार्मिक हैं। इस सिद्धान्त के उल्लंघन से १—अङ्ग का अतिविस्तार, २—अङ्गी का अननुसन्धान, ३—अनङ्गकीर्तन, और ४—प्रकृतिविपर्यय—इन चार रस-दोषों की संभावना, सदा बनी रहती है।

आनन्दवर्धन ने प्रकृति के औचित्य और अनौचित्य के विवेक की सीमा ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में बड़ी मार्मिकता के साथ दिखलाई है। इसी प्रसङ्ग पर—

"अनौचित्यादृते नान्यद्, रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥"

इस कारिका की अवतारणा उन्होंने की है। इसका अर्थ है कि अनौचित्य ही रस के विनाश का सब से बड़ा हेतु है और औचित्य का समावेश ही रस का उत्कृष्ट उपाय है।

औचित्यतत्त्व का सुन्दरतम उपादेय मन्त्र यही है। औचित्यसिद्धान्त का विशाल प्रासाद इसी तथ्य की दृढ़ भित्ति पर खड़ा है। परवर्ती आलंकारिकों ने औचित्य-सिद्धान्त की जितनी व्याख्या की है वह सब इस मूल सूत्र का भाष्य-मात्र है।

ध्वन्यालोककार ने रीति तथा वृत्ति के औचित्य का भी विचार किया है। उनका कथन है कि भरतमुनि के द्वारा प्रदर्शित कैशिकी आदि वृत्ति अथवा उपनागरिका आदि रीतियाँ अनुचित रूप से निबद्ध होने पर रसभङ्ग का कारण बनती हैं।[1] वृत्ति के विषय में उनका युक्तियुक्त कथन यह है कि रस आदि की अनुकूलता के अनुसार शब्द और अर्थ का औचित्यपूर्ण व्यवहार ही द्विविध वृत्ति-नाम से अभिहित होता है।[2]

रसौचित्य-तो ध्वन्यालोक का मुख्य विषय ही है। मुख्य रस का विवेचन किस प्रकार से होना चाहिए? अङ्ग रस किस प्रकार मुख्य रस का पोषक होता है? रसों में पारस्परिक विरोध किस प्रकार होता है? कौन रस किस रस के साथ किस विधि से निबद्ध होने पर अपनी विरुद्धता का परित्याग करता है—

१. यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तर-प्रसिद्धानाम् उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुः।

(ध्वन्यालोक तृ० उ०)

२. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् य स्ता एव वृतयो द्विविधाः स्मृताः॥ (ध्वन्यालोक ३।३३)

रसौचित्यविषयक इन मार्मिक सिद्धान्तों की समीक्षा ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में विस्तार के साथ की गई है।

अन्त में आनन्दवर्धन ने कवियों को उपदेश करते हुए कहा है कि वाच्य तथा वाचक (अर्थ तथा शब्द) की रसानुकूल औचित्यपूर्ण योजना ही महाकवियों का मुख्य कर्म है।[1]

अभिनवगुप्त

औचित्य-तत्त्व के विश्लेषण करने में अभिनवगुप्त का भी प्रमुख स्थान है और ऐसा होना सुसंगत भी है, क्योंकि अभिनवगुप्त औचित्य-सिद्धान्त के व्यवस्थापक आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के भाष्यकार हैं और औचित्य को काव्य-जीवित मानने वाले क्षेमेन्द्र के साहित्यिक गुरु हैं। ध्वन्यालोक में प्रतिपादित औचित्य-पोषक तथ्यों तथा तर्कों को सम्यक् रूप से समझने के लिये अभिनवगुप्त-रचित 'लोचन' टीका का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

आनन्दवर्धन ने जिस अलंकारौचित्य का वर्णन अपने निबन्ध में किया है उसका स्पष्टीकरण करते हुए लोचनकार का कथन है कि काव्य में अलंकारों का उपयोग दो अवस्थाओं में नहीं हो सकता है—१—जब किसी अलंकार्य की सत्ता ही न हो अथवा २—अलंकार्य की सत्ता रहने पर भी अलंकार का औचित्य नहीं हो। शरीर में आत्मा के विद्यमान रहने पर ही आभूषणों से शोभा-सम्पादन किया जाता है। परन्तु यदि आत्मा ही विद्यमान नहीं हो तो बाह्य आभूषणों का संभार मृतक शरीर को भूषित करने वाले प्रसाधन के समान है।

इसी तरह बैरागी के शरीर को सोने के आभूषणों से आभूषित करना अनुचित होने के कारण उपहासास्पद है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त की सम्मति में काव्य के प्राणभूत रस आदि के अभाव में अलंकारों का अलंकारत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता और रस आदि रहने पर भी अनुचित अलंकार भूषक न होकर दूषक ही होते हैं।[2]

काश्मीरी आलोचकों के समाज में वक्रोक्ति के समान औचित्य भी व्यापक

---

१. वाच्यानां, वाचकानाञ्च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतद् मुख्यं कर्म महाकवेः॥ (ध्वन्यालोक ३।३२)

२. तथा ह्यचेतनं शवशरीरं कटककुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्। (लोचन)

काव्य-तत्त्व के रूप में प्रायः बहुत पहले ही आविर्भूत हो चुका था। अलंकार के परिशीलन से वक्रोक्ति की उत्पत्ति हुई और रसध्वनि के अध्ययन से औचित्य का उदय हुआ। ध्वन्यालोक में औचित्य-तत्त्व के साङ्गोपाङ्ग निरूपण से अनेक आलोचकों की दृष्टि रस से हट कर औचित्य पर जा जमी। वे लोग काव्य में रस के महत्त्व को न मानकर औचित्य को ही काव्य की आत्मा कहने लगे। अभिनवगुप्त का ज्ञान किये बिना औचित्य पद का प्रयोग अत्यन्त असंगत है।

औचित्य का तात्पर्य तभी बोधगम्य हो सकता है, जब जिसके प्रति इसे उचित बतलाया जाय वह वस्तु भी वर्तमान हो। औचित्य तो एक संबन्ध-विशेष ठहरा और उस वस्तु का ज्ञान हमें प्रथमतः अपेक्षित है जिसके साथ यह संबन्ध स्थापित किया जा सके। यह आवश्यक वस्तु रस आदि ही है। रस आदि के बिना औचित्य की सत्ता का प्रतिपादन कोई मूल्य नहीं रखता। रस तथा ध्वनि के साथ औचित्य का प्रगाढ संबन्ध है। इसका निर्देश अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में किया है।[१]

इस प्रकार रस और ध्वनि के साथ औचित्य के संबन्ध को स्थिर करने के कारण अभिवगुप्त सदा साहित्य-जगत् में अमर रहेंगे इसमें संदेह नहीं।

भोजराज

'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' ये दो भोजकृत अलंकारशास्त्रीय विशाल निबन्ध परमप्रसिद्ध हैं। यद्यपि इन दोनों निबन्धों में कहीं भी स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में औचित्य का उल्लेख भोजराज ने नहीं किया है, तथापि गौणरूप से औचित्य-सिद्धान्त उनके ग्रन्थों में वर्तमान है यह कथा निस्सन्दिग्ध रूप में कही जा सकती है। कारण, उनके ग्रन्थों में दोष, गुण तथा अलंकार के निरूपणप्रसङ्ग में ऐसे अनेक भेद बतलाये गए हैं जिनका मूल आधार यह 'औचित्य' ही है।

१—'अपद' नामक एक स्वतन्त्र दोष भोज ने माना है।[२] इनके मत में पद छह प्रकार के होते हैं—प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, ग्राम्य, नागर तथा उपनागर।

---

१. औचित्यवती (अतिशयोक्तिः) जीवितमितिचेद् औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किञ्चिदस्ति इति। तदेवान्तर्भासि मुख्यं जीवितम् इत्यभ्युपगन्तव्यम्, न तु सा। (लोचन)

२. त्रिभिन्नप्रकृतिस्थादिपदयुक्त्यपदं विदुः। (स. कण्ठा. १।२४)

काव्य अथवा नाटक में वक्ता के अनुरूप ही पद होना चाहिए। ग्रामीण वक्ता के द्वारा प्रयोग करने योग्य पदों का प्रयोग नागर वक्ता के द्वारा किया जा अत्यन्त अरुचिकर है। ऐसा दोष 'अपद' कहलाता है।

२--वाक्यार्थ-दोषों में जिस 'विरस' नामक दोष की चर्चा भोज ने की वह रसानौचित्य का एक प्रकार है। स्वयं भी वे उस दोष को अप्रस्तुत रस संज्ञा देते हैं। रत्नेश्वर ने (भोज के टीकाकार) इस स्थल पर आनन्दवर्ध प्रसिद्ध पद्य "अनौचित्यादृते नान्यत्" को अपनी टीका में उद्धृत किया है।

३--देश-विरोध, काल-विरोध, लोक-विरोध, अनुमान-विरोध आदि भेदों वाला उनका 'विरुद्ध' नामक दोष अनौचित्य के ऊपर ही अवलंबित है अनुमान-विरोध के अन्तर्गत औचित्यविरुद्ध नामक एक नवीन दोष की उन्हें कल्पना की है।[1]

४--भोज के ग्रन्थ में वर्णित 'भाविक' नामक शब्दगुण का भी आधार औचित्य ही ज्ञात होता है। कारण "हे पूर्णचन्द्रस्वरूप, वत्स, रघुनन्दन, आ आओ। मैं तेरे माथे पर अपना चुम्बन अङ्कित करूँगा और चिरकाल तक आलिङ्गन करूँगा अथवा अपनी छाती से लगाकर दिन रात तेरा वहन करूँग अथवा तेरे चरणकमलयुगल की वन्दना करूँगा।[2]" एवदर्थक पद्य को उक्त के उदाहरण रूप में उद्धृत कर भोज ने कहा है कि अत्यधिक आह्लाद के का वयोवृद्ध जन के द्वारा अपने से कनिष्ठ जन की चरण-वन्दना भी अनुचित समझी जाती।

५--भोज ने भी रुद्रट आदि प्राचीन आलंकारिकों के समान अपने में उन स्थितियों का प्रतिपादन किया है जब दोष दोषत्व से मुक्त हो जात अथवा गुण रूप में परिणत हो जाता है। भोज ने इसको 'वैशेषिक गुण' 'दोषगुण' की संज्ञा प्रदान की है। कवि-कौशल के कारण दोष भी कहीं औचित्य-सीमा के अन्तर्गत हो कर गुण-कोटि में आ जाता है--यह भोजरा भी स्वीकार किया है। वाक्य के सम्मिलित अर्थ के अभाव में 'अपार्थ' व

---

१. युक्त्यौचित्य-प्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन।
अनुमानविरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते॥

२. एह्येहिवत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र ! चुम्बामि मूर्धनि चिरं च परिष्वजे त्वा
आरोप्य वाऽपि च दिवानिशमुद्वहामि, वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं
(स. कण्ठा. १।७

दोष है, पर मत्त तथा बालक आदि की उक्ति में यह दोष नहीं माना जा सकता[1], क्योंकि यहाँ औचित्य की हानि नहीं होती।

६--औचित्यतत्त्व पर आश्रित अनेक अलंकारों का भी वर्णन भोजराज ने अलंकार प्रकरण में किया है। शब्दालंकार के मध्य में 'जाति' नामक एक अलंकार का निर्देश उन्होंने किया है। शब्दालंकाररूप यह 'जाति' संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं का विशिष्ट प्रकार है, जिसका उचित अवसरों पर उचित प्रयोग कविकौशल का मुख्य प्रमाण है। अवसरविशेष पर तथा वस्तुविशेष के लिये तदनुरूप भाषा का प्रयोग करना चाहिए। विषय, वक्ता, देश और काल के औचित्य पर दृष्टि रख कर ही भाषा का प्रयोग कवि के लिये सर्वथा समीचीन होता है। अवसरविशेष पर ही विभिन्न भाषाओं का चमत्कार सहृदयों के हृदय में आनन्द का उन्मेष करता है। यज्ञ के समान पवित्र अवसरों पर संस्कृत भाषा का ही प्रयोग उचित है। स्त्रियों के मुख से प्राकृत भाषा का ही प्रयोग न्याय्य है। कुलीन जनों के लिये संकीर्ण भाषा का प्रयोग गौरवाधायक नहीं होता। मूर्ख जनों को समझाने के लिये संस्कृत में भाषण उपहासास्पद होता है।[2] भाषा के प्रयोग में प्रतिपाद्य विषय के औचित्य पर भी ध्यान देना चाहिए। अतएव भोज ने कहा है कि कोई अर्थ संस्कृत के ही द्वारा प्रतिपाद्य हो सकता है तो कोई प्राकृत के द्वारा और कोई अपभ्रंश के द्वारा।[3]

कितना गिनाया जाय? और भी बहुत ऐसी मान्यतायें भोजराज की हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि भोजराज की दृष्टि में भी औचित्य एक आवश्यक काव्योपादान है।

कुन्तक

कुन्तक का "वक्रोक्तिजीवित" मौलिकता तथा प्रौढता के कारण संस्कृत के

---

१. विरोधः सकलेष्वेव कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥ (१।१५६)
समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं प्रचक्षते।
तन्मत्तोन्मत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥ (१।१३६)

२. न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ, स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु, नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम्॥ (२।८)

३. संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः, प्राकृतेनैव वा परः।
शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥ (२।१०)

अलंकार ग्रंथों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके अनुसार वक्रोक्ति हो—लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध शैली से भिन्न शैली द्वारा शब्दार्थों का वैचित्र्यपूर्ण कथन—काव्य में सबसे सारभूत पदार्थ है। इस वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानने के कारण ही इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से प्रसिद्ध है।

कुन्तक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रता है, किन्तु वक्रता का मूल आधार औचित्य ही है, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि "पादवक्रता का रहस्य है पद का औचित्य। कारण, उचित (यथानुरूप) कथन ही (वक्रता का) जीवन है। वक्तव्य अर्थ के एक अंश में भी औचित्य के अभाव से काव्य-मर्मज्ञों को आह्लादित करना संभव नहीं है।"[1] कुन्तक ने अपने काव्य-लक्षण में भी औचित्य को आधारभूत तत्त्व माना है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

यही उनका काव्य-लक्षण है। यहाँ काव्य के आधार रूप में शब्दार्थ का 'साहित्य' स्वीकृत किया गया है और 'साहित्य' से कुन्तक का अभिप्राय निश्चित रूप से शब्द और अर्थ का पूर्ण सामञ्जस्य ही है, क्योंकि "समर्थ" शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। इसी प्रकार शब्द भी वाक्योपयोगी अर्थ के अभाव में अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भार-सा प्रतीत होता है"[2] ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है। इस कथन से स्पष्ट है कि 'साहित्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ का उचित सहभाव अथवा संबन्ध।

कुन्तक के अनुसार मार्ग (रीति) तीन प्रकार के होते हैं—सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम। इन तीनों मार्गों में समान रूप से रहने[3] वाले दो

---

१. तत्र पदस्य तावदौचित्यं वक्रतायाः परं रहस्यम्, उचिताभिधानजीवित्वात्। वाच्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः।

(१ उन्मेष ५७वीं कारिका की वृत्ति)

२. तथा चार्थः समर्थवाचकासद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते। शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासंभवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रतिभाति। (१।७ वीं कारिका की वृत्ति)

३. एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥ (१।५७)

सामान्य गुणों का उल्लेख कुन्तक ने किया है। इन दोनों गुणों के नाम क्रमशः औचित्य और सौभाग्य रक्खे गए हैं। औचित्यगुण की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि--"जिस स्पष्ट वर्णन-प्रकार के द्वारा स्वभाव के महत्त्व का पोषण होता है वही औचित्य नामक गुण है, इसका मूल है उचित आख्यान अर्थात् यथानुरूप कथन[1]।"

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि कुन्तक औचित्य को सबसे व्यापक काव्य-तत्त्व मानते हैं। इतना ही नहीं, वक्रोक्ति के अवान्तर भेदों में भी वे औचित्य को आधार स्वीकार करते हैं।

वर्णविन्यास-वक्रता के विवेचन में कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है कि वक्रतापूर्ण वर्णयोजना अनिवार्यरूप से प्रस्तुतौचित्यशोभिनी होती है--अर्थात् काव्य में वर्णों का विन्यास प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुरूप ही होना चाहिए, उससे स्वतन्त्र नहीं[2]। इसी प्रकार पद-पूर्वार्ध-वक्रता तथा प्रत्ययवक्रता के अनेक प्रमुख भेद भी औचित्यमूलक ही हैं :—(१) पर्यायवक्रता का आधार है उचित पर्याय का चयन अथवा पर्यायौचित्य, (२) विशेषणवक्रता का आधार है उचित विशेषण का निर्वाचन, (३) वृत्तिवक्रता में समासरचना का औचित्य अपेक्षित होता है और (४) लिङ्गवक्रता का आधारभूत सौन्दर्य लिङ्गप्रयोग के औचित्य पर ही आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्ययवक्रता के भी प्रमुख भेदों में कारक, पुरुष, संख्या, काल, उपग्रह आदि के औचित्य का ही चमत्कार वर्तमान रहता है। वक्रता का चतुर्थ भेद है वाक्यवक्रता जिसके दो रूप हैं :--(१) वस्तुवक्रता, अर्थालंकार। इन दोनों में भी कुन्तक ने औचित्य को ही प्रमाण माना है। वस्तुवक्रता के प्रसङ्ग में एक स्थान पर कुन्तक ने औचित्य को वस्तुवर्णन का आधारभूत अनिवार्य सिद्धान्त घोषित किया है। स्वभावोक्ति का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा है—"स्वभाव के (स्वरूप के) कथन के बिना वस्तु का वर्णन ही संभव नहीं हो सकता क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु निरुपाख्य

---

१. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ (१।५३)

२. वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाद्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्चरादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥ (२।२)

(असत्कल्प) हो जाती है[१] ।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्वभावकथन क्षेमेन्द्र के 'सदृशं किल यस्य यत्' अर्थात् यथानुरूप वर्णन से मूलतः अभिन्न है। ऐसे ही अर्थालंकार के प्रयोग में भी औचित्य ही प्रमाण है । कुन्तक के मत से अलंकारों का वर्ण्य-विषय के अनुरूप उचित प्रयोग ही वांछनीय है, क्योंकि उनके विचार से "वाच्य अलंकार उपमा आदि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता । कारण यह है कि उससे स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है[२] ।"

यह अनधिक प्रयोग वास्तव में अलंकारौचित्य का ही दूसरा नाम है । इसके अतिरिक्त दीपक आदि कतिपय अलंकारों के प्रसङ्ग में कुन्तक ने औचित्य का स्पष्ट उल्लेख भी किया है—"औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) पदार्थों के अप्रकट अर्थात् प्रतीयमान धर्म को प्रकाशित करने वाला अलंकार दीपक है[3] ।" अन्त में प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता के प्रसङ्ग में भी कुन्तक ने अनेक प्रकार से औचित्य की स्तुति की है । उदाहरण के लिए प्रबन्धवक्रता का एक प्रमुख भेद है उत्पाद्यलावण्य, जिसके दो रूप हैं :—(१) अविद्यमान की कल्पना (२) विद्यमान का संशोधन । इन दोनों वक्रताभेदों का आधार स्पष्ट रूप से औचित्य-कल्पना ही है । कवि अपनी प्रसिद्ध कथा के अनौचित्य के परिहार और औचित्य के संरक्षण के निमित्त ही उपर्युक्त चमत्कारपूर्ण पद्धतियों का प्रयोग करता है । कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है । "उत्पाद्यलावण्य के दो रूप हैं—(१) अविद्यमान की कल्पना और (२) सहृदय के आह्लाद के निमित्त औचित्यरहित विद्यमान का अन्यथा प्रतिपादन[४] ।" उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति तथा औचित्य में घनिष्ठ संबन्ध है ।

---

१. स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
   वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ।। (१।१२)

२. तदिदमुक्तं भवति यदेवंविधे भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालंकाराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता संभवति, स्वभावसौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसङ्गात् । ३।१ कारिका की वृत्ति ।

३. औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम् ।
   अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तु दीपकम् ।। (३।१७)

४. उत्पाद्यलावण्यमिति द्विधा व्याख्येयम् । क्वचिदसदेव ोत्पाद्यम् अथवा

महिमभट्ट

यद्यपि महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के द्वारा स्थापित ध्वनि-पदार्थ का खण्डन कर रस आदि व्यङ्ग्य अर्थों को अनुमेय सिद्ध करने के उद्देश्य से अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ व्यक्तिविवेक का निर्माण किया है, तथापि इस मुख्य विषय के उपपादन-क्रम में अनेक काव्य-सिद्धान्तों का उल्लेख उन्होंने किया है। ऐसी स्थिति में यदि हम काव्यसम्बन्धी व्यापक तत्त्व औचित्य का भी विश्लेषण व्यक्तिविवेक में पाते हैं तो यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। व्यक्तिविवेककार ने प्रसङ्गवश एक जगह लिखा है कि—"औचित्य एक ऐसा काव्यतत्त्व है को काव्य-स्वरूप के निरूपण की महिमा से स्वतःसिद्ध है, अतः पृथक् उसकी चर्चा व्यर्थ है। विभाव, अनुभाव और संचारीभाव का वर्णन करना ही कवि का कर्तव्य है, दूसरा नहीं। वे ही विभावादि शास्त्रानुसार कवि के द्वारा उपनिबद्ध होने पर रसाभिव्यक्ति के हेतु होते हैं, अन्यथा नहीं। काव्य की आत्मा है रस, फिर उसमें अनौचित्य के स्पर्श की संभावना भी कैसे हो सकती है? जब अनौचित्य की काव्य में संभावना ही नहीं तब उसको हटाने के लिये जो पण्डितगण भिन्न-भिन्न तरह के काव्यलक्षणों की सृष्टि करते हैं वह सर्वथा व्यर्थ है[१]। इस प्रतिपादन से सिद्ध होता है कि महिमभट्ट काव्य में औचित्य के समर्थक थे। प्रसङ्गान्तर्गत उनकी उक्तियों से भी इस बात की पुष्टि होती है। महिमभट्ट का दोषविवेचन बड़ा प्राञ्जल है। इस प्रसङ्ग पर उन्होंने कहा है कि "अनौचित्य ही काव्य का एकमात्र सर्वातिशायी दोष है जिसके अन्तर्गत समस्त दोषों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। अनौचित्य का सामान्य लक्षण है कवि के द्वारा वाञ्छित रस आदि की प्रतीति में विघ्नकारी होना[२]।" आगे चलकर

आहृतम्, क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथासम्पाद्यम् सहृदयहृदयाह्लादनाय। (४।४ वी कारिका की वृत्ति।)

१. तस्य (अनौचित्यस्य) काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादान-वैयर्थ्यात्। विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कविव्यापारो नापरः। ते च यथाशास्त्र-मुपनिबध्यमानारसाभिव्यक्तेर्निबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा। रसात्मकं च काव्य-मिति कुतस्तत्रानौचित्यस्पर्शः संभाव्यते, यन्निरासार्थमित्थं काव्यलक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणम्मन्याः। (व्य० वि० पृ० १२६)

२. एतस्य (अनौचित्यस्य) विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। (व्य. वि., उन्मेष २, पृ. १५२)

पुनः उन्होंने कहा है कि—"दो प्रकार के अनौचित्य काव्य में हो सकते हैं—(१) अर्थविषयक और (२) शब्दविषयक। उन दोनों में प्रथम—अर्थात् अर्थविपयक अनौचित्य का लक्षण है विभावादिकों का रसों में अयथायथ (प्रतिकूलतापूर्ण) निवेश। यही अनौचित्य अन्तरङ्ग है और इसका विवेचन प्राचीन आचार्यों ने ही कर दिया है, अतः मैं अपने ग्रन्थ में उसका विस्तार नहीं करना चाहता।

दूसरा—अर्थात् शब्दविषयक अनौचित्य के बहुत प्रकार हो सकते हैं, जैसे—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन[1]।

रस तथा औचित्य के विषय में महिमभट्ट आनन्दवर्धन के ही अनुयायी हैं। आनन्दवर्धन के समान महिमभट्ट ने भी अनौचित्य को प्रधान दोष स्वीकार किया है। समग्र दोष रस के व्याघातक होते हैं। इसीलिये महिमभट्ट ने रसानौचित्य अन्तर्गत समस्त दोष प्रकरण का समावेश कर दिया है[2]। इन सभी विवेचनों से वही एक बात पुष्ट होती है कि महिमभट्ट के भी विचारानुसार औचित्य काव्य का सर्वातिशायी उपादान है।

क्षेमेन्द्र

ऐतिहासिक क्रम से महिमभट्ट के बाद ही औचित्य के आधार पर एक नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस धराधाम में पदार्पण किया और अमरभारती के भण्डार को विविध ग्रन्थरत्नों से परिपूर्ण करने में अपने जीवनकाल का उपयोग किया। औचित्यविचारचर्चा इन्हीं की अमर कृति है।

---

१. इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्, अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणाम् अयथायथं रसेषु यो विनियोगः तन्मात्रलक्षणमेक-मन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। अपरं पुनः बहिरङ्गं बहुप्रकारं संभवति। तद्यथा विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं, वाच्यावचनञ्चेति।

(व्य० वि०, उ० २ पृ० १४९–५१)

२. कथञ्चिद्वा भिन्नक्रमतयापि अभिमतार्थसंबन्धोपकल्पने प्रस्तुतार्थप्रतीतेः विघ्नितत्वात् तन्निबन्धनो रसास्वादोऽपि विघ्नितः स्यात्, शब्ददोषाणाम् अनौचित्योपगमात् तस्य च रसभङ्गहेतुत्वात्। यदाहुः—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (व्य० पृ० १३३)

यद्यपि औचित्यतत्त्व की उद्भावना सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा इसी ग्रन्थ में नहीं हुई, अपि तु चिरकाल से सभी आचार्य अपने-अपने ग्रन्थों में थोड़ी-बहुत चर्चा इस तत्त्व की अवश्य कर गए थे तथापि इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मुख्यरूप से औचित्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इसी ग्रन्थ में आकर हुआ और औचित्य-सम्प्रदाय का उदय साहित्य-संसार में इस ग्रन्थरत्न के निर्माण हो चुकने पर ही हुआ।

अतः क्षेमेन्द्र विदग्ध मण्डली में औचित्य के व्यवस्थापक होने से चिरस्मरणीय रहेंगे। औचित्यतत्त्व को काव्य के सर्वातिशायी उपादान के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय विज्ञ आलोचकवर्ग सदा क्षेमेन्द्र को प्रदान करता रहेगा।

क्षेमेन्द्र से पश्चाद्भावी आलङ्कारिक

यद्यपि साहित्यिक जगत् के लिये एक प्रकार से इसे दुर्भाग्य का ही विषय समझा जा सकता है कि क्षेमेन्द्र के द्वारा प्रवर्तित औचित्य-सम्प्रदाय को किसी अनन्तर्भावी आचार्य ने अग्रसर नहीं किया, तथापि औचित्यतत्त्व का अपलाप किसी ने नहीं किया है। मम्मट[1] से लेकर पण्डितराज तक की आलंकारिक परम्परा ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में किसी न किसी रूप से इस तत्त्व के प्रति आस्था अवश्य प्रकट की है। खासकर दोषविवेचन के अवसर पर सभी ने औचित्य का, निषेधमुखेनैव सही, पर स्मरण अवश्य किया है। यद्यपि यह बात कही जा सकती है कि औचित्यतत्त्व का स्मरण करते समय इन आचार्यों के मानसपटल पर, क्षेमेन्द्र नहीं, अपितु आनन्दवर्धन ही उदित थे और उदित थी आनन्दवर्धन की 'अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्' यह सुविख्यात पङ्क्ति, तथापि क्षेमेन्द्र-स्थापित सिद्धान्त-पोषकता तो उन लोगों की सिद्ध होती ही है। मेरे कथन का उद्देश्य भी उतना ही है।

पाश्चात्य आलोचक और औचित्य

अब यहाँ जिज्ञासु पाठकों के लाभ को दृष्टि में रखकर, संक्षेप में, औचित्य में संबन्ध रखने वाले पाश्चात्य आलोचकों के मतों का दिग्दर्शन कराया जा रहा रहा है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रकारों में प्राचीन आलोचकों ने 'औचित्य' का

---

१. मम्मट-क्षेमेन्द्र समकालीन थे।

विचार किया है, नवीन आलोचकों ने नहीं। प्राचीनों की भी औचित्यविषयक आलोचना भारतीय आचार्यों की आलोचना के सामने नगण्य-सी है, क्योंकि पाश्चात्यों की आलोचना के अनुसार 'औचित्य' काव्य का बहिरङ्ग साधन मात्र है और भारतीयों की आलोचना के अनुसार वह काव्य का ही नहीं, अपितु सकल ललित कलाओं का अन्तरङ्ग साधन है--प्राण है।

पाश्चात्यों ने प्रकृत्यौचित्य, घटनौचित्य, वर्णौचित्य—आदि औचित्य के कतिपय प्रकारों का ही विवेचन किया है जो काव्य के बहिरङ्ग साधन हैं। उन लोगों की पहुँच रस तक प्रायः नहीं हो सकी, अतः वे उक्त बहिरङ्ग तत्त्वों में ही उलझे रहे। फलतः उनकी औचित्यसमीक्षा उतनी मौलिक अथच गूढ़ नहीं हो सकी, जितनी रसवादी भारतीयों की।

औचित्य के ऊपर प्रकाश डालने वाले पाश्चात्य आलोचकों में अरस्तू, लाञ्जिनस, होरेस और पोप के नाम विशेषरूप से लिए जा सकते हैं।

अरस्तू के दो ग्रन्थ पाश्चात्य आलोचना-जगत् में परम प्रसिद्ध हैं--(१) पोइटिक्स तथा (२) रेटारिक। दोनों ही ग्रन्थों में औचित्य-तत्त्व की समीक्षा की गई है।

(१) नाटक का दृश्य वास्तविक होना चाहिए, काल्पनिक नहीं, जिससे द्रष्टा को उन दृश्यों के देखते समय असत्यता का भान नहीं हो। इस प्रसङ्ग पर अरस्तू का कथन है कि "नाटक में जो दृश्य दिखलाये जाँय उन्हें उचित होना चाहिए। उचित घटनाओं के प्रदर्शन से ही नाटककार की अभीष्ट-सिद्धि होती है। वस्तु-जगत् से असंबद्ध घटनाओं का प्रदर्शन नाटक में सर्वथा वर्जनीय होता है।[१]" यह है अरस्तू का घटनौचित्य।

(२) पद्य को ललित बनाने के अनेक उपाय हैं, परन्तु गद्य को सुन्दर बनाने का एकमात्र उपाय रूपक की योजना है, ऐसा अरस्तू मानते हैं। साथ साथ यह भी मानते हैं कि रूपक को औचित्य-युक्त होना चाहिए, क्योंकि अनौचित्यपूर्ण रूपक गद्य का भूषण नहीं, दूषण हो जाता है। "वर्णनीय वस्तु की उत्कृष्टता दिखलाने के लिये तज्जातीय उत्कृष्ट गुणयुक्त वस्तु के साथ और निकृष्टता दिखलाने के लिये हीनगुणसम्पन्न वस्तु के साथ रूपक बाँधना चाहिए।[२]" यह है अरस्तू का रूपकौचित्य।

१. देखिए—पोयटिक्स, पृ० ६१
२. देखिए—अरस्तू : रिटॉरिक, पृ० २३२

(३) भाषणकला के कुछ नियम हैं भाषण की शैली भावद्योतक तथा नीतिपूर्ण होनी चाहिए। साथ ही विषय के अनुरूप होनी चाहिए। अनुरूप-शैली से अभिप्राय है कि[1]—विषय के उदात्त होने पर रचनाप्रकार को क्षुद्र नहीं होना चाहिए। विषय के साधारण होने पर रचनाप्रकार को क्षुद्र नहीं होना चाहिए। विषय के साधारण होने पर रचना-प्रकार को उदात्त कभी नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार महत्त्वहीन शब्द के संबन्ध में अलंकृत तथा विचित्र विशेषणों का प्रयोग सर्वथा अनुचित होता है। अतः भाषण करते समय अथवा लिखते समय विषय की अनुरूपता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। यह है अरस्तू का विषयौचित्य।

(४) अरस्तू ने 'रेटारिक' के तृतीय खण्ड के सप्तम परिच्छेद में 'औचित्य' (Propriety) का विस्तृत वर्णन किया है। वक्ता को श्रोतृ-हृदय-वशीकरण-रूप निजोद्देश्य को सिद्ध करने के लिये अपने मनोभावों का प्रभाव श्रोताओं के ऊपर डालना पड़ता है। श्रोताओं के हृदय को वशीभूत करने का मुख्य उपाय है रसानुकूल भाषा का प्रयोग[2]। अनादर-भावाभिव्यञ्जन के लिये क्रोधपूर्ण भाषा का प्रयोग करना चाहिए। क्षुद्रता की अभिव्यक्ति के लिये वक्ता को उस (क्षुद्र वस्तु) का नाम ग्रहण भी नहीं करना चाहिए। प्रशंसनीय वस्तु के वर्णन में भाषा भी तदनुरूप होनी चाहिए। हार्दिक भावों की अभिव्यक्ति भाषा के द्वारा ही होती है। अतः भाव तथा भाषा में अनुरूपता नितान्त अपेक्षित है। इन दोनों का सामञ्जस्य ही वक्ता तथा लेखकों की सफलता का रहस्य है।

लाञ्जिनस (२१३ ई०–२७३ ई०) द्वारा रचित ग्रन्थ On the Sublime पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का मौलिक ग्रन्थ माना जाता है। वे कविता में ही नहीं, अपितु समग्र ललित कलाओं में चमत्कृतिजनक वस्तु—'भव्यता' (Sublimity) को मानते हैं। इस भव्यता के विधान के विविध प्रकारों के विवेचन-क्रम में ही उन्होंने औचित्य का भी विचार किया है।

(१) लाञ्जिनस अलंकारों के द्वारा भी काव्य में भव्यता का उदय मानते हैं। अलंकार शब्द तथा अर्थ को सुन्दर बनाते हुए काव्य में भव्यता के प्रधान कारण होते हैं। अलंकार और भव्यता में परस्परोपकार्योपकारकभाव सा होता

---

१. देखिए—रिटॉरिक, खण्ड ३, परि० ७, पृ० २४५

२. देखिए—रिटॉरिक खण्ड ३ परि० ७, पृ० २४५

है—अलंकार भव्यता का वर्धक होता है और भव्यता से अलंकार की चमत्कृति चौगुनी हो उठती है।

किन्तु समस्त अलंकारों में यह क्षमता नहीं रहती है। जिनको सत्ता पृथक् रूप से पाठकों को भासित नहीं हो वे ही अलंकार काव्य में श्रेष्ठ समझे जा सकते हैं। अलंकारों की अलंकारत्वभावना यदि पाठक के ध्यान में नहीं आवे तो वही अलंकार सुन्दरतम प्रतीत होता है। लाञ्जिनस का यह अलंकारौचित्य बहुत कुछ आनन्दवर्धन के 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः' से समानता रखता है।

(२) लाञ्जिनस ने शब्दौचित्य पर अधिक ध्यान दिया है। उचित शब्दों के चुनाव पर कविता का प्रभाव विशेषरूप से अवलम्बित रहता है। उचित पद विन्यास से काव्य अथवा भाषण में जीवनीशक्ति की वृद्धि होती है। जिस काव्य अथवा भाषण में जितनी अधिक सप्राणता होगी वह उतना ही अधिक पाठकों अथवा श्रोताओं को चमत्कृत-प्रभावित कर सकेगा। शब्दौचित्य की महिमा विलक्षण होती है। सुन्दर तथा उचित शब्द अर्थ का वास्तविक आलोक है। उचित अर्थ की अभिव्यक्ति करने की योग्यता उचित शब्द ही में रहती है। परन्तु कवि को इस विषय में सदा सावधान रहना चाहिए कि भव्य तथा माहात्म्यमण्डित शब्दों का प्रयोग भव्य विषय के वर्णन में ही किया जाय। यदि भव्य पद का प्रयोग तुच्छ—अभव्य पदार्थ के वर्णन में किया जायगा तो वह उपहासास्पद होता है।

इस प्रकार लाञ्जिनस काव्य में औचित्य के प्रबल पक्षपाती हैं। उनके विचार से शब्दौचित्य का विधान काव्य में सौन्दर्य, शक्ति, प्रभाव, महत्त्व तथा भव्यता का उत्पादक होता है तथा अन्य आवश्यक काव्यगुण का भी उदय स्वतः हो जाता है।

होरेस (५६ ई० पू०–८ ई० पू०)—लैटिन भाषा के अति लोकप्रिय कवि हैं। आलोचना के विषय में इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है—Art Poetica–Art of Poetry—'काव्यकला'। यह अपूर्ण ग्रन्थ है। फिर भी काव्यविवेचना में यह ग्रन्थ अप्रतिम समझा जाता है। होरेस 'औचित्य' के परम पुजारी हैं। इन्होंने कवियों को लक्ष्य कर तीन उपदेश दिये हैं—(१) ग्रीक आदर्शों का अनुकरण करो, (२) पात्र के स्वरूप की रक्षा करो तथा (३) औचित्य के संरक्षण

पर सर्वाधिक ध्यान दो। औचित्य के विषय में होरेस के सिद्धान्त भरत के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित अनेक तथ्यों के साथ पूर्ण सादृश्य रखते हैं। होरेस नाटक अथवा काव्य के कथानक के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखते हैं कि कविपरम्परागत अथवा नवकल्पित—दोनों प्रकार के कथानकों का ग्रहण कर सकता है, पर परम्परागत कथानक के ग्रहण करने पर उस परम्परा का विधिवत् पालन करना चाहिए और नवीन कथानक की कल्पना में इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि जो पात्र प्रथमबार जिस रूप में अङ्कित किया जाय उस पात्र के उस रूप का निर्वाह अन्त तक हो। उग्र रूप में अवतीर्ण पात्र का स्वरूप-निर्वाह अन्त तक उसकी उग्रता की रक्षा करने में ही होता है। दया का अवतार पात्र यदि दानवता का नग्न नर्तन करने लगे तो वह अपने स्वरूप से अत्यन्त च्युत हो जाता है[1]। होरेस का यह नियम भरत के 'प्रकृत्यौचित्य' के अन्तर्गत आता है।

होरेस ने अभिनय-कला के विषय में बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है। उनका कथन है कि अभिनय एक विशिष्ट कला है और इसमें औचित्य का आश्रय प्रधान है। दुःखद शब्दों के उच्चारण करते समय अभिनेता का चेहरा उदास होना चाहिए, डाट-डपट करते समय उसकी मुखमुद्रा क्रुद्ध की-सी होनी चाहिए, हँसी की वार्ता में चेहरा खिलता होना चाहिए और गम्भीर वार्ता के लिये मुखमंडल को गंभीरता नितान्त आवश्यक है। होरेस का यह अभिनयौचित्य है।

अभिनय रङ्गमञ्च पर वस्तु के प्रदर्शन से अथवा वस्तु के कथन से आरम्भ होता है। परन्तु कौन वस्तु रङ्गमञ्च के ऊपर अभिनययोग्य है? कौन-सी नेपथ्यगृह से सूचनीय है? इसके लिए कवि को सदा सावधान रहना चाहिए। जो घटना दर्शकों के चित्त में घृणा अथवा अश्लीलता का भाव उत्पन्न कर सकती है उसका प्रदर्शन किसी भी प्रकार से उचित नहीं माना जा सकता। मीडि़या के द्वारा अपने पुत्रों का वध क्या कभी रङ्गमञ्च के ऊपर दर्शकों के समक्ष अभिनीत किया जा सकता है? कारण स्पष्ट है—अनौचित्य। होरेस का यह नियम क्षेमेन्द्र का घटनौचित्य है। संस्कृत के आलोचकों में भरत से लेकर विश्वनाथ तक—सभी नाट्यवस्तु के दो प्रकार मानते हैं—एक 'संसूच्य' तथा

१. देखिए—होरेस : आर्ट ऑफ पोयट्री।

दूसरा 'दृश्य'। पहली की केवल अर्थोपक्षेपक के द्वारा सूचना दी जाती है, परन्तु दूसरी घटना रङ्गमञ्च के ऊपर अभिनीत होती[1] है।

इसके अतिरिक्त होरेस ने छन्दों के औचित्य की भी चर्चा की है। इस प्रकार ग्रीक आलोचकों ने औचित्य (Propriety) की कमनीयता ललित कलाओं में पर्याप्तरूप से स्वीकृत की है। सचमुच यूनानी आलोचनापद्धति (Classical Criticism) का सर्वस्व औचित्य रहा है।

महाकवि पोप ने भी औचित्य के अनेक प्रकारों को अपने आलोचना-ग्रन्थ में स्थान दिया है। पोप का ग्रंथ (Essay of Criticism) प्राचीन मान्य सिद्धान्तों का पद्यबद्ध समुच्चय है। इनमें वर्णौचित्य के ऊपर उन्होंने बड़ा जोर दिया है। उनका कथन है कि कविता में केवल उद्वेगकारी कर्णकटुता का अभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, अपितु वर्ण्य अर्थ की प्रतिध्वनि अवश्य होनी चाहिए। मलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए, मन्द लहरिका का प्रवाह कोमल पदों में प्रवाहित होता है, परन्तु जब प्रचण्ड झंझावात से आन्दोलित भीषण तरङ्ग तटों पर टकराता है; तब ओजस्वी पद्य भी तुमुल प्रवाह की तरह घोर गंभीर गर्जन करता है। पोप का अभिप्राय है कि वर्णनीय वस्तु तथा तत्प्रतिपादक शब्दों में मधुर सामञ्जस्य होना चाहिए। पोप का यह काव्यतत्त्व होगा—आनन्दवर्धन का वर्णध्वनि, कुन्तक का वर्णवक्रता तथा क्षेमेन्द्र का वर्णौचित्य। एक ही तत्त्व भिन्न-भिन्न आलंकारिकों की कल्पना में भिन्न-भिन्न अभिधान से अभिव्यक्त किया गया है।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट हो चुका है कि औचित्य-तत्त्व की महत्ता जिस तरह भारतीय आलोचकों ने स्वीकार की है उसी तरह पाश्चात्य आलोचकों ने भी। अन्तर केवल यह है कि पाश्चात्य आलोचना-पद्धति में रस-सत्ता के प्रतिपादन नहीं होने से औचित्य काव्य का एक बहिरङ्ग उपादान के रूप में अङ्गीकृत

---

१. द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापि वा॥
नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥
(दशरूपक १।५६; ५७)

हुआ है और भारतीय आलोचना-पद्धति में रस के साथ स्थिर सम्बन्ध होने के कारण औचित्य अन्तरङ्गतम काव्यतत्त्व माना गया है।

भारतीय आलोचना जगत् में भी इस तत्त्व का विकास क्रमशः हुआ है भरत ने केवल नाट्य में औचित्य सिद्धान्त को सूचित किया। आनन्दवधन ने उसे नाट्य और काव्य (दृश्य और श्रव्य) उभय क्षेत्रों में परिबृंहित किया। क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व को काव्य-मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा की। औचित्य के विषय में मौलिक कल्पना करने वाले ये ही तीन आचार्य हैं। अन्य अलकार शास्त्रीय निबन्ध-प्रणेता आचार्यों ने इस तत्त्व का उल्लेख तो प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से अवश्य किया, पर इसके सम्बन्ध में कोई कोई मौलिक बात किसी ने नहीं कही। हाँ इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि औचित्य को व्यापक काव्य-तत्त्व प्रायः सबों ने स्वीकार किया है। भारतीय आलोचना-जगत् का एक युग ऐसा भी था जब औचित्य काव्यात्मा के रूप में उद्घोषित हुआ था। स्वतन्त्र औचित्य-संप्रदाय कायम हो चुका था, जिस पर प्रहार किया भरत तथा आनन्द-वर्धन के प्रसिद्ध व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने। उन्होंने कहा कि औचित्य तो एक संबन्ध-विशेष ठहरा (उचितस्य भावः औचित्यम्) और जिसके साथ औचित्य का संबन्ध जोड़ना है, उसका ज्ञान बिना हुए क्या औचित्य का यथार्थ निर्वाह हो सकता है? वह प्रयोजनीय पदार्थ है—रस। रस के बिना औचित्य की सत्ता मानना मूल के अभाव में पल्लव का सींचना है। काव्य का सर्वस्व ठहरा रस और इसी रस के अनुगुण होने पर किसी भी काव्याङ्ग का औचित्य ठहरता है और उसके अनुगुण न होने पर अनौचित्य का उदय होता है।

अस्तु, औचित्य की काव्यात्मता के विषय में मतभेद भले ही हो, पर उसकी व्यापकता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। औचित्य की व्यापकता का दिग्दर्शन कराने के लिये महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी शास्त्री ने अपने ग्रन्थ (High ways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit.) के पृ० २७-३ में एक ग्राफ दिखलाया है जिसको आगे पाठकों की सुविधा के लिये उद्धृत किया जा रहा है।

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥
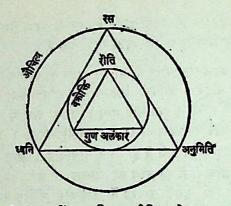
साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर 'अलंकार' तक का विकास है। इस चित्र के बड़े वृत्त पर दृष्टिपात कीजिए। यह काव्य के अन्तरङ्ग–अर्थात् प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा करता है। इस पूरे वृत्त की परिधि है—औचित्य, जिसे भारतीय आलंकारिकों ने व्यापकतम काव्यतत्त्व अङ्गीकृत किया है। इस वृत्त के भीतर जो बड़ा त्रिकोण है उसका शीर्षस्थान है रस और नीचे के कोण हैं ध्वनि और अनुमिति। रस का शीर्षस्थान सूचित करता है कि भारत के किसी साहित्य-सम्प्रदाय में रसतत्त्व की अवहेलना नहीं है। ध्वनि और अनुमिति मतभेद से उसके दो अभिव्यक्ति-प्रकार हैं। अनुमितिवादी भी रस का अपलाप नहीं करते, अपितु उसके बोध के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानकर उसका स्थान अनुमिति को देते हैं। अनुमिति यहाँ ध्वनिविरोधी सभी मतों का प्रतीक है।

भीतरी वृत्त में काव्य के बाह्य उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन है। वृत्त की परिधि 'वक्रोक्ति' है जो बृहत् वृत्त का स्पर्श कर रही है। वक्रोक्ति कवि के कथन का एक विशिष्ट प्रकार है। इस वृत्त के भीतर एक त्रिकोण है जिसका ऊपरी बिन्दु है—रीति, और निचले बिन्दु हैं गुण और अलंकार। रीति, गुण और अलंकार ये तीनों तत्त्व काव्य के बहिरङ्ग साधन हैं और इनका वक्रोक्ति, का आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार इस ग्राफ़ में अलंकार-शास्त्र के समस्त संप्रदायों का पारस्परिक संबन्ध व्यवस्थित रूप से दिखलाया गया है[1]।

---

१. भूमिका का यह अंश मुख्यतया आदरणीय पं० श्री बलदेव उपाध्यायजी

औचित्यविचारचर्चा

'औचित्य विचार-चर्चा' एक महत्त्वपूर्ण अलंकार-ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। क्षेमेन्द्र ने यद्यपि अनेक ग्रन्थों की रचना की है, परन्तु उनका सबसे मुख्य ग्रन्थ यही है, उनकी अमर कीर्ति में 'चार चाँद' लगाने का श्रेय इसी ग्रन्थ को है। इस ग्रन्थ में औचित्य का विशद विश्लेषण अति प्रांजल भाषा में किया गया है। सर्वप्रथम मङ्गलबोधक पद्य के द्वारा औचित्य को भागवत गुण सिद्ध किया गया है जिसका विवरण भूमिका के प्रारम्भ में ही आ चुका है।

इसके बाद ग्रन्थकार ने ग्रन्थनिर्माणपरक प्रतिज्ञा-वाक्य लिखा है। तदनन्तर औचित्य तत्त्व की महिमा का गान है। इसी प्रसंग पर भरत के—

अदेशजो निवेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

इस कथन के आधार पर निम्नलिखित सूक्ति की सृष्टि की गई है।

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणे केयूर-पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्तिके हास्यताम्,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

कण्ठ में मेखला (डड़कस) बाँधने से या नितम्ब पर लम्बे हार पहनने से अथवा हाथ में नूपुर बाँधने से या पैर में केयूर रखने से कौन व्यक्ति लोक में हँसी का पात्र नहीं बनता ? नतानन पर शूरता और शत्रु पर करुणा दिखलाने वाला व्यक्ति क्या अपने को उपहासास्पद नहीं कर लेता है ? तथ्य बात यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही रुचिकर प्रतीत होते हैं और न गुण। भूषणतत्त्व का प्रधान आश्रय औचित्य ही है।

इसके बाद औचित्य का लक्षण किया गया है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

कृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र' के आधार पर संकलित किया गया है, अतः लेखक उनका आभारी है।

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे हम 'उचित' कहते हैं और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। यद्यपि यह लक्षण उतना अनुगत नहीं है तथापि पाठकों के मानसपटल पर औचित्य की एक व्यावहारिक रूपरेखा इससे अवश्य खिंच जाती है।

इसके अनन्तर औचित्य के प्रभेद किये गए हैं, जिनकी संख्या क्रमशः पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, और आशीर्वाद के रूप में सत्ताईस (२७) गिनाई गई है।

ये प्रभेद उपलक्षणमात्र हैं। वस्तुतः औचित्य के अनन्त भेद हो सकते हैं। काव्य के प्रत्येक अङ्ग तथा उपांग पर इस तथ्य का व्यापक प्रभाव है। इस बात को ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रंथ-समाप्ति के अवसर पर स्पष्ट लिखा है। "अन्येषु काव्याङ्गेपु अनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणानि आनन्त्यान्न प्रदर्शितानि अलमतिप्रङ्गेन।" यही औचित्यविचार-चर्चा की अन्तिम पङ्क्ति है।

इन गिनाए गए २७ प्रभेदों को हम पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पद, वाक्य और प्रबन्ध ये तीन प्रथम वर्ग में रक्खे जा सकते हैं, जो मीमांसा-दर्शन से संबद्ध विषय हैं। दूसरे वर्ग में गुण, अलंकार और रस का स्थान आता है, जो काव्यशास्त्र अथवा अलङ्कारशास्त्र की वस्तुएँ हैं। तीसरे वर्ग में क्रिया, कारक, लिंग वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात तथा काल का समावेश हो सकता है, जो सबके सब व्याकरणशास्त्र के पदार्थ हैं। चतुर्थ वर्ग में देश, कुल एवं व्रत आ सकते हैं, जिनका संबन्ध लोकतन्त्र से है।

पञ्चमवर्ग में आते हैं--तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद, इनका संबन्ध वक्ता—कवि से है। इनमें आदिम चार वर्ग प्रसिद्ध काव्याङ्ग हैं, इन पर प्राचीन काव्याचार्यों के द्वारा अनेक प्रकार के विचार किए जा चुके थे, पर क्षेमेन्द्र ने इन पर भी एक नवीन दृष्टिकोण से, किन्तु पूर्वाभास के रूप में ही विचार किया है।

पंचमवर्ग आचार्य क्षेमेन्द्र की मौलिक देन है। भारतीय आलोचना-पद्धति

में आचार्य ने एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है। कारण, 'कला में सौन्दर्य है अथवा नहीं' ? यह उतना आलोचना का विषय नहीं है, जितना 'कला में सौन्दर्य आता कहाँ से है' यह—अर्थात् गुण, रीति, अलंकार अथवा रस का ही समावेश काव्य में हुआ है, किंवा नहीं यही नहीं देखना है आलोचकों को, अपितु मुख्यतः यह देखना है कि इन वस्तुओं का समावेश किस ढंग से हुआ है, इन वस्तुओं के समावेशार्थ जो ढंग अपनाया गया है वह उचित है अथवा नहीं।

फलतः प्रतिपाद्य वस्तु की ओर से हटा कर अपना ध्यान आलोचकों को प्रतिपादन करने वाले कवि की ओर ले जाना चाहिए। सारांश यह कि कलागत सौन्दर्य का रहस्य कवि-हृदय में छिपा रहता है, वस्तु में नहीं। पर भारतीय आलोचकों का दृष्टिकोण वस्तुपरक ही अधिक रहा। आचार्य क्षेमेन्द्र ने उक्त पंचम वर्ग का समावेश अपनी 'चर्चा' में करके जो अन्तरीक्षा प्रस्तुत की है, वह निस्सन्देह नूतन और श्लाघ्य है। अस्तु।

ग्रन्थ का स्वरूप

पूर्वकथित प्रभेदों के क्रमशः पहले कारिका के द्वारा स्वरूप और लौकिक दृष्टान्तमूलक साहित्यिक स्तर निर्णीत किये गए हैं। फिर उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण द्वारा उन प्रभेदों का स्पष्टीकरण किया गया है। उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण के पद्य कुछ तो अपने अन्य ग्रन्थों से और कुछ विभिन्न कवियों के काव्यों से उद्धृत किये गए हैं।

बीच बीच में गद्य के द्वारा कारिकाओं तथा उदाहरण-प्रत्युदाहरण पद्यों की व्याख्या की गई है। सामान्यतः ग्रन्थ का यही स्वरूप है।

आलोचना में सर्वत्र ईमानदारी बरती गई है। औचित्य के उदाहरणरूप में ही नहीं, प्रत्युदाहरणरूप में भी अपने पद्यों को ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। तत्तत् औचित्य का स्तर निश्चित करते समय कारिकाओं के द्वारा अनूठे लौकिक दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है। जैसे—

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम्॥

तिलक के समान औचित्यपूर्ण एक पद वाली सूक्ति (काव्यवाक्य) शोभित होती है। कैसे? जैसे गौरवर्णा कामिनी कस्तूरीकृत काली बिन्दी से और श्यामाङ्गी चन्दनरचित धवल विशेषक (बिन्दी) से। कैसा मनोहर दृष्टान्त है! गौराङ्गी के भाल पर काली बिन्दी का और श्यामांगी के ललाट पर धवल बिन्दी का औचित्य और तज्जन्य शोभातिशय का अनुभव सभी सहृदयों को अवश्य होगा।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में इसी तरह के रुचिर दृष्टान्तों का सन्निवेश किया गया है। आलोचना की मार्मिकता देखते ही बनती है। बानगी के तौर पर एक दो स्थलों का प्रदर्शन ही पर्याप्त होगा—

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले,
नाथास्मिन्निति बन्दिवाचि बहुशो देव! श्रुतायां पुरा।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः,
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ॥

कवि किसी राजा की स्तुति में कहता है कि हे राजन्! गुर्जर देश के अधिपति, जो आपके आक्रमण से भयभीत होकर सपत्नीक वन में भटकते फिरते हैं की मुख्य रानी पहले बन्दिजनों के द्वारा बार-बार सुन चुकी थी कि युद्ध में शत्रुओं का समूह तेरी तलवार की तीक्ष्ण धारा में डूब मरा, अब वह मुग्धा रानी आज इस वनवास-काल में चकित होकर जल की आशा से बार-बार पति की तलवार पर अपनी दृष्टि डाल रही है।

इस पद्य में 'मुग्धा' यह एक पद ऐसा है जिसके चलते सम्पूर्ण पद्य सार्थक, सुसंगत अर्थ च सुन्दर हो जाता है—सहृदय-हृदयहारी सिद्ध होता है। यदि वह नहीं रहता तो सम्पूर्ण पद्य असंगतार्थक होकर सहृदयों के उद्वेग का कारण बन जाता, क्योंकि तलवार की धार में जल की आशा करना उपहासास्पद है। पर मुग्धा के लिये ऐसा करना नितान्त उचित है, पदौचित्य के उदाहरण में यह पद्य उद्धृत हुआ है। जरा पद के अनौचित्य की भी बानगी देखिए—

> लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
> स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ता ज्वरो निर्मितः।
> एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
> कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहतस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

विधाता ने एक सुन्दरी की सृष्टि की। उसकी सृष्टि करने में सौन्दर्यरूप धन का व्यय तो करना ही पड़ा साथ-साथ कष्ट भी विधाता को कम नहीं हुआ। पर फल क्या हुआ? कुछ नहीं। स्वच्छन्द तथा सुखपूर्वक संसार में बसने वाले युवकजन के हृदय में चिन्ताज्वर उत्पन्न हो गया—अर्थात् इस सुन्दरी की प्राप्त्याशा में सब चिन्तित रहने लगे। और वह बेचारी—जिसकी सृष्टि विधाता ने महान् व्यय तथा श्रम स्वीकार करके की—भी अपने अनुरूप पति के नहीं मिलने से बेमौत मारी गई। ऐसी स्थिति में इस तन्वी के तनु की सृष्टि करते हुए विधाता ने अपने मन में कौन-सा प्रयोजन रक्खा था? पता नहीं।

श्लोक के शब्द तथा अर्थ—दोनों ही सुन्दर हैं, पर इस पद्य में एक पद ऐसा अनुचित कह दिया गया है जिसके चलते 'सब गुड़ गोबर' हो जाता है। और वह अनुचित पद है 'तन्वी'। यह पद दुर्बलता का द्योतक है, अतः इसका प्रयोग किसी विरहिणी के प्रसङ्ग में उचित हो सकता है। यहाँ तो विरह का कोई प्रसङ्ग है नहीं। यहाँ तो सौन्दर्य 'सुन्दरी' आदि पद का प्रयोग उचित

होता। कितनी सूक्ष्म तथा मार्मिक आलोचना है। सर्वत्र इसी तरह की मार्मिक आलोचना प्राप्त होती है। यहाँ सब का उल्लेख संभव नहीं, और अवतारणा का कलेवर विपुल हो जाने का भी भय है। अतः पाठकों को उन मार्मिक आलोचनाओं से आनन्द का अनुभव करने के लिये ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए। इस ग्रन्थ में कारिकाओं की संख्या उनचालिस है और उदाहरण-प्रत्युदाहरण के रूप में एक सौ पाँच श्लोक तैंतिस विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। इनमें क्षेमेन्द्र के ग्यारह काव्यग्रन्थों के पैंतिस श्लोक हैं जो कि औचित्य तथा अनौचित्य दोनों के उदाहरण में आए हैं। एक श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थ की दृष्टि से ही लिखा गया है। इस तरह छत्तिस श्लोक इनके अपने हुए।

इसके अतिरिक्त राजशेखर के दश, कालिदास के विभिन्न चार ग्रन्थों से आठ, भवभूति के एक ग्रन्थ से तीन, श्रीहर्ष के पाँच, बाणभट्ट के दो ग्रन्थों से तीन, व्यास का एक, चन्द्रक के चार, वराहमिहिर का एक, परिमल के चार, अमरुक के दो, माघ का एक, दीपक के तीन, धर्मकीर्ति का एक, नारायणभट्ट के दो, मालवरुद्र के दो, कर्पटिक का एक, श्यामलक का एक, प्रवरसेन के दो, राजपुत्र मुक्तापीड का एक, गौड़ कुम्भकार का एक प्रभाकरभट्ट का एक, उत्पलराज का एक, महेन्दुराज के दो, मातृगुप्त का एक, भट्ट लट्टन का एक, कुमारदास का एक, श्रीचन्द्र का एक, मालवकुवलय का एक, भट्ट भल्लट का एक, परिव्राजक का एक, उपाध्याय गङ्गक का एक और यशोवर्मदेव का एक श्लोक उदाहरण-प्रत्युदाहरण के रूप में उद्धृत हुए हैं। इस तरह इस ग्रन्थ के अध्ययन से बहुतेरे ऐसे कवियों का पता हमें मिलता है जिनकी कृतियों से विद्वन्मण्डली अपरिचित है।

महाकवि क्षेमेन्द्र

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता महाकवि क्षेमेन्द्र, संस्कृत भाषा के महाकवियों में भी अलौकिक प्रतिभाशाली महाकवि थे जिनकी प्रतिभा ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपना चमत्कार दिखलाया। सरस्वती के ये वरदपुत्र शारदा देश अर्थात् काश्मीर के निवासी थे, परन्तु जब ये उत्पन्न हुए थे तब काश्मीर का वातावरण कविता जैसी कोमल कला के अनुशीलन के लिये नितान्त अनुपयुक्त था। काश्मीर के इतिहास में वह युग असन्तोष, षड्यन्त्र, नैराश्य तथा रक्तपात का काल था। तत्कालीन राजा अनन्त स्वयं मानसिक दुर्बलता का तथा

बौद्धिक शिथिलता का पात्र था। तभी तो उसने १०६३ ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र कलश को राज्य देकर भी थोड़े ही वर्षों के अनन्तर पुनः उसे ग्रहण कर लिया। इसके अनन्तर वह १०७७ ई० में राज्य-कार्य से वस्तुतः विरत हुआ और कुछ ही वर्षों के बाद, १०८१ ई० में, उसने आत्महत्या कर ली, और उसकी विदुषी महारानी सूर्यवती भी अपने पति की चिता पर सती बन गई।

इन्हीं पिता-पुत्र अनन्त (१०२८ ई०---१०६३ ई०) तथा कलश (१०६३ ई०---१०८९ ई०) के राज्यकाल, में क्षेमेन्द्र की जीवन-लीला व्यतीत हुई।

इनके पूर्वपुरुष राजा के अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित थे। क्षेमेन्द्र अपने युग के अशान्त वातावरण से इतने असन्तुष्ट तथा मर्माहत थे कि उसे सुधारने में तथा पवित्र और विशुद्ध बनाने के लिए और दुष्टता के स्थान पर शिष्टता की और स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना को दृढ़ करने के लिये, अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को काव्य के नाना अङ्गों की रचना में लगाया। इसी का रुचिर परिणाम है---क्षेमेन्द्र का विशाल-साहित्य '

महर्षि वेदव्यास के आदर्श पर रचना करने वाले ये महाकवि नाम्ना ही नहीं प्रत्युत यथार्थतः 'व्यासदास' थे।

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इनकी लेखनी से जिस तरह अलंकारशास्त्र के उत्तमोत्तम अनेक ग्रन्थ उत्पन्न हुए उसी तरह अनेक महाकाव्य और खण्डकाव्य सम्पन्न हुए। इनके ग्रन्थों में सभी रसों के अनूठे पद्य प्राप्त होते हैं। इनकी नीतिमय कविताओं का साम्राज्य देखते ही बनता है। हास्यरस के तो संस्कृत साहित्य में एकमात्र प्रतिनिधि कवि क्षेमेन्द्र हैं। इन्होंने एक नवीन प्रकार के आख्यानों का निर्माण किया है, जिसमें हास्य के व्याज से शोभन उपदेश प्रदान किया गया है। 'देशोपदेश' तथा 'नर्ममाला' ऐसी कथाओं से परिपूर्ण हैं। क्षेमेन्द्र का उदात्त उद्देश्य है---तत्कालीन राजनैतिक बुराइयों, सामाजिक दोषों और कमजोरियों को दिखलाकर उनका निराकरण करना। कवि का कथन है कि हास्य के द्वारा प्रदर्शित युक्ति श्रोताओं के हृदय पर गहरी चोट करती है, श्रोताओं के मर्मस्थान को विद्धकर उन्हें दोषयुक्त होने की प्रेरणा देती है।

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'देशोपदेश' में गौड़ छात्र पर तथा 'नर्ममाला' में राज्य के अधिकारियों, जैसे कायस्थ, नियोगी, चाक्रिक आदि पर बड़ी मोठी चुटकियाँ ली गई हैं।

जनता के चरित्र के सुधार तथा मनोरञ्जन की भावना से प्रेरित होकर ही क्षेमेन्द्र ने रामायण तथा महाभारत की प्रख्यात कथाओं का संक्षिप्त वर्णन रामायणमञ्जरी तथा भारतमञ्जरी (रचनाकाल १०३७ ई०) के नाम से प्रस्तुत किया।

इसके बाद क्षेमेन्द्र ने शालिवाहन (हाल) के सभाकवि गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा में रचित बृहत्कथा (इसका मूलरूप आज अप्राप्त है) का सरस पद्यानुवाद प्रस्तुत कर प्राचीन कहानियों का खजाना पाठकों के लिये खोल दिया।

क्षेमेन्द्र की दूसरी विशाल कथात्मक कृति है 'बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता', जिसमें भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों से संबद्ध पारमितासूचक आख्यानों का पद्यबद्ध वर्णन है। 'अवदान' का अर्थ है--शुभ्रचरित्र।

क्षेमेन्द्र रचित 'सुवृत्ततिलक' छन्दःशास्त्र का अमूल्य ग्रन्थ है। इस तरह वस्तुतः क्षेमेन्द्र अपने युग के महान् लेखक थे इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

क्षेमेन्द्र वैष्णवधर्मावलम्बी थे, पर आज-कल के कतिपय वैष्णवों के समान दुराग्रही नहीं थे। इनकी धार्मिक भावना अत्यन्त उदार थी। ये ब्राह्मणजातीय थे यह बात उनके पूर्वजों के राजामात्य होने से भी सिद्ध होती है, क्योंकि अमात्यपद पर प्राचीनकाल में ब्राह्मणों की ही नियुक्ति होती थी।

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ

१. अमृततरङ्गकाव्यम्, २. अवसरसारः, ३. कनकजानकी, ४. औचित्य-विचारचर्चा, ५. कविविलासः, ६. कविकण्ठाभरणम्, ७. चतुर्वर्गसंग्रहः ८. चारुचर्या, ९. चित्रभारतनाटकम्, १०. दर्पदलनम्, ११. दशावतार-चरितम्, १२. देशोपदेशः, १३. नीतिकल्पतरुः, १४. नीतिलता, १५. पद्य-कादम्बरी, १६. पवनपञ्चाशिका, १७. बृहत्कथामञ्जरी, १८. बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता, १९. भारतमञ्जरी, २०. मुक्तावली, २१. मुनिमतमीमांसा,

२२. कविकर्णिका, २३. रामायणमञ्जरी, २४. ललितरत्नमाला, २५. लावण्यवती; २६. वात्स्यायनसूत्रसारः, २७. विनयवल्ली, २८. व्यासाष्टकम्, २९. शशिवंश-महाकाव्यम्, ३०. समयमातृका, ३१. सुवृत्ततिलकम् तथा ३२. सेव्य-सेवकोपदेशः ।

इन ग्रन्थों में अधिकतर उपलब्ध हैं पर कतिपय ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनकी उपलब्धि अब तक नहीं हो सकी है ।

प्रस्तुत व्याख्या

प्रस्तुत ग्रन्थ पर संस्कृत-हिन्दी व्याख्या लिखने की प्रवृत्ति मेरे अनुज के मन में उदित हुई और मुझ से उत्साहित होकर उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया । कतिपय शब्दों (लटभा आदि) का अर्थ-निर्णय करने में उन्हें बड़ी परेशानी उठानी पड़ी । अन्त में बड़े परिश्रम से उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी टीका को तैयार कर मेरे समक्ष उपस्थित किया । मैंने दोनों ही टीकाओं के कतिपय अंशों को पढ़ा । व्याख्याकार्य में प्रथम प्रवृत्ति के कारण व्याख्याकार की शैली उतनी परिमार्जित नहीं है फिर भी इन व्याख्याओं के आधार पर पाठक ग्रन्थ के गूढातिगूढ अभिप्राय को भी अनायास समझने में समर्थ होंगे—ऐसा मुझे विश्वास है ।

कहीं-कहीं व्याख्याकार ने ग्रन्थकार के विचारों से अपनी असहमति व्यक्त की है और मुझे भी उन स्थलों पर व्याख्याकार के विचार अच्छे प्रतीत हुये हैं । मैं व्याख्याकार के प्रति अपनी शुभकामना प्रकट करता हूँ ।

दीपावली
सं० २०२१

विदुषां विधेयः
पं० श्री मदनमोहन झा
अध्यापक, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, भागलपुर

औचित्यविचारचर्चायाः

मूलस्थकारिकानुक्रमणिका

———

मूलस्थोदाहरणश्लोकानुक्रमणिका

औचित्यविचारचर्चा

॥ श्रीः ॥

औचित्यविचारचर्चा

संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

—: ० :—

कृतारिवञ्चने दृष्टिर्येनाञ्जनमलीमसा ।
अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे ॥ १ ॥

वन्दे गुरुचरणाब्ज-द्वन्द्वं प्रत्यक्षदेवरूपन्तम् ।
यान्ति महत्त्वं लोका यद्रजोलवलाभतोऽप्यत्र ॥
श्रीक्षेमेन्द्रकृतायाः सम्यगौचित्यविचारचर्चायाः ।
संस्कृत-हिन्दी-सहितां कुर्वे व्याख्यां प्रभेत्याख्याम् ॥

प्रारिप्सितग्रन्थप्रतिबन्धकीभूतविघ्नविनाशार्थं शिष्यशिक्षार्थञ्च महामतिः क्षेमेन्द्रः स्वेष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलमातनोति—**कृतारिवञ्चने** इति । येन विष्णुना, अरिवञ्चने शत्रुप्रतारणे, विषयसप्तमीयम् । समुद्रमन्थनोपलब्धामृतवितरणकाले इति भावः । दृष्टिर्नेत्रयुगलम्, अञ्जनमलीमसा कज्जलमलिना, कृता सम्पादिता, परमौचित्यकारिणे निरतिशयौचित्यसम्पादकाय शत्रुवञ्चनोचितनारीवेषधारकायेति भावः । तस्मै प्रसिद्धाय अच्युताय, कदाचिदपि औचित्यच्युतिरहिताय विष्णवे नमः इति सरलोऽर्थः । एतेनौचित्यविचारात्मकवस्तुनिर्देशोऽपि ध्वनितः ।

ग्रंथ-समाप्ति में विघ्न-प्रतिबन्धक और मंगल विघ्नविनाशक होता है, ऐसी प्राचीन विद्वानों की मान्यता रहती आयी है । अतः वैष्णव मनीषी श्री क्षेमेन्द्र भगवान् विष्णु को नमस्कार करने के व्याज से प्रस्तुत ग्रंथ-प्रतिपाद्य औचित्य का भागवत-गुणसंपन्न होना सिद्ध कर रहे हैं—कृतारि इति । जिन्होंने (समुद्रमंथन से प्राप्त अमृतवितरण के समय) असुरों को ठगने के लिये मोहिनीरूप धारण कर अपने नेत्रों को कज्जल से मलिन कर लिया अर्थात् पुंस्त्व का त्याग भी अंगीकृत किया, औचित्य को समादृत करनेवाले तथा कभी भी उससे च्युत नहीं होने वाले उन परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥ १ ॥

कृत्वापि काव्यालङ्कारां क्षेमेन्द्रः कविकर्णिकाम् ।
तत्कलङ्कं विवेकञ्च विधाय विबुधप्रियम् ॥ २ ॥
औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ ३ ॥ (युग्मकम्)

विवेच्यवस्तु निर्दिशति—कृत्वापीति । क्षेमेन्द्रो ग्रन्थकर्ता, काव्यालङ्काराम् काव्यस्य काव्याङ्गभूतेति यावत्, अलङ्कारा उपमारूपकादयो यस्याम् इति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः, अन्यथाऽलङ्कारशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गतया स्त्रीलिङ्गत्वमसङ्गतं स्यात्, काव्यगतालङ्कारप्रतिपादिकामिति भावः, कविकर्णिकाम् तन्नामकग्रन्थविशेषम्, कृत्वापि सम्पाद्यापि, अपिना तत्करणेऽपि स्वपरितोषाभावः सूच्यते, च पुनः तत्कलङ्कम् काव्यकलङ्कम्, तन्नामकं काव्यदोषनिरूपणपरं निबन्धविशेषमिति यावत् । अथवा तत्कलङ्कम् तस्याः कविकर्णिकायाः, कलङ्कम् दोषम्, प्रमार्ष्टुमिति शेषः, धातूनामनेकार्थत्वादुद्भाव्येत्यर्थक-विधायेतिल्यबन्तक्रियापदवाच्यान्वय्यर्थकम् कर्मपदं वैतत्, विवेकम् काव्यविवेकं तन्नामककाव्यलक्षणादिनिरूपकग्रन्थविशेषम् अथवा विवेकम् वस्तुतत्त्वविचारं, विधाय कृत्वा, द्वितीयकल्पतयोहितेनार्थेन "कविकर्णिकाकरणकालं यावत्, अलङ्कारतत्त्वमेव काव्ये सर्वप्रधानं मन्यमानोऽहमासम्, परन्तु पश्चात्तत्र निजमान्यतायां दोषो मया दृष्टः, अलङ्कारतत्त्वसूक्ष्मपरिशीलनेन च औचित्यतत्त्वं सर्वतः प्रधानं मम ध्यानपथे समायातमिति रहस्यं ध्वनितमवगन्तव्यम् । अधुना इदानीम्, तद्विधानानन्तरमिति यावद्, चमत्कारकारिणः विच्छित्तिविशेषप्रयोजकस्य, चारुचर्वणे रमणीयास्वादे, सुन्दरास्वाददशायामिति यावत्, रसजीवितभूतस्य रसेऽपि सारभूतस्य तदन्तरा रसनीयताविरहेण रसत्वस्यैवासम्भवात् । एतेन रसादेः प्रधानत्वप्रवादोऽलङ्कारादितत्त्वान्तरापेक्षिकः, सर्वतः प्रधानत्वन्तु औचित्यतत्त्वस्यैवेत्यर्थो ध्वनितः, औचित्यस्य वक्ष्यमाणलक्षणस्य काव्यात्मतत्त्वभूतस्य, विबुधप्रियं विशिष्टविद्वज्जनश्लाघ्यम्, एतेन साधारणपण्डितम्मन्यजनप्रियत्वाभावेऽपि नैतस्य विचारस्य किञ्चिच्छिन्नं भवतीति व्यज्यते, विचारम् आलोचनम्, कुरुते विधत्ते इत्यर्थः । यशोलाभरूपस्य क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वेनात्मनेपदं बोध्यम् ॥ २-३ ॥

आचार्य क्षेमेन्द्र ने पहले कविकर्णिका नामक एक ग्रन्थ बनाया जिसमें

अलंकारों का निरूपण किया, अतएव कविकर्णिका का विशेषण काव्यालङ्काराम् कहा। इस विशेषणबोधक पद में काव्य के अलङ्कार—उपमा-रूपक आदि हैं जिसमें, इस तरह से बहुव्रीहि समास समझना चाहिए। अन्यथा काव्य को अलंकृत करने वाली—इस अर्थ में "काव्यालङ्काराम्" ऐसा स्त्रीलिंग शब्द नहीं संगत होगा। कारण अलंकार शब्द नित्य पुंल्लिङ्ग है। इसके बाद "काव्य-कलंक अथवा कविकलंक" नाम का दूसरा निबन्ध भी उन्होंने लिखा, जिसमें काव्यदोषों का विवेचन किया गया। फिर तीसरा ग्रंथ "काव्यविवेक" नाम का रचा, जिसमें काव्यलक्षण, काव्यभेद आदि का वर्णन किया गया। तदुत्तर आज इस "औचित्यविचारचर्चा" नामक पुस्तक का प्रणयन कर रहे हैं, ऐसा ग्रंथकार का कथन है। यह पुस्तक उस औचित्य तत्त्व का विद्वन्मनोग्राही विचार है जो काव्य में चमत्कार को उत्पन्न करता है और जो रमणीय आस्वादावस्था में जाकर रस का भी जीवातुभूत सिद्ध होता है अर्थात् रस में भी रसनीयता लाने का श्रेय जिसे प्राप्त है। तात्पर्य यह कि औचित्य के बिना आस्वाद्यता के अभाव में रस रस कहलाने योग्य हो ही नहीं सकता।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि "औचित्यविचारचर्चा" के अतिरिक्त जिन तीन ग्रन्थों का निर्देश ऊपर किया गया है वे आज प्राप्त नहीं होते। इतिहासलेखकों ने भी केवल "कविकर्णिका" का ही उल्लेख किया है, "काव्यकलंक" और "काव्यविवेक" का नहीं। पर मुझे मूल पंक्ति का स्वाभाविक स्वारस्य ऐसा ही प्रतीत होता है जिसके अनुसार "तत्कलङ्कं विवेकञ्च" को भी ग्रंथनिर्देशपरक ही समझना संगत है। यदि क्षेमेन्द्र द्वारा "काव्यकलंक" और "काव्यविवेक" की रचना वाली बात नहीं ही मानी जाय तब उक्त पंक्ति की व्याख्या किसी तरह यों की जा सकती है—क्षेमेन्द्र ने पहले कविकर्णिका लिखी, फिर उसके कलंक-दोष (त्रुटियों) का मार्जन करने के लिये विवेक-समुचित विचार-करके औचित्य का विचार किया। तात्पर्य यह कि अलंकार तत्त्व का गंभीर मनन करते-करते उन्हें उस तत्त्व में त्रुटि दीख पड़ने लगी—फिर चिर-चिंतन से उन्हें औचित्य तत्त्व का उद्भास हुआ और उन्होंने झट से "औचित्य-विचारचर्चा" रच डाला जिससे "कविकर्णिका" में जो कुछ त्रुटि रह गयी थी उसका मार्जन हो गया ॥ २–३ ॥

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ ४ ॥

यस्य काव्यस्य, जीवितं जीवनाधायकम्, औचित्यम् अनुरूपविधानरूपं, विचिन्त्यापि विचार्य्यापि, न दृश्यते न अवलोक्यते, तस्य काव्यस्य, अलङ्कारैरुपमारूपकादिभिः, अलम् असति प्राणे भूषणमिव व्यर्थमिति भावः, मिथ्यागणितैर्मृषाख्यातैर्गुणैरोजःप्रसादादिभिः किम्? न किमपीत्यर्थः। यत्र काव्ये रसजीवातुभूतौचित्यमेव नास्ति तत्र गुणालङ्कारादिचिन्तनक्लेशो मुधैवेति भावः ॥ ४ ॥

जिस काव्य में तदात्मतत्त्व अचित्य का कुछ भी लेश न हो वहाँ अलंकार तथा गुण का चिंतन सर्वथा निरर्थक है ॥ ४ ॥

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥ ५ ॥

अलङ्कारा अनुप्रासोपमादयः, अलङ्कारा एव बाह्यशोभाकराणि भूषणान्येव, एतेषामलङ्कार्य्यत्वाभाव इति बोध्यम्। गुणा ये च प्रसादमाधुर्यादयस्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद् गुणा एव, रससिद्धस्य शृङ्गारादिना प्रसिद्धस्य, काव्यस्य कविकृतेः, स्थिरमविनश्वरं, जीवितं जीवनम्, औचित्यं वक्ष्यमाणलक्षणं, सदृशविधानरूपम् उचितस्य भाव एव ॥ ५ ॥

बाह्य उपकरण होने के कारण अलंकार अलंकार ही हैं और अंतरंग होने पर भी गुण गुण ही हैं अर्थात् काव्य के जीवनाधायक नहीं हो सकते। हाँ, रस में ऐसी क्षमता है, परन्तु औचित्य से रहित होने पर वह भी कथमपि आनन्दसंदोहजनक नहीं हो सकते, इसलिये शृंगारादि रसों से प्रसिद्ध काव्य का जीवन औचित्य ही है ॥ ५ ॥

परस्परोपकारकरुचिरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालङ्कारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलङ्कारा एव, बाह्यशोभाहेतुत्वात्। येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद् गुणा एव, आहार्यत्वात्। औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालङ्कारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।

उक्तार्थमेव विवृणोति—परस्परेति। परस्परोपकारकरुचिरशब्दार्थरूपस्य अन्योन्यशोभाजनकसुभगशब्दार्थसमूहस्य काव्यस्य, उपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालङ्कारास्तन्नामकप्रभूतालङ्कारविशेषास्ते कटककुण्डलकेयूर

हारादिवल्लोकप्रसिद्धविविधभूषणवत्, अलंकारा एव भूषणान्येव, बाह्य-शोभाकरत्वात् शब्दार्थरूपशरीरशोभातिशायितया अलंकारकत्वेनालंकार्यत्वाभावादित्यर्थः। येऽपि काव्यगुणाः ओजःप्रसादमाधुर्यादयः, केचन कतिपये, आन्तरिकधर्मा गुणास्तल्लक्षणविचक्षणैर्गुणलक्षणाविष्कारकैर्विद्वद्भिः, समाम्नाता आख्यातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद् गुणा एव, अर्थात् गुणगुणिनोर्भेदस्य सर्वावदातत्वेन तेषामप्यात्मस्थानीयत्वाभाव इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—आहार्यत्वात् = आरोपविषयत्वात्–इति भावः। औचित्यन्तु वक्ष्यमाणलक्षणमनुरूपविधानरूपं, काव्यस्य स्थिरमविनश्वरं जीवितं जीवनम्। तेन औचित्येन विना अस्य काव्यस्य गुणालङ्कारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् काव्योद्देश्यीभूतविच्छित्तिविशेषसम्पादकत्वाभावात्। धातुपदव्यवहार्यैः रसैः सिद्धस्य प्रसिद्धस्य रूपवत्तयाख्यातस्येति यावत्। शरीरस्य नश्वरत्वेऽपि तदितर आत्मा यथा स्थिरस्तथैव रसेन शृङ्गारादिना प्रसिद्धस्य काव्यस्य औचित्यमेव निश्चितं जीवनमिति सारांशः।

जिस तरह यथास्थान विन्यस्त कटक, कुंडल, केयूर, हार आदि लौकिक आभूषण शरीर की शोभा को बढ़ाते हुए परंपरया आत्मा में भी विशेष गुणाधान करते रहते हैं उसी तरह उपमा, उत्प्रेक्षा आदि शास्त्रीय अलंकार रसादि का उपकारक होते हुये भी काव्य के अलंकार (भूषण) ही हो सकते हैं, आत्मा (अलंकार्य) नहीं। कारण, अलंकार बाह्य धर्म हैं और आत्मा आन्तर पदार्थ है। इसी तरह ओजः, प्रसाद आदि गुण आत्मधर्मिक होने पर भी गुण ही हैं गुणी अर्थात् काव्यात्मा नहीं, क्योंकि ये गुण भी आहार्य हैं—पीछे आरोपित होते हैं—अर्थात् उनको छोड़कर भी अपनी सत्ता कायम रख सकते हैं फिर उन्हें आत्मा कैसे कहा जा सकता है। कारण, आत्मा तो वह पदार्थ है जिसके बिना सत्ता ही नहीं रह सके। अतः जैसे धातु शब्द से व्यवहृत रसों से प्राणी का शरीर नश्वर होकर भी संसार में प्रसिद्धि तो पाता है, पर आत्मा उससे भिन्न अविनश्वर पदार्थ ही माना जाता है, वैसे ही काव्य रस से जगत् में प्रसिद्धि लाभ करता है, आत्मा तो उसका स्थिरतत्त्व औचित्य ही है। तात्पर्य यह है कि जैसे प्राणि-शरीर में पंच महाभूत सबसे स्थूल और धातु उससे सूक्ष्म हैं, पर आत्मा उससे भी सूक्ष्म तत्त्व है। उसी तरह काव्य में शब्द, अर्थ और उसके धर्म अलंकार सबसे स्थूल तत्त्व हैं, रस तथा रसधर्म गुण उनसे सूक्ष्म तत्त्व अवश्य हैं, पर आत्मा का स्थान उनसे भी सूक्ष्म तत्त्व औचित्य को ही दिया जा सकता है।

उक्तार्थस्यैव विशेषमाह—

उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥ ६ ॥

मूलार्थमेव विवृण्वन्नाह—उचितेति। अलङ्कृतिर्लौकिकालङ्कारोऽपि, उचितस्थानविन्यासात् यथोचितस्थाने साधुन्यासादेव, अलङ्कृतिरलङ्कारपदवाच्यो भवितुमर्हति। एवमेव औचित्यादच्युता अपरिभ्रष्टा एव गुणा गुणा भवन्ति, गुणतामासादयन्ति ॥

मूल अर्थ पर ही विशेष प्रकाश डालने के अभिप्राय से कहा जा रहा है—उचितेति। अलंकार तथा गुण तभी अलंकार एवम् गुण कहलाने की क्षमता रखते हैं जब वे औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाते, अर्थात् उचित स्थान में विन्यस्त अलंकार ही अलंकार और उचित स्थान में प्रदर्शित गुण ही गुण कहला सकते हैं अन्यथा नहीं ॥ ६ ॥

अलङ्कृतिरुचितस्थानविन्यासादलङ्कर्तुं क्षमा भवति, अन्यथा त्वलङ्कृतिव्यपदेशमेव न लभते। तद्वदौचित्यादपरिच्युता गुणा गुणतामासादयन्ति अन्यथा पुनरगुणा एव।

यदाह—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता-
मौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्तार्थमेवोदाहरणादिना स्पष्टयति—अलङ्कृतिरिति। अलङ्कृतिः भूषणसमूहः, उचितस्थानविन्यासादेव, अलङ्कर्तुं भूषयितुं, क्षमा समर्था भवति। अन्यथा उचितस्थानविन्यासाभावे, अलङ्कृतिव्यपदेशमेव अलङ्कारपदवाच्यत्वमेव, न लभते = न प्राप्नोति। स्थूलव्यत्ययेनालङ्कृतीनां शोभाविशेषजनकत्वापेक्षया भद्रभावनाराहित्यस्यैव द्योतनत्वमुपपद्येतेति भावः। तद्वदौचित्यादपरिच्युताः तथैव औचित्यादहीना एव गुणा गुणतामासादयन्ति गुणपदवाच्या भवन्ति, अन्यथा औचित्यराहित्ये पुनरगुणा एव। कापुरुषादीनां शौर्यादिवर्णनेऽनन्विततया रसादिपोषणापेक्षया तद्व्याघातस्यैव सम्भावनेति बोध्यम्।

गुणालङ्कारयोरनौचित्येन गुणालङ्कारतेति दर्शनाय उदाहरणमुपस्थापयति—यदाहेति । कण्ठे इति । कण्ठे गले, मेखलया काञ्च्या, हारस्थाने मेखलाधारणेनेति भावः, वा अथवा, नितम्बफलके कटिप्रदेशे, तारेण निर्मलेन, हारेण मौक्तिकेन, मेखलास्थाने हारधारणेनेत्यर्थः, पाणौ करे, नूपुरबन्धनेन, प्रणते शरणागते, शौर्येण वीरताप्रदर्शनेन, रिपौ शत्रौ, करुणया दयाप्रदर्शनेन, के मनुष्याः, हास्यताम् उपहासयोग्यतां, न आयान्ति = न प्राप्नुवन्ति ? सर्वेऽपि प्राप्नुवन्त्येवेति भावः । औचित्येन विना अलङ्कृतिर्गुणा वा रुचिं शोभां न प्रतनुते न विस्तारयति । गुणपक्षे प्रतन्वते इति वचनविपरिणामेनान्वयः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त अर्थ को ही उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिये कहा जा रहा है अलङ्कृतिरिति । औचित्यरक्षण की मर्यादा ही अलंकार तथा गुणों को अलंकार एवं गुण की संज्ञा देती है । उसके बिना न अलंकार अलंकार (भूषण) हो सकता है और न गुण गुण ही । जैसे कर्णफूल (जो कि एक सुन्दर कर्णाभरण है) को कान के बदले नाक में पहन लेने पर वह नायिका के सौन्दर्य का पोषण न कर शोषण ही करता है । अथवा शौर्य (जो कि एक विलक्षण गुण है) का वर्णन किसी वीर के प्रसंग में न करके किसी कायर के प्रसंग में किया जाय तो वहाँ रसादि पुष्ट न होकर दुष्ट ही हो जाता है । फिर वे अलंकार और गुण कहलाने का दावा कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् औचित्य ही वह तत्त्व है जो कि अलंकार को अलंकार और वण को गुण कहलाने का अवसर प्रदान करता है ।

औचित्य-सुरक्षा के अभाव में अलंकार और गुण किस तरह अपनी महत्ता खो देते हैं, इसी को दिखाने के लिये कहा जा रहा है—कण्ठे इति । यदि कोई कामिनी, कंठ में कांची, कमर में हार, हाथ में पायजेब और पैर में केयूर पहनले तो उसकी मूर्खता पर कौन उसकी हंसी नहीं उड़ायगा ? इसी तरह यदि कोई पुरुष शरणागत पर वीरता का और शत्रु पर दया का भाव दिखाये तो वह भी अवश्य उपहास का पात्र समझा जायगा । सत्य बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार शोभा प्रदान करते हैं और न गुण आकृष्ट ही कर सकते हैं ॥ ६ ॥

किं तदौचित्यमित्याह—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ ७ ॥

यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते, तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति।

यदौचित्यं काव्यजीवातुभूतमङ्गीक्रियते किं तत्स्वरूपमित्याकाङ्क्षायाम् 'उचितं प्राहुराचार्याः' इत्युक्तं ग्रन्थकारेण तस्येदं तात्पर्यम्— यस्य वस्तुनः यत् किल निश्चयेन, सदृशम् अनुरूपं, तत् आचार्याः काव्यतत्त्वविदः उचितं, प्राहुः कथयन्ति, तस्योचितस्य च यो भावस्तदेव औचित्यं प्रचक्षते कथयन्ति यत्किलेति पङ्क्तेराशयः स्पष्ट एव ॥ ७ ॥

जो औचित्य काव्य के जीवन के रूप में अंगीकृत किया गया है उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये कहा जा रहा है— उचितं प्राहुरिति। जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाता है और उसी के भाव को विद्वानों ने औचित्य की संज्ञा दी है ॥ ७ ॥

अधुना सकलकाव्यशरीरजीवातुभूतस्यौचित्यस्य प्राधान्येनोपलभ्य स्थितिं दर्शयितुमाह—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥ ८ ॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥ ९ ॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥१०॥

एतेषु पदप्रभृतिषु स्थानेषु मर्मस्विव काव्यस्य सकलशरीरव्यापि जीवितमौचित्यं स्फुटत्वेन स्फुरदवभासते ॥

अधुना सम्प्रति, सकलकाव्यशरीरजीवातुभूतस्य निःशेषकाव्यवपुर्जीवनाधायकस्य औचित्यस्य, प्राधान्येन, न तु निःशेषेण, एतेन निर्दिष्टस्थलातिरिक्तस्थलोपलभ्यत्वमप्यौचित्यस्येति सूचितम्। उपलभ्यां प्राप्यां स्थितिं विद्यमानत्वं, दर्शयितुमाहेत्यवतरणग्रन्थः। निम्नलिखितस्थलेषु मुख्यतयौचित्यमुपलभ्यत इति तदर्थः। पदे इति (१) पदे सुप्तिङन्तरूपे शब्दे इत्यर्थः, (२) वाक्ये पदसमूहे, (३) प्रबन्धार्थे प्रबन्धस्य कुमारसंभव-रघुवंशादेरर्थेऽभिधेये, (४) गुणे ओजःप्रसादादौ, (५) अलङ्करणे उपमोत्प्रेक्षाद्यलङ्कारे, (६) रसे शृङ्गारादिरसे, (७) क्रियायां पचति-भवतीत्यादिपदबोध्ये, (८) कारके कर्तृ-कर्मरूपे, (९) लिङ्गे स्त्री-पुं-नपुंसकरूपे, (१०) वचने एकवचन-द्विवचनादौ, (११) विशेषणे विशेष्यगतगुणाख्यापके,

(१२ उपसर्गे क्रियायोगाश्रिते प्र-परादिरूपे, (१३) निपातेऽद्रव्यार्थके च-वा-हेत्यादिरूपे, (१४) काले समये, (१५) देशे स्थानविशेषे, (१६) कुले वंशपरम्परायाम्, (१७) व्रते नियमविशेषरूपे, (१८) तत्त्वे तत्त्वाख्याने यथावद्वस्तुवर्णन इत्यर्थः, (१९) सत्त्वे सत्त्वस्यान्तर्बलस्य वर्णनायाम्, (२०) अभिप्राये तात्पर्ये, (२१) स्वभावे प्रकृतौ, (२२) सारसंग्रहे निष्कृष्टार्थकथने, (२३) प्रतिभायां नवनवोन्मेषशालिबुद्धिरूपायाम्, (२४) अवस्थायां वयःक्रमे, (२५) विचारे विवेचनायां, (२६) नाम्नि संज्ञाभिधाने, (२७) आशिषि आशीर्वादे। एतेषु च काव्याङ्गेषु व्यापि व्यापकं, जीवितं जीवनमौचित्यमेव प्राहुर्मनीषिण इति भावः। एतद्ग्रन्थाशयमेव स्फोरयत्येतेष्विति। अयं भावः—कारिकोक्तं पदादिक्रमादायैव काव्यशरीरं संपन्नं भवति। एवञ्च पदादिकं काव्यस्य शरीरस्य हस्तादिकमिव लघ्वंशभूतम्, सकलतदंशव्यापिनस्तत्त्वस्यौचित्यस्यात्मत्वमुचितं न तु रसादेस्तस्य सकलतदंशव्यापित्वविरहात्। किञ्च काव्ये कारिकोक्तपदादिभिन्नोऽप्यंशः संभवति चेत्? भवतु नाम, किन्तु मर्मभूता अंशास्त एव। तथा च यथा प्राणिशरीरगतमर्मस्थानेषु जायमानेनाघातेन प्राणोत्क्रमणक्रमेण जीवस्तच्छरीरं जहाति तथैव काव्यशरीरगतमर्मस्थलेषु पदादिषु व्याघाते चमत्काराजननद्वारौचित्यं काव्यं परिहरति, येन तदकाव्यमेव सम्पद्यते॥ ८-१०॥

औचित्य का क्षेत्र यद्यपि बहुत विस्तृत है, काव्य में ही नहीं अपितु लोक में भी सब जगह औचित्य का ही साम्राज्य दृष्टिगोचर हो रहा है, फिर इसकी गणना कर निश्चित संख्या बताना आसान काम नहीं है। तथापि दृष्टान्त के रूप में ग्रंथकार ने सत्ताईस स्थानों का निर्देश किया है जो कि निम्नलिखित हैं :—

(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्धार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार. (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद, अर्थात् काव्य के मर्म के समान इन स्थानों में औचित्य की स्पष्ट प्रतीति होती है। सारांश यह है कि जैसे प्राणि-शरीर के प्रत्येक अंश में व्याप्त तत्त्व का नाम आत्मा होता है, उसी तरह काव्यशरीर के उक्त सभी अंशों में रहने वाले तत्त्व "औचित्य"

आत्म-संज्ञा प्राप्त करता है, और जैसे प्राणि-शरीर के मर्मभूत स्थानों पर आघात होने से प्राण-निष्क्रमण द्वारा आत्मा शरीर को त्याग देता है, उसी तरह काव्य-शरीर के मर्मभूत पूर्वोक्त स्थानों में किसी प्रकार की गड़बड़ी होने से औचित्य काव्य का परित्याग कर देता है। फिर वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं रह जाता है ॥ ८-१० ॥

तेषूदाहरणानि क्रमेण दर्शयितुमाह—

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ॥ ११ ॥

एकमेवोचितं पदं तिलकायमानं बिभ्राणा सूक्तिः समुचितपरभाग-शोभातिशयेन रुचिरतामावहति।

उपर्युक्तौचित्योदाहरणप्रदर्शनक्रमे प्रथमं पदगतौचित्यं विवेचयति-तिलकमिति। कस्तूरीकृतं मृगमदविरचितं श्याममिति यावत्, तिलकम् विशेषकं, बिभ्रती धारयन्ती, चन्द्राननेव गौरवर्णनायिकेव, चान्दनं श्रीखण्डद्रवकल्पितं धवलमिति यावत्, तिलकं, बिभ्रती, श्यामेव श्याम-वर्णा कामिनीव च तिलकं तिलकवदाचरत्, एकमप्युचितं पदं किमुत बहूनि पदानि, बिभ्रती, सूक्तिः काव्यरूपा वाक्, भाति शोभते, इत्यर्थः वृत्त्यर्थः स्पष्ट एव।

जैसे शरदिन्दुवदना सुन्दरी के ललाट पर कस्तूरीविरचित श्याम तिलक और श्यामवर्णा कामिनी के भाल पर श्वेत चन्दन का एक भी टीका उनके सौन्दर्य में चार चांद लगा देता है वैसे ही एक भी समुचित पद-पदान्तर की शोभा को बढ़ाती हुई संपूर्ण सूक्ति (काव्यात्मक वाणी) में अपूर्व मधुरिमा का संचार कर देता है ॥ ११ ॥

यथा परिमलस्य—

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले,
नाथास्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः,
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ॥

पदगतमौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा परिमलस्येति। मग्नानीति। हे देव! राजन्! त्वत्खड्गधाराकुले त्वत्खड्गप्रवाहेणाकुले व्याप्ते, अस्मिन् सद्योजाते, समरे युद्धे, द्विषतां शत्रूणाम्, कुलानि समूहाः, नाथ!

स्वामिन्! मग्नानि लीनानि, इति एवंभूतायां वन्दिवाचि वन्दिजन-समुच्चारितवाण्यां, पुरा, बहुशोऽनेकवारं, श्रुतायामाकर्णितायां सत्यां, मुग्धा सरलचित्ता, गुर्जरभूमिपालमहिषी गुर्जरभूमिपालस्य गुर्जरपृथ्वीपतेः, महिषी राज्ञी, पाथसो जलस्य, प्रत्याशया पिपासामभिसान्त्वयितुम्, आशाविशेषेण, कान्तारे वने, चकिता सती, पत्युः स्वामिनः, कृपाणे खड्गे, दृशौ नेत्रे, विमुञ्चति प्रक्षिपतीत्यर्थः।

पदगत औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा परिमलस्येति। मग्नानीति—जंगल में सरल हृदयवाली गुर्जर देश की सम्राज्ञी चकित होकर अपने पति की तलवार को दोनों आँखों से देख रही है और कह रही है कि—हे नाथ! बन्दीजनों के मुख से पहिले मैंने अनेकों वार सुन रखा है कि युद्ध में आपके तलवार की धारा के जल में शत्रुओं के झुंड के झुंड डूब गये हैं, परन्तु अभी इसकी धारा के जल से मेरी प्यास क्यों नहीं बुझ पाती? बेचारी रानी इतनी भोली है कि उसे पता नहीं कि इस खड्गधारा को प्यास मिटाने की क्षमता नहीं है, शत्रुओं को भले ही डुबा दे। यह पद्य गुर्जरराजविजेता किसी राजा की स्तुति में किसी कवि के द्वारा कहा गया है।

अत्र मुग्धापदेनौचित्यचमत्कारिणा सूक्तिः शरदिन्दुवदनेव श्यामतिलकेन श्यामेव शुभ्रविशेषकेण विभूषिता सकलकविकुलललामभूतां विच्छित्तिमातनोति।

अत्र अर्थौचित्यचमत्कारिणाभिधेयौचित्यचमत्कारप्रवणेन, मुग्धापदेन मुग्धेतिपदप्रयोगेण, सूक्तिः, श्यामतिलकेन कस्तूर्यादिघटितकृष्णबिन्दुना, विभूषिता, शरदिन्दुवदना शरच्चन्द्रानना गौरीति यावत्, इव, शुभ्रविशेषकेण श्रीखण्डद्रवतिलकेन, विभूषिता, श्यामा श्यामवर्णा नायिकेव च, सकलकविकुलललामभूतां समस्तसरसजनस्पृहणीयां विच्छित्तिं चमत्कारम्, आतनोति विस्तारयतीत्यर्थः। कृपाणधारातः पिपासाशान्तिमिच्छन्त्याः गुर्जरराजमहिष्याः मुग्धेतिविशेषणतया प्रयोगं कुर्वाणः कविः सम्पूर्णमपि पद्यं चमत्कारचर्चितमिवाकरोदिति सुतरां पदगतौचित्यमत्रेति।

उपर्युक्त पद्य में अर्थौचित्य के कारण चमत्कार को उत्पन्न करने वाले मुग्धा (भोली) पद के प्रयोग से यह सूक्ति श्याम तिलक से चन्द्रानना एवम् स्वच्छ तिलक से श्यामा की तरह समस्त सरस सम्प्रदाय के हृदय में एक अपूर्व ही

चमत्कार चमका देती है। तात्पर्य यह है कि जो गुर्जरराजमहिषी इतना भी नहीं समझ पाती कि खड्गधारा से जलधारा की तरह प्यास नहीं बुझ सकती उसके लिए मुग्धा पद का प्रयोग कितना वाञ्छनीय है, इसका अनुभव कोई सहृदय ही कर सकता है।

न तु यथा धर्मकीर्तेः—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान्स्वीकृतः,
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

पदगतौचित्यं प्रदर्श्य सम्प्रति तदनौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—नतु यथेति लावण्येति। कस्या अप्यलौकिककान्तिमय्याः कामिन्याः सौन्दर्यवर्णनेयम्, लावण्यद्रविणव्ययो लावण्यं सौन्दर्यरूपमेव यद् द्रविणं द्रव्यन्तस्य व्यय न, गणितः संख्यातः, महानतिशयः, क्लेशो दुःखं तन्निर्माणे श्रम इ यावत्, स्वीकृतोऽङ्गीकृतः, स्वच्छन्दस्य स्वतन्त्रस्य, सुखं वसतो निश्चिन्त तया सुखपूर्वकं तिष्ठतो निश्चिन्तजीवनं यापयत इति भावः, जन मानवस्य कृते इति शेषः, चिन्ताज्वरश्चिन्तारूपतापमयरोगविशे निर्मितो रचितः। तुल्यरमणाभावादनुरूपप्रियतमाभावात्, एषापीयम वराकी दुःखदग्धेति भावः, स्वयमेव नतु परेण हता नष्टा, (तर्हि) तन्व्य कृशाङ्ग्याः, तनुं शरीरं, तन्वता सृजता, वेधसा विधात्रा, चेत चित्ते, कोऽर्थः—कोऽभिप्रायः, विनिहितः स्थापित इति न जाने-इति शेष

पदगत औचित्य को दिखलाकर अभी तद्गत अनौचित्य को दिखलाने के लि कहा गया है—नतु यथेति। किसी अलौकिक कान्तिमयी कामिनी की प्रशंसा कवि कह रहा है कि विधाता ने इस तन्वी की शरीर-रचना कर अपने हृदय किस लाभ की आशा की थी पता नहीं, क्योंकि इसके निर्माण में सौन्दर्य-सा का जो अपार व्यय हुआ उसकी तो गिनती ही नहीं की, ऊपर से परिश्रम खूब ही करना पड़ा। इस तरह अपनी हानि तो हुई ही, साथ ही आज स्वच्छन्द और सुखमय जीवन बितानेवाले पुरुषजाति के हृदय में कामिनी-जिज्ञा जगाकर चितारूप एक व्याधि की सृष्टि कर दी। इतना ही नहीं, अनु प्रियतम के अभाव में यह बेचारी खुद भी बेमौत मारी गयी। यदि ब्रह्मा

इसके योग्य किसी पुरुष की रचना करने की क्षमता नहीं थी तो संसार में इस तन्वी की सृष्टि कर लाभ क्या हुआ, यह वही जानें।

अत्र "तन्व्याः" इति पदं केवलशब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं न काञ्चिदर्थौचित्यचमत्कारकणिकामाविष्करोति। "सुन्दर्याः" इत्यत्र पदमनुरूपं स्यात्। अन्यानि वा निरतिशयरूपलावण्यव्यञ्जकानि। तन्वीपदं तु विरहविधुररमणीजने प्रयुक्तमर्थौचित्यशोभां जनयति।

उपपादयति—अत्रेति। उपर्युक्तपद्ये "तन्व्याः" इतिपदं केवलशब्दानुप्रासव्यसनितया केवलं 'तनुं तन्वता' इत्यत्रोक्ततकारानुप्रासाग्रहितया, निबद्धं योजितं, न काञ्चित् कामपि, अर्थौचित्यचमत्कारकणिकाम् वाच्यौचित्यचमत्कारकणम्, आविष्करोति जनयति। अत्र तन्व्या इति पदस्थाने सुन्दर्या इति पदम् अनुरूपं समुचितप्रयोगयोग्यं स्यात्। नन्वेवं छन्दोभङ्ग इति चेत्तत्राह—अन्यानीति इतराणि वा, निरतिशयरूपलावण्यव्यञ्जकानि विलक्षणरूपसौन्दर्यप्रतिपादकानि, प्रयोगयोग्यानि स्युरिति शेषः। वस्तुतस्तु छन्दोभङ्गप्रसङ्गोऽकिञ्चित्करः। "कान्तामिमां तन्वता" इत्येवं निर्माणे दोषाभावात्। तन्वीपदं तु विरहविधुररमणीजने वियोगक्षामकामिनीलोके प्रयुक्तं सदर्थौचित्यशोभां वाच्यौचित्यचारुतां जनयति। इह तु तदन्यथाप्रयुक्तमित्यौचित्यक्षयान्नितरां सहृदयहृदयहानिरिति बोध्यम्।

उपर्युक्त पद में तन्वी शब्द का प्रयोग केवल तकारानुप्रास के आग्रह से किया गया है। यथार्थतः यहाँ इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है, क्योंकि दुर्बलता वियोग का स्वाभाविक गुण है अतः इस पद का प्रयोग केवल विरहविधुर रमणीजनों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। यहाँ तो कवि का अभिप्राय उत्कृष्ट सौन्दर्य वर्णन से है फिर तो सुन्दरी, कान्तिमयी इत्यादि विलक्षण सौन्दर्यव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग ही उचित था ऐसा न करके कवि ने एक भारी भूल की है। इस एक मात्र पद के अनौचित्य से पूरा का पूरा पद्य प्राणहीन-सा मालूम पड़ता है। यही "तन्व्यास्तनुं तन्वता" की जगह यदि "कान्तामिमां—तन्वता" ऐसा पाठ कर दिया जाय तब कान्ता पद से अनुरूप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के द्वारा औचित्य की रक्षा हो सकती है।

यथा श्रीहर्षस्य—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः,
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ।।

तन्वीपदसमानार्थकस्य कृशाङ्गीपदस्यानुरूपप्रयोगं दर्शयितुमाह-यथा श्रीहर्षस्येति । परिम्लानमिति—रत्नावलीनाटिकाप्रधाननायिकायाः सागरिकाया विरहावस्थासूचकम् पद्यमिदम् । पीनस्तनजघनसङ्गात् पीनयोः अतिस्थूलयोः, स्तनयोर्जघनयोश्च, सङ्गात्सम्पर्कात्, उभयत उभयत्र, परिम्लानं शुष्कप्रायं, तनोः क्षीणस्य, मध्यस्य मध्यभागस्य, परिमलनं सङ्घर्षणम्, अप्राप्य न लब्ध्वा, अन्तर्मध्ये, हरितं स्वाभाविकरूपेण हरिद्वर्णकमेव स्थितमित्यर्थः, स्तनयोर्जघनयोश्चात्युच्चत्वेनाधोमुखं शयानाया नायिकाया मध्यभागस्य शय्यासम्पर्कविरहितत्वेन तत्रत्यशय्यायाः स्वाभाविकत्वं सुतरां सम्भवतीति बोध्यम् । श्लथभुजलताक्षेपवलनैः श्लथे शिथिले ये भुजलते बाहुवल्लर्यौ, तयोराक्षेपवलनैराकुञ्चनप्रसारणैः, व्यस्तन्यासं व्यस्तो विपरीतो न्यासः स्थापनं यस्य तथाभूतम्, इदं पुरोवर्ति बिसिनीपत्रशयनं कमलपत्रशय्या, कृशाङ्ग्यास्तन्व्याः, सन्तापं विरहज्वरज्वालां वदति कथयति ।

तन्वी शब्द के समान अर्थ रखने वाले कृशांगी पद का समुचित प्रयोग दिखाने के लिये कहा गया है यथा—श्रीहर्षस्येति । परिम्लानमिति यह श्लोक 'रत्नावली नाटिका' से उद्धृत किया गया है—इसमें लंकेशकुमारी सागरिका की विरहावस्था का सजीव चित्र खींचा गया है । वत्सराज उदयन के विरह में सागरिका विह्वल हो गयी है । अंग सूखकर कृश हो गये हैं, विरहज्वर की ज्वाला से कहीं भी उसे शान्ति नहीं मिलती, जिधर ही आँखें फिरती है उधर ही उद्वेजक दृश्य दीख पड़ते हैं । अतः अधोमुख होकर कमलदलकल्पित शय्या पर पड़ी रहती है । इस स्थिति में परितापसूचक अन्य चिह्नविशेष के न रहने पर भी उसके संताप के संबन्ध में किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह कमलपत्र की बनी शय्या (जिस पर वह सोई रहती है) ही उसके संताप को प्रकट कर रही है । कारण, उस शय्या के पार्श्वदेश (दोनों बगल) उच्च कुच तथा स्थूल जघनों के संपर्क से मलिन हो रहे हैं, पर शय्या का मध्य भाग कृश मध्य-उदर-भाग के स्पर्श को न पाकर हरा-ताजा बना हुआ है और

उस शय्या की रचना तो सर्वत्र शिथिल बाहुवल्लरी के आकुंचन-प्रसारण से अस्तव्यस्त हो ही गयी है। ऐसी शय्या को देखकर भी क्या किसी दर्शक को उस पर लोटती हुयी कामिनी के संताप को समझने के लिये किसी से पूछने की आवश्यकता पड़ सकती है ? कभी नहीं।

अत्र सागरिकाया विरहावस्थासूचकं "कृशाङ्गयाः" इति पदं परमौचित्यं पुष्णाति ।। ११ ।।

उपपादयन्नाहात्रेति। उक्तश्लोके, सागरिकाया लङ्केशकुमार्याः, विरहावस्थासूचकं वियोगस्थितिव्यञ्जकम्, "कृशाङ्गयाः" इतिपदं, परमौचित्यम् औचित्यस्य परां काष्ठां, पुष्णाति पोषयति ।। ११ ।।

यहाँ पर लंकेशकुमारी सागरिका के लिये वत्सराज उदय के वियोग को सूचित करने वाले कृशांगी पद का प्रयोग अत्यन्त समीचीन होने के कारण पाठकों को अपूर्व आनन्द प्रदान करता है ।। ११ ।।

वाक्यगतौचित्यं दर्शयितुमाह—

औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम् ।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम् ।। १२ ।।

औचित्यरचितं वाक्यं काव्यविवेकविचक्षणानामभिमततमम् ।

पदगतौचित्यं प्रदर्श्य सम्प्रति द्वितीयं वाक्यगतौचित्यप्रदर्शनायाह—औचित्येति। औचित्यरचितम् औचित्याभिनिवेशपूर्वकं निर्मितं, वाक्यं पदसमूहः, त्यागोदग्रं त्यागेन दानादिनोदग्रमुदात्तमैश्वर्यं, विभूतिरिव, शीलोज्ज्वलं शीलेन सत्स्वभावेन, उज्ज्वलं प्रशस्तं, श्रुतं शास्त्रमिव, सततं सर्वदा, सतां सज्जनानां, सम्मतमभिमतमभीष्टमित्यर्थः। अस्यैव निर्गलितार्थमाह—औचित्यरचितमिति। औचित्यरचितं वाक्यं, काव्यविवेकविचक्षणानां काव्यालोचनचतुराणां, विदुषाम्, अभिमततमं निरतिशयमभीष्टमिति भावः।

पदगत औचित्य को दिखाकर अभी क्रमागत द्वितीय वाक्यगत औचित्य का प्रदर्शन करने के लिये कहा गया है—औचित्येति। जैसे दान आदि के द्वारा संपत्ति की उदात्तता और दाक्षिण्यादि गुणों के द्वारा विद्या की उज्ज्वलता सज्जनों के लिये विशिष्ट स्थान रखती है वैसे ही औचित्य को ध्यान में रखकर की गयी वाक्यरचना काव्यालोचकों के लिये सर्वदा स्पृहणीय बनी रहती है। इसी आशय को सीधे शब्दों में वृत्ति के द्वारा स्पष्ट किया है। औचित्यरचितमिति—

औचित्य की मर्यादा से युक्त वाक्य-विन्यास काव्यालोचनचतुरों का अत्यन्त प्रिय होता है।

यथा मम विनयवल्ल्याम्—

देवो दयावान्विजयो जितात्मा यमौ मनः संयममाननीयौ।
इति ब्रुवाणः स्वभुजं प्रमार्ष्टि यः कीचकालिककालदण्डम्॥
धीरः स किर्मीरजटासुरारिः कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा।
दृष्टो हिडिम्बादयितः कुरूणां पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः॥युग्मकम्॥

वाक्यगतमौचित्यमुदाहर्तुमाह-यथा ममेति। देव इति। देवो युधिष्ठिरः, दयावान् दयाशीलः, विजयोऽर्जुनः, जितात्मा विजितात्मव्यापारो, यमौ नकुलसहदेवौ, मनःसंयममाननीयौ मनसश्चित्तस्य संयमेन वशीकरणेन, माननीयौ मानार्हौ, इति पूर्वोक्तरूपेण, ब्रुवाणः—कथयन्, यः (भीमसेनः) कीचकाकालिककालदण्डे कीचकाय तन्नामकनृपविशेषाय विराटश्यालकायेति भावः, अकालिकमसामयिकं कालदण्डं कृतान्तलगुडमिव वर्तमानं, स्वभुजं निजबाहुदण्डं, प्रमार्ष्टि प्रमार्जयति, दयादिभिर्हेतुभिर्युधिष्ठिरादयः शत्रुशातने नितरामसमर्था इति स्वभुजस्यैव संवलत्वेन तत्परिमार्जनमुचितमेवेति भावः। किर्मीरजटासुरारिः किर्मीरा चित्रविचित्रा, जटा केशग्रन्थिर्यस्यैवंभूतो योऽसुरो राक्षसः, तस्यारिर्घातकः, कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा कुबेरस्य धनाधिपस्य, शौर्यस्य शूरतायाः, प्रशमस्य विनाशस्योपदेष्टा, कुरूणां कौरवाणां, दुर्योधनादीनां, पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः पर्यन्तरेखाया जीवनान्तलेखायाः, गणनायां संख्याने, कृतान्तो यमराडिव वर्तमानः गुरुकुलविनाशकारक इत्यर्थः, हिडिम्बादयितो हिडिम्बायास्तन्नामकासुरकन्यकायाः, दयितः प्रियतमो, धीरो गम्भीरः स भीमसेनो दृष्टोऽवलोकितो लोकैरिति शेषः।

वाक्यगत औचित्य के उदाहरणस्वरूप ग्रंथकार ने स्वरचित विनयवल्ली नामक पुस्तक में से यह पद्य उद्धृत किया है। धर्मराज युधिष्ठर अत्यन्त दयावान् हैं, अर्जुन बलवान् होते हुए आत्मविजेता भी हैं, नकुल और सहदेव चित्तवृत्ति के संयम में पूर्ण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, ऐसी स्थिति में इनलोगों के द्वारा शत्रुसंहार असंभव है ऐसा कहता हुआ जिसने कीचक के लिये दूसरे यमदंड के समान आचरण करने वाले अपने बाहुयुगलों को चढ़ाना शुरू कर दिया, किर्मीर-

जटा वाले असुर विशेष का विघातक, कुबेर की वीरता का विनाशक, कुरुकुल की जिन्दगी का अन्त करने वाला, हिडिम्बा का पति, अत्यन्त धैर्यशाली वह भीमसेन देखा गया।

अत्र भीमस्य भीमचरितोचितकीचकाकालिककालदण्डहिडिम्बादयितादिभिः पदैरुन्निद्ररौद्रस्वरूपानुरूपो वाक्यार्थः सजीव इव भासते।

अत्र पद्यद्वये भीमस्य युधिष्ठिरानुजस्य, भीमचरितोचितकीचकाकालिककालदण्डहिडिम्बादयितादिभिः भीमचरित्रानुरूपतत्तद्विशेषणोपादानैरुन्निद्ररसानुरूपं उदबुद्धरौद्ररसोचितो वाक्यार्थः सजीवः प्राणवानिव, भासते शोभते। अत्रौचित्यस्य पदाधिकस्थितिमत्तया वाक्यगतत्वमित्यवसेयम्।

उपर्युक्त पद्यों में भीमसेन की प्रकृति के अनुकूल कीचकाकालिक कालदंड, हिडिम्बादयित आदि पदों का प्रयोग रौद्ररस को जगाता हुआ सहृदयों के मानसपटल में अपूर्व आनन्द प्रदान करता है, जिससे पूरा का पूरा वाक्यार्थ सजीव के समान प्रतिभासित हो रहा है। अनेक पदव्यापी होने के कारण ही यह वाक्यगत औचित्य का उदाहरण हुआ।

अथवा राजशेखरस्य—

> **सम्बन्धी पुरुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-**
> **गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः ।**
> **सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युति-**
> **श्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः ॥**

वाक्यगतौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयत्यथवा राजशेखरस्येति। **सम्बन्धीति**। हे सुन्दरि! पुरुभूभुजां पुरुवंशोद्भवराज्ञां, सम्बन्धी सम्पर्की, पुरुवंशस्य चन्द्रत एवोत्पत्तिरिति तत्सम्बन्धः स्फुट एव। मनसिजस्य कामस्य, व्यापारस्य व्यवहारस्य, दीक्षायाः शिक्षणस्य, गुरुरुपदेष्टा, उद्दीपकत्वादिति भावः। गौराङ्ग्या गौरवर्णायाः (नायिकायाः), वदनस्याननस्य, उपमया परिचितः, कामिनीमुखोपमाभूत इति यावत्, तारा नक्षत्राण्येव वध्वः पत्न्यस्तासां वल्लभः प्रियतमः, सद्योऽचिरादेव, मार्जितानां परिष्कृतानां, दाक्षिणात्यानां दक्षिणदेशोद्भूतानां, तरुणीनां

युवतीनां, दन्तानां, याऽवदाता निर्मला द्युतिः शोभा, सेव द्युतिर्यस्य सः, दन्तचन्द्रयोरुभयोरपि समुज्ज्वलत्वेन युक्तोपमेति बोध्यम्। चण्डीशस्य शिवस्य, चूडाया मौलिग्रन्थेर्मणिर्भूषणमिव वर्तमानोऽयं लब्धोदयश्चन्द्रः सुधांशुरितः पूर्वस्यां दिशि दृश्यतामवलोक्यतां त्वयेति शेषः।

आलोचक कवि राजशेखर के द्वारा रचित यह पद्य वाक्यगत औचित्य के द्वितीय उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है। सम्बन्धीति—नायिका को अनुकूल बनाने के लिये उगते हुये चन्द्र को लक्ष्य कर नायक कह रहा है—अये सुन्दरि ! देखो पूरब दिशा में चन्द्र उग आये हैं, जो कि भगवान् शंकर के शिरोभूषण, तारातरुणी के तरुण प्रियतम और पौरवों के कुल के मूल ही नहीं, अपितु कामकला के शिक्षक, गौरांगी के मुख की उपमा से परिचित, तथा दाक्षिणात्यकामिनी के सद्योमार्जित धवल दन्तपंक्ति के समान स्वच्छ भी हैं।

अत्रापि चन्द्रमसः शृङ्गारान्तरङ्गैरनङ्गोद्दीपनैः पदैर्निर्वर्तितो वाक्यार्थः सर्वथौचित्यसामर्थ्येन समुचितार्थवशेनात्यर्थमत्यन्तमर्थनीयतां प्राप्तः।

अत्रापि चन्द्रमसः, शृङ्गारान्तरङ्गैः शृङ्गारानुकूलैरनङ्गोद्दीपनैः कामोत्तेजकैः, मनसिजव्यापारदीक्षागुरुरित्यादिभिः पदैर्निर्वर्तितो निष्पादितो वाक्यार्थः, सर्वथौचित्यसामर्थ्येन समुचितार्थवशेनात्यर्थमत्यन्तमर्थनीयतामुपादेयतां, प्राप्तो गतः, चन्द्रमसो विशेषणीभूतैरौचित्यपोषकैः—कियद्भिः पदैर्वाक्यगतौचित्यं पोष्यते इति भावः।

इस पद्य में भी शृङ्गाररसोद्दीपक "मनसिजव्यापारदीक्षागुरुः" इत्यादि पदों के द्वारा पूरे वाक्य का अर्थ औचित्य की महिमा से अत्यन्त उपादेयता को प्राप्त कर गया है, अर्थात् चन्द्रमा के विशेषण में कहे गये समुचित पदों के प्रयोग से पूरे वाक्य में औचित्य का आधान हो रहा है। इसलिये यह भी वाक्यगत औचित्य का उदाहरण सिद्ध होता है।

न तु यथास्यैव—

> **नाले शौर्यमहोत्पलस्य विपुले सेतौ समिद्वारिधेः**
> **शश्वत्खड्गभुजङ्गचन्दनतरौ क्रीडोपधाने श्रियः।**
> **आलाने जयकुञ्जरस्य सुदृशां कन्दर्पदर्पे परं**
> **श्रीदुर्योधनदोष्णि विक्रमपरे लीनं जगन्नन्दतु॥**

वाक्यगतौचित्यस्योदाहरणद्वयं प्रदर्श्य सम्प्रति तद्गतानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—ननु यथास्यैवेति । नाले इति । शौर्यं शूरतैव महद् विशदमुत्पलं कमलं, तस्य, नाले दण्डस्वरूपे, समितो युद्धान्येव वारिधिः समुद्रस्तस्य, विपुले महति, सेतौ बन्धरूपे, शश्वत्समन्तात्, खड्गः कृपाणः एव भुजङ्गः सर्पस्तस्य कृते, चन्दनतरौ श्रीखण्डवृक्षे, यथा सर्पाणां चन्दनतरुरेवैक आश्रयस्तथैव खडगस्यापि दुर्योधनबाहुरेवैकमात्रमाधार इति भावः । श्रियो लक्ष्म्याः सम्पत्तेरित्यर्थः, क्रीडोपधाने खेलोपबर्हरूपे, जयकुञ्जरस्य विजयस्वरूपहस्तिन आलाने बन्धनसाधने शृङ्खलारूपे इत्यर्थः, सुदृशां दीर्घलोचनानां, परमुत्कृष्टं यथा स्यात्तथा, कन्दर्पदर्पे मनसिजगर्वरूपे, विक्रमपरे पराक्रमशालिनि, श्रीदुर्योधनदोष्णि शोभाशीलदुर्योधनबाहौ, लीनं निमज्जितं, जगत् संसारः, नन्दतु प्रसीदतु । अनेकविशेषणविशिष्ट-श्रीदुर्योधनभुजच्छायायां विश्रान्तोऽयं समग्रः संसारः परमानन्दमासादयत्वित्यर्थः । एतेनैतद्बाहुदण्ड एव राजदण्डधारणक्षम इत्यपि सूचितम् ।

वाक्यगत औचित्य के पूर्वोक्त दो उदाहरणों को दिखाकर अभी तद्गत अनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—ननु यथास्यैवेति । अर्थात् राजशेखर के इस श्लोक में अनौचित्य के कारण पूरा वाक्यार्थ ही उपहासास्पद हो रहा है । नाले इति—महाराज दुर्योधन की पराक्रमशालिनी बाहु (जो कि वीरता कमलिनी का नालदंडरूप, युद्ध-समुद्र का बाँध रूप, खड्गभुजङ्गमों के लिये चन्दनवृक्षरूप, राज्यश्री का क्रीड़ोपधान (सिरहानी) रूप, विजयकुंजर को वश में करने वाला शृंखलारूप, मृगलोचनाओं के लिये कामदेव के अखर्व (गर्वरूप है) की छत्रच्छाया में विश्रान्त यह सारा संसार परमानंद को प्राप्त करे ।

अत्रातिशयपरकर्कशसोत्कर्षसुभटभुजस्तम्भस्यासमुचितेन कुवलयनालतुलाधिरोपणेन वाक्यार्थः सोपहासतयेव निबद्धः परिज्ञायते ॥ १२ ॥

अत्र पद्येऽतिशयेन नितरां, परस्मै शत्रवे, कर्कशः कठिनः, सोत्कर्षं उत्कृष्टवीरतापादकः, सुभटस्य श्रेष्ठवीरस्य, यो भुजस्तम्भो बाहुदण्डस्तस्यासमुचितेनाननुरूपेण, कुवलयनालतुलाधिरोपणेन कोमलकमलदण्ड-साम्यप्रतिपादनेन वाक्यार्थः सोपहासत्वेनोपहासास्पदत्वेनेव निबद्ध-

उल्लिखितः परिज्ञायतेऽवबुद्धयते। वीरोचिततादृशकठिनविशेषणविशि दुर्योधनदोष्णि कोमलकमलनालसाम्यप्रतिपादनं नितरामयुक्तमित्यभि तवीररसाभिव्यक्तौ व्याघातः समुत्पद्यतेऽत एवानौचित्यात्सम्पूर्णमे वाक्यमुपहासास्पदमिति सारांशो वेदितव्यः ॥ १२ ॥

उपर्युक्त पद्य में वर्णित दुर्योधन की बाँह में जहाँ उतने कठिन विशेष प्रयुक्त किये गये हैं वहाँ कोमल कमलनाल की समता का कथन अत्यन्त अनुचि हैं, जिसने वीररस-बोधनरूप कवि का तात्पर्य अपुष्ट हीन होकर सहृदयों हृदय में उपहासास्पद भी प्रतीत होता है। इस लिये यह वाक्यगत औचित्य ज्वलंत उदाहरण सिद्ध होता है। ॥ १२ ॥

प्रबन्धार्थौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः ॥ १३ ॥

पदवाक्यगतयोरौचित्ययोर्विवेचनां विधाय सम्प्रति तृतीयं प्रबन्ध र्थगतौचित्यं विचारयितुमाह—**उचितार्थेति**। उचितार्थविशेषेण समुचि र्थवैशिष्ट्येन, प्रबन्धार्थो महावाक्यात्मकप्रबन्धाभिधेयः, गुणप्रभा दाक्षिण्यादिगुणोत्कर्षेण, भव्यं स्पृहणीयं, तेन विभवेनैश्वर्येण, सज्ज सत्पुरुष इव, प्रकाशते शोभते इत्यर्थः।

पद और वाक्यगत औचित्य की विवेचना करके अब तीसरे प्रबन्धार्थ औचित्य का विचार किया जा रहा है—उचितार्थ इति। जैसे दयादाक्षिण्य गुणों के वैशिष्ट्य से विभूषित ऐश्वर्य के द्वारा सज्जन पुरुष सुशोभित होते वैसे ही अनुरूप अर्थविशेष के कारण संपूर्ण प्रबन्ध का अर्थ अत्यन्त हृदय होता है।

अम्लानप्रतिभाप्रकर्षोत्प्रेक्षितेन सकलप्रबन्धार्थाप्यायिपीयूष समुचितार्थविशेषेण महाकाव्यं चमत्कारकारितामापद्यते।

कारिकार्थमेव विवृण्वन्नाह-अम्लानेति। अम्लानोज्ज्वला या प्रति नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिस्तस्याः प्रकर्ष आधिक्यं, तेनोत्प्रेक्षितेनो वितेन, सकलस्य सम्पूर्णस्य, प्रबन्धस्यार्थस्य काव्यग्रन्थविशेषार्थ यावत्, आप्यायी परिप्लावकः, सरसतासम्पादक इति यावत्, यः पी

वर्षोऽमृतवर्षणं, तेन तद्रूपेणेति यावत्, समुचितार्थविशेषेणौचित्यानुप्राणितार्थेन, महावाक्यं सर्गबन्धात्मककाव्यविशेषः, स्फुरद्भासमानमिव, चमत्कारितामलौकिकानन्दजनकतामापद्यते प्राप्नोतीति भावः ।

उपर्युक्त कारिका का ही तात्पर्य व्यक्त करने के लिये कहा गया है—अम्लानेति । विलक्षण प्रतिभा के द्वारा उत्प्रेक्षित, संपूर्ण प्रबन्धार्थ को सुधाशीकर के समान आप्लावित करने वाले अनुरूप अर्थ से महाकाव्य अत्यन्त स्पृहणीयता को प्राप्त करता है, अर्थात् अलौकिक आनन्दजनक हो जाता है ।

यथा कालिदासस्य—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं विधिपरवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

प्रबन्धार्थगतौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा कालिदासस्येति । जातमिति । पुष्कराश्चावर्तकाश्चेति पुष्करावर्तकास्तत्तन्नामकमेघविशेषास्तेषां भुवनविदिते संसारप्रसिद्धे, वंशेऽन्वये, जातमुत्पन्नम्, एतेन मेघस्याभिजात्यमभिसूचितं, कामरूपमिच्छाधीनविग्रहं, मघोन इन्द्रस्य, प्रकृतिपुरुषं प्रधानामात्यं, त्वां मेघं, जानामि परिचिनोमि, तेनोदात्तकुलप्रसूतत्वेन परोपकारकरणक्षमतया, दूरबन्धुः कान्तावियोगविधुरोऽहम् अनिर्दिष्टनामा यक्षः, विधिपरिवशाद्दैवयोगात्त्वयि तवाग्र इति भावः, अर्थित्वं याचकत्वं, गत उपेतः । उत्तमजने याचनहेतुमाह—अधिगुण इति । अधिगुणेऽधिकगुणशालिनि, याच्ञा याचना, मोघाऽसफलाऽपि, वरं श्रेष्ठम्, अधमे नीचपुरुषे, लब्धकामा सफलापि, न श्रेष्ठेति भावः ।

प्रबन्धार्थगत औचित्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—जातमिति । प्रस्तुत पद्य महाकवि कालिदास के प्रबन्धकाव्य मेघदूत से लिया गया है । प्रिया के वियोग से विधुर यक्ष मेघ के द्वारा अपनी प्रेयसी को संदेश भेजने का औचित्य प्रदर्शित कर रहा है । हे मेघ ! पुष्कर और आवर्तक नामक महामेघ के उदात्त कुल में उत्पन्न, देवेन्द्र के प्रधान पुरुष और कामनानुकूल शरीर धारण करने वाले तुमको मैं अच्छी तरह जानता हूँ । सत्कुलप्रसूत व्यक्ति पर-पीड़ा का आदर

अवश्य करता है और वह संभवतः परोपकारी भी हुआ करता है, इसलिये मैं विधिविडम्बनावश कान्तावियोगजन्य क्लेश को पाकर तुमसे सन्देश पहुँचाने की याचना करता हूँ क्योंकि कापुरुष के द्वारा सफल की गयी याचना की अपेक्षा सत्पुरुष के द्वारा विफल बनाई गयी याचना भी कहीं श्रेष्ठ है।

अत्राचेतनस्य चेतनाध्यारोपेण मेघस्य दौत्ययोग्यताधानाय प्रथितपुष्करावर्तकपर्जन्यवंश्यत्वममात्यप्रकृतिपुरुषत्वञ्च यदुपन्यस्तं तेन समस्तप्रबन्धस्योत्प्रेक्षितेतिवृत्तप्रचिरतरस्य निरतिशयमौचित्यमुद्योतितम्।

अत्राचेतनस्याप्राणिनश्चेतनाध्यारोपेण प्राणित्वारोपेण मेघस्य, दौत्ययोग्यताधानाय दूतकर्मकारित्वस्थापनाय, प्रथितपुष्करावर्तकपर्जन्यवंश्यत्वं प्रसिद्धपुष्करावर्तककुलप्रसूतत्वम्, अमात्यप्रकृतिपुरुषत्वञ्चेन्द्रसचिवप्रधानव्यक्तित्वञ्च, यदुपन्यस्तं यस्मात्प्रतिपादितं, तेन उत्प्रेक्षितं कल्पितं यदितिवृत्तमितिहासस्तेन रुचिरतरस्य समस्तप्रबन्धस्य, निरतिशयमत्यन्तं यथा स्यात्तथौचित्यमनुरूपत्वमुद्योतितं प्रकाशितम्।

यहाँ मेघ के द्वारा (जो कि चेतन न होकर एकमात्र जड पदार्थ है) संदेश पहुँचाने की कामना की गयी है, यह बात असंगत कही जा सकती थी, परन्तु खुद यक्ष ने ही इसका भी परिहार कर दिया है, अर्थात् वंशगत उच्चता के साथ ही मेघ में व्यक्तिगत महत्ता भी है। ऐसे व्यक्ति से पर-पीड़ा की अवहेलना की आशा नहीं की जा सकती, इसलिये मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। साथ ही अपनी असफलता का भान भी उसे है ही, उसी के निराकरण के लिये अन्तिम पद के द्वारा आत्मतोष कर रहा है। इस तरह अचेतन में चेतन का आरोप कर मेघ में दूतकारिता की स्थापना करने के लिये वंशगत और व्यक्तिगत उच्चता का जो वर्णन किया गया है उससे कल्पित इतिहास भी संगत प्रतीत होने लगता है, जिससे सम्पूर्ण प्रबन्ध ही औचित्य से चमत्कृत हो उठता है।

यथा वा भवभूतेः—

(नेपथ्ये)

योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः॥

लवः—(सगर्वमिव।) अहो सन्तापनान्यक्षराणि। भो, भोः!

किमक्षत्रिया पृथिवी यदेवमुद्घुष्यते। (विहस्य) आः किं नाम स्फुरन्ति शस्त्राणि। (धनुरारोपयन्)

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम्॥

प्रबन्धार्थगतौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—यथा वा भवभूतेरिति। नेपथ्ये इति। रङ्गमञ्चपृष्ठभागगतप्रसाधनस्थाने इत्यर्थः! योऽयमिति। अयं निकटस्थो योऽश्वो घोटकः, इयमेषा, विधेयभूतायाः पताकाया वीरघोषणाया वाऽनुसारेण स्त्रीलिङ्गनिर्देशः, उद्देश्यविधेययोरैक्यमापादयत्सर्वनाम पर्यायेणान्यतरलिङ्गभाग्भवतीति नियमात्, सप्तलोकैकवीरस्य सप्तसु भूरादिषु लोकेषु भुवनेषु, एकवीरस्य मुख्यशूरस्य, दशकण्ठकुलद्विषो रावणवंशविनाशकस्य रामचन्द्रस्येति यावत्, पताका विजयध्वजः, अथवा वीरघोषणा पराक्रमसूचको डिण्डिमध्वनिरिति भावः। किं प्रयोजनोऽयमश्वः परिवृतः पर्यटति ? इति लवसहचरबटुगणकृतप्रश्नस्योत्तरमिदं पद्यमिति बोध्यम्।

तच्छ्रवणानन्तरं लवस्य प्रतिक्रियां वर्णयति—लव इति। लवो वाल्मीकेराश्रमे पाल्यमानो जानकीपुत्रः, सगर्वमिव साभिमानं यथा स्यात्तथा, अहो खेदसूचकमव्ययमेतत् सन्तापनानि क्रोधजननद्वारा दाहकानि, अक्षराणि योऽयमश्वः इत्यादीनीति भावः। भो भोः अरेऽरे अक्षत्रिया क्षत्रिय (वीर) विहीना, पृथिवी मेदिनी, किमिति प्रश्ने, यदेवं येनैवं प्रकारेण, उद्घुष्यते घोषणा क्रियते। (विहस्य हसित्वा)। आः शस्त्राण्यस्त्राणि, स्फुरन्ति विद्योतन्ते, किं नाम ? अश्वहरणार्थमुद्यतानामस्माकमुपरि प्रहाराय सैनिकैः शस्त्राणि समुत्तोल्यन्ते किम् ? इति भावः। (धनुः कार्मुकमारोपयन्सज्जयन्)। ज्याजिह्वयेति। ज्या मौर्वी, सैव जिह्वा रसना तया वलयिते वेष्टिते, उत्कटकोटी उग्राग्रभागावेव, दंष्ट्रे दशने यस्य तत्, उद्गारिण उद्गच्छन्तः, घोरा भयानकाः, घनाः सान्द्राः, घर्घरघोषा घर्घरेत्याकारकशब्दा यस्य तत्, एतत् मद्धस्तवर्ति, चापं धनुर्ग्रासे कवलने, प्रसक्तं संलग्नमत एव हसत् उपहासमिव कुर्वत् यदन्तकस्य कृतान्तस्य, वक्त्रं मुखं तदेव यन्त्रं तस्य; जृम्भाया व्यादानस्य, विडम्बि अनुकारि,

अत एव विकटं भयानकम्, उदरं, यस्य तत् तादृशमिति भावः, अस्तु जायताम् ।

प्रबन्धार्थगत औचित्य का ही द्वितीय उदाहरण दिखलाने के लिये भवभूति-रचित उत्तररामचरित का एक अंश उद्धृत किया जाता है—नेपथ्ये इत्यादि। लंकाविजयानंतर अयोध्यावासी राम ने सीता-परित्याग के बहुत बाद में अश्वमेध यज्ञ करने की कामना से लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु की संरक्षकता मे यज्ञीय अश्व को छोड़ा। वह अश्व घूमता हुआ जब वाल्मीकि आश्रम के निकट वन में पहुँचा, तब वहाँ सीतातनय लव के साथ खेलते हुए बालब्रह्मचारियों ने अश्वरक्षक सैनिकों से पूछा किस लिये सैनिकों से वेष्टित यह अश्व पर्यटन कर रहा है? इसी के उत्तर में नेपथ्य से सैनिक कह रहे हैं—योऽयमश्व इत्यादि। अर्थात् यह जो अश्व आप देख रहे हैं वह सातों भुवनों में सर्वश्रेष्ठ वीर, रावणवंश-विनाशक, रामचन्द्र की विजयपताका है, अथवा अतुल पराक्रमसूचक डिंडिम-ध्वनि है।

लवः (सगर्वमिति)—उपर्युक्त घोषणा के द्वारा अन्य वीरों पर जो आघात पहुँचाया गया था वह लव से सहा नहीं गया, उसकी स्वाभाविक वीरता जग गयी, वह साभिमान बोला, अरे रे! इस घोषणा के अक्षर तो बड़े ही क्लेशकर हैं, अरे बकने वालो! क्या पृथिवी क्षत्रियों से विहीन हो गयी जो तुम इस तरह बोल रहे हो? (फिर कुछ हँस कर) हमारे ऊपर प्रहार करने के लिये विपक्षियों के शस्त्र चमक रहे हैं क्या?—(धनुष को सम्हालता हुआ) बोला अपनी प्रत्यञ्चारूपीजिह्वा से आवेष्टित, उन्नतकोटिरूप दाँतों से युक्त और निकलते हुए भयानक घने घर्घर शब्दों वाला, मेरा यह धनुष निगलने में तत्पर, हँसता हुआ, यमराज के यंत्ररूप मुख की जमुहाई की नकल करने वाला अतएव भयंकर उदर (मध्यभाग) वाला हो जाय।

अत्रार्थे रामायणकथातिक्रमेण नूतनोत्प्रेक्षिता रामतनयस्य सहज-विक्रमानुसारिणी शौर्योत्कर्षभूमिः परप्रतापस्पर्शासहिष्णुता प्रबन्धस्य रसबन्धुरामौचित्यच्छायां प्रयच्छति ।

अत्रार्थे, रामायणकथातिक्रमेण रामायणकथापरित्यागेन, नूतनोत्प्रे-क्षिता अतिनवीनविन्यस्ता, रामतनयस्य लवस्य सहजविक्रमानुसारिणी

स्वाभाविकपराक्रमानुरूपिणी, शौर्योत्कर्षभूमिर्वीरताप्राचुर्यस्थानं, परप्रतापस्पर्शासहिष्णुता परकीयतेजोऽसहनशीलता, प्रबन्धस्य सम्पूर्णकाव्यस्य, रसबन्धुरां वीरादिरसस्पृहणीयाम्, औचित्यच्छायामौचित्यावरणं, प्रयच्छति ददाति।

पूर्वोक्त अर्थ में यद्यपि रामायण कथा का अतिक्रमण करके एक नवीन ही कथा की सृष्टि की गयी है, जो कि वास्तविक बात न होकर सर्वथा कविकल्पित है, परन्तु फिर भी राम के पुत्र लव के लिये दूसरे के प्रताप को नहीं सह सकने की जो स्वाभाविक वीरता का वर्णन किया गया है, उससे संपूर्ण प्रबन्ध एक अनिर्वचनीय रसानुभूतिदायक औचित्य से आप्लावित हो उठा है।

नतु यथा राजशेखरस्य—

रावणः—यत्पार्वतीहठकचग्रहणप्रवीणे पाणौ स्थितं पुरभिदः शरदां सहस्रम्।
गीर्वाणसारकणनिर्मितगात्रमत्र, तन्मैथिलीक्रयधनं धनुराविरस्तु॥
जनकः—आविरस्तु सममगर्भसम्भवया सीतया।

प्रबन्धार्थगतमनौचित्यं दर्शयितुमुपन्यस्यति—न तु यथा राजेति। जानकीस्वयंवरे समुपस्थितस्य राक्षसाधिपतेः रावणस्योक्तिरियम्—यदिति। पार्वत्या उमायाः, हठेन हठपूर्वकं, यत्कचग्रहणं केशस्पर्शः, तत्र प्रवीणे दक्षे, पुरभिदः शंकरस्य, पाणौ हस्ते, यद्धनुः, शरदां सहस्रं सहस्रवर्षपर्यन्तं, स्थितमतिष्ठत्, गीर्वाणानां देवानां, सारस्य तत्त्वस्य अस्थ्यादेर्वा, कणेन कणिकया, निर्मितं रचितं, गात्रं वपुर्यस्य तत् मैथिल्या जानक्याः, क्रयस्य स्वायत्तीकरणस्य, धनं द्रविणस्वरूपं मूल्यरूपमिति यावत्, तत् धनुः कार्मुकम्, अत्र सभास्थले, आविरस्तु प्रकटीभवतु।

इति रावणवचनश्रवणानन्तरं स्वयंवरस्य रचयिता महाराजो जनकः कथयति—आविरस्त्विति। अगर्भसंभवयाऽज्ञातगर्भावभासकष्टया, स्वत उद्भूतयेत्यर्थः, सीतया जानक्या, समं साकं, (तद्धनुः) आविरस्तु उपतिष्ठताम्।

प्रबन्धार्थगत अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कविवर राजशेखर का यह पद्य-उद्धृत किया गया है। इसमें सीतास्वयंवर में सम्मिलित राक्षसपति रावण कह रहा है कि—जो धनुष पार्वती के केशपाश से हठपूर्वक खेलने वाले

भगवान् शंकर के कर में हजारों वर्ष तक रह चुका है। देवताओं के तेज से निर्मित जो कि अभी जनकतनया को खरीदने का मूल्य सा हो रहा है, वह (धनुष) यहाँ प्रत्यक्ष होवे।

रावण के इस वचन को सुनकर महाराज जनक ने भी कहा कि स्वतः उद्भूत जानकी के साथ वह धनुष प्रगट होवे।

अत्र 'आविरस्तु समं सीतया' इति जनकराजेन यदुच्यते तेनास्य पिशिताशनाय तनयाप्रतिपादनमभिमतमिवोपलक्ष्यते। नचैतद्विद्मः कथं भक्ष्यभूता कुसुमकोमलाङ्गी पुरुषादाय प्रतिपाद्यते, इत्यनौचित्येन प्रसिद्धं वृत्तवैपरीत्यं परं हृदयविसंवादमादधाति।

अत्र प्रकरणे सीतया सममाविरस्तु—इति जनकराजेन यदुच्यते, तेन तत्कथनेन, अस्य जनकराजस्य पिशिताशनाय मांसभोजिने राक्षसाय रावणायेत्यर्थः, तनयाप्रतिपादनं कन्याप्रदानम्, अभिमतमभीष्टमिवोपलक्ष्यते विज्ञायते। भक्ष्यभूता खाद्यभूता मानवा राक्षसानां खाद्या भवन्तीति भावः, कुसुमकोमलाङ्गी पुष्पमसृणावयवा, पुरुषादाय नरभक्षकाय, कथं प्रतिपाद्यते किमर्थं प्रदीयते, एतच्च नैव, विद्मो जानीमः, इत्यनौचित्येनानुचिततया, प्रसिद्धं विख्यातं, वृत्तवैपरीत्यमितिवृत्तवैरुद्ध्यं, परमत्यन्तं हृदयविसंवादं चित्तासदृशमादधात्युपस्थापयति।

उपर्युक्त कथनोपकथन में राजा जनक के कथन से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस राक्षस को कन्या देना उन्हें जैसे अभिमत हो, पर नरभक्षक को कुसुमकोमलांगी कन्या कैसे दी जा सकती है ? अतः इस उक्ति से वृत्तवैपरीत्य—अर्थात् इतिहासप्रसिद्धि विपरीत स्थिति (जो अनौचित्यरूप में प्रसिद्ध है) की अत्यधिक हृदयासहमति को उपस्थित करता है।

यथा वा कालिदासस्य—

ऊरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं कृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत्॥

प्रबन्धार्थानौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणं प्रदर्शयितुं पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगवर्णनप्रसङ्गे कालिदासेन निर्मितं पद्यमिदं कुमारसंभवस्याष्टमसर्गादुद्धृत्येहोपस्थापयन्नाह—**यथा वा कालिदासस्येति**। ऊरुमूलेति, तत्क्षणं

प्रातःकालीनवायुसेवनकाले, ऊरुमूले जघनारम्भे, स्थितानां नखमार्गाणां नखक्षतानां, याः पङ्क्तयो राजयस्ताभिर्हृते वशीकृते विलोचने नयने यस्य सः, हरस्य कर्त्रंशे नित्यसाकांक्षत्वेन "देवदत्तस्य गुरुकुलम्" इति वत्समासः।

हरः शङ्करः, प्रशिथिलस्य जघनमूलात्सर्वथा भ्रष्टस्य, वाससो वसनस्य, संयमं यथास्थानन्यासं, कुर्वतीं विदधतीं, प्रियतमां प्रेयसीं पार्वतीमिति भावः, अवारयन्न्यवारयत् अर्थात् तद्दर्शनलालसया वासोबन्धनात्प्रियतमां निवारयाञ्चक्रे।

प्रबन्धार्थगत अनौचित्य का दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए ग्रंथकार ने कविवर कालिदासरचित कुमारसंभव के अष्टम सर्ग से यह श्लोक उद्धृत किया है। प्रातःकाल का समय हो रहा था, मलयानिल कुछ तीव्र गति से बह रहा था, रतिश्रमज शीकरों से क्लिन्न होकर जगदम्बा और परमेश्वर कंठाश्लेष को शिथिल करके वायुसेवन कर रहे थे, उस समय पार्वती अपने ऊरुमूलविगलित वसन को पुनः यथास्थान धारण करने की चेष्टा करने लगी, परन्तु उनके जघनमूल में दीख पड़ते हुए नखक्षत की पंक्तियों ने भगवान् शंकर की आँखें अपनी ओर आकृष्ट कर लीं, अतः उन्हें बार बार देखने की लालसा से परमेश्वर ने अपनी प्रियतमा को शिथिल वस्त्र को पुनः यथास्थान धारण करने से रोक लिया।

अत्राम्बिकासंभोगवर्णने पामर नारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति ॥ १३ ॥

अत्र पद्ये अम्बिकासंभोगवर्णने जगदम्बासंभोगवर्णनप्रसङ्गे, त्रिजगद्गुरोस्त्रिलोकीपतेः, भगवतस्त्रिलोचनस्य, पामरनारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वम् अधमाङ्गनोचितनिस्त्रपकल्पनखक्षतविभासितजघनमूलाकृष्टनेत्रत्वं यदुक्तं तेन प्रबन्धार्थो वाक्यबन्धाभिप्रायः परं निरतिशयमनौचित्यमेव पुष्णाति (अर्थादुदात्तस्तरयोर्व्यक्त्योर्निखिलमपि कर्मोदात्तमेव समुचितमिह तु त्रैलोक्याधिपतेः शङ्करस्य, सकललोकैकलामभूताया जगदम्बायाश्च जनवदाचरणमत्यन्तमनुचित-

मिति भावः), उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनमेव प्रथममनुचितं, तत्रापि साधारणजनवत्तदीयसंभोगवर्णनन्तु नितरामनुचितमिति भावः ॥ १३ ॥

इस पद्य में जगदम्बा का वर्णन निम्न कोटि की (फूहड़) नारी के अनुरूप नखक्षतादि के द्वारा और त्रैलोक्याधिपति जगत्पिता शंकर का उसके दर्शन की तीव्र लालसा के द्वारा किया गया है, जो कि अत्यन्त अनुचित है, जिससे प्रबन्धार्थ में अनौचित्य का बड़ा ही विकट व्यवधान उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक तो उत्तम देवतास्वरूप पार्वतीपरमेश्वर का संभोग वर्णन ही अनुचित है। दूसरे साधारण मनुष्य के समान उनका संभोग वर्णन अत्यन्त ही अनुचित है। इसलिये यहाँ अनौचित्य अपरिहार्यरूप से उपस्थित हो जाता है ॥ १३ ॥

गुणौचित्यं दर्शयितुमाह—

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगावसरोदितः ॥ १४ ॥

प्रबन्धार्थौचित्यस्योदाहरण-प्रत्युदाहरणे प्रदर्श्य सम्प्रति क्रमानुगतञ्चतुर्थं गुणौचित्यं विवेचयितुमाह—प्रस्तुतार्थेति। प्रस्तुतार्थोचितो वर्णनीयार्थानुरूपो गुण ओजः-प्रसादादिः, काव्ये, भव्यः कुशलो मुख्यार्थोत्कर्षकारित्वात्मकस्वकर्तव्यनिपुण इति यावत्, सौभाग्यवान्सौष्ठवमुपेतः सन् संभोगावसरोदितः कान्तासम्पर्ककाले समुदितः प्रकाशितः, इन्दुश्चन्द्र इव आनन्दं मोदं, स्यन्दति प्रवाहयतीत्यर्थः।

प्रबन्धार्थगत औचित्य का उदाहरण—प्रत्युदाहरण दिखलाकर अभी अवसरप्राप्त चतुर्थ गुणगत औचित्य की विवेचना करने के अभिप्राय से कहा जा रहा है—प्रस्तुतार्थेति। प्रस्तुतार्थ के अनुरूप ही ओजः, प्रसाद आदि गुण काव्य में सुन्दर तथा अपने कर्तव्य में निपुण होते हैं और वह उसी तरह आनन्ददायक होते हैं जैसे कान्तासंगम के समय नवोदित चन्द्रमा।

प्रस्तुतार्थस्यौचित्येनौजःप्रसादमाधुर्यसौकुमार्यादिलक्षणो गुणः काव्ये भव्यः सौभाग्यवत्तामवाप्तः सहृदयानन्दसन्दोहमिन्दुरिव स्यन्दति।

कारिकार्थं विवृणोति—**प्रस्तुतार्थेति।** प्रस्तुतार्थस्य वर्ण्यमानार्थस्य, औचित्येन समुचितविन्यासेन, ओजःप्रसादादिलक्षणो वामनाभिमतो गुणो

दशसंख्याक इति यावत्, काव्ये कविकृतौ, भव्यः कल्याणात्मकः, सौभाग्यवत्तामवाप्तः निरतिशयाभिरामः, सहृदयानन्दसन्दोहं सहृदयहृदयामोदपरम्परामिन्दुश्चन्द्र इव स्यन्दति स्रावयतीत्यर्थः।

कारिका की ही व्याख्याकी जा रही है—प्रस्तुतार्थेति। वर्ण्यमान अर्थ के औचित्य से वामनसम्मत ओजः-प्रसाद-माधुर्यसौकुमार्य आदि दसों गुण काव्य में कान्तासंकर्प के अवसर पर उदित चन्द्रमा के समान स्पृहणीयता को प्राप्त करते है।

यथा भट्टनारायणस्य—

> महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
> प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः।
> रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः,
> कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥

गुणगतौचित्यस्योदाहरणं प्रदर्शयितुमुपन्यस्यति—यथा भट्टेति। महाप्रलयेति। महाप्रलयस्य कल्पान्तस्य, मारुतेन प्रचण्डवातेन, क्षुभितावान्दोलितौ, यौ पुष्करावर्तकौ पुष्करश्चावर्तकश्चेति तावेव प्रचण्डघनौ महामेघविशेषौ, तयोर्गर्जितस्य गर्जनस्य, प्रतिरवस्य प्रतिशब्दस्यानुकारी अनुकर्ता, श्रवणभैरवः कर्णभयप्रदः, स्थगितरोदसीकन्दरः स्थगिता पूरिता व्याप्तेति यावत्, रोदस्योर्द्यावापृथिव्योः, कन्दरा गुहा अन्तरालभाग इति यावत्, येन सः, अभूतपूर्वो नवीनोऽयं रवः शब्दः, अद्य पुरः पुरोवर्तियुद्धसमुद्रात्, कुतः कस्मात् कारणाद्, समायातीति शेषः।

गुणगत औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा भट्ट नारायणस्येति। महाप्रलयेति—महारथियों में विशिष्ट स्थान रखने वाला वीरपुंगव अश्वत्थामा कह रहा है कि प्रलयकालिक महावात से आन्दोलित महामेघ के गर्जव का अनुकरण करनेवाला, अतएव कानों के लिए महाभयंकर, पृथ्वी और आकाश को गुंजा देनेवाला यह अश्रुतपूर्व नाद आज युद्ध-समुद्र से क्यों उठ रहा है ?

अत्रौजस्विनो भटमुकुटमणेरश्वत्थाम्नः स्फूर्जदूर्जितप्रतापानुरूपं वाक्यमोजसा काव्यगुणेनोदग्रतामवाप्तं सहजगुणमिव विक्रमौचित्यगौरवमावहति।

अत्र पद्ये, औजस्विनस्तेजःशालिनः, भटमुकुटमणेर्वीरशिरोमणेरश्वत्थाम्नो द्रोणात्मजस्य, स्फूर्जंश्चमत्कुर्वन्नूर्जित उच्छ्रितश्च यः प्रतापस्तदनुरूपं तदनुकूलं वाक्यं पदसमूहः, ओजसौजोनाम्ना, काव्यगुणेनोदग्रतामौन्नत्यमुत्कृष्टतामिति यावत्, अवाप्तं प्राप्तं सत्, सहस्रगुणमिव सहस्रगुणीभूतमिव, विक्रमौचित्यगौरवं पराक्रमानुरूपगुरुतामावहति धारयति ।

इस पद्य में परमतेजःशाली, वीराग्रणी, अश्वत्थामा का उत्कृष्ट निजप्रतापानुरूप वाक्य ओजोनामक काव्यगुण से युक्त होने के कारण उन्नत होकर हजार गुना अधिक पराक्रमौचित्यजन्य गुरुता को धारण कर रहा है ।

यथा वा भट्टबाणस्य—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥

गुणगतौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—यथा वा भट्टबाणेति । हार इति । हारः पुष्पमाला, मौक्तिकमाला वा, जलार्द्रवसनं वारिसिक्तवसनं, नलिनीदलानि कमलिनीपत्राणि, प्रालेयशीकरमुचस्तुषारबिन्दुवर्षकाः, तुहिनांशुभासश्चन्द्रकिरणाः, सरसानि रसलग्नानि, शीतलानीति भावः, चन्दनानि श्रीखण्डद्रवाः, च समुच्चये, यस्य मनोभवाग्नेरित्यर्थः । इन्धनानि प्रज्वालकान्युपादानानि, उद्दीपकत्वादिति भावः, सन्तीति शेषः, स प्रसिद्धो मनोभवाग्निः कामाग्निः, कथं केन प्रकारेण, निर्वाणं शान्तिम्, एष्यति प्राप्स्यति ?, नह्येव विनङ्क्ष्यतीति भावः ।

गुणगत औचित्य का द्वितीय उदाहरण प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—यथा वा भट्टबाणस्येति । हार इति—फूल या मुक्ता की माला, भींगे वस्त्र, कमलिनी के पत्ते, तुषारबूंदों को टपकाने वाली चन्द्रमा की किरणें, प्रकृतिशीतल चन्दनद्रव इत्यादि जिस (कामाग्नि) के लिये इंधन का कार्य कर रहे हैं वह कामाग्नि कैसे बुझ सकती है ? तात्पर्य यह है कि इन शीतल उपकरणों के द्वारा जो इस कामाग्नि को शान्त करने की चेष्टा की जा रही है वह अत्यन्त असंभव है, क्योंकि ये तो सांसारिक ताप के ही प्रशामक हैं कामाग्निजन्य ताप के नहीं, उसके तो विवर्धक ही हैं. अतः उसका शमन न होकर विवर्धन ही होता रहेगा ।

अत्र विप्रलम्भभरभग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णनामाधुर्यसौकुमार्यादिगुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेव प्रियंवदत्वेन हृदयानन्ददायिनी दयिततमतामातनोति ।

उपर्युक्तपद्ये, विप्रलम्भस्य वियोगस्य, भरेणातिशयेन, भग्नं विनष्टं, धैर्यं यस्यास्तथाभूतायाः कादम्बर्याः, विरहव्यथाया विप्रयोगाधेर्वर्णना, माधुर्यसौकुमार्यादिगुणयोगेन माधुर्यसौकुमार्यादिगुणसम्बन्धेन, प्रियंवदत्वेन प्रियवादितया, पूर्णेन्दुवदना पूर्णचन्द्रानना कामिनीव, हृदयानन्ददायिनीं मनोह्लादकारिणीं, दयिततमतामतिप्रेमास्पदत्वमातनोति। अर्थात्—यथा कमनीयाकृतिः कामिनी प्रियवादितया हृदयानन्ददायिनी प्रियतमा च सम्पद्यते तथैव काव्यमपि समुचितगुणयोगेनातिशयस्पृहणीयताम-वाप्नोति।

उपर्युक्त पद्य में विरहविधुरा कादम्बरी की विरहव्यथा का वर्णन माधुर्य-सौकुमार्य आदि समुचित गुणों के सहयोग से वैसी ही लोकप्रियता को प्राप्त कर रहा है जैसे विधुवदना सुन्दरी अपने प्रियवचनों के द्वारा प्रियतमा और हृदय-हारिणी आदि विशेषणों से विभूषित होता है।

ननु यथा चन्द्रकस्य--

युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा दैवं नियच्छति जयञ्च पराजयञ्च।
एषैव मे रणगतस्य सदा प्रतिज्ञा पश्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम्॥

गुणगतानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह--ननु तथा चन्द्रकस्येति। युद्धे-ष्विति। भाग्यचपलेषु नियतिचञ्चलेषु युद्धेष्वाहवेषु मे मम, प्रतिज्ञा; जयविषयकः पणो न, (यतो हि) तत्र, जयं पराजयं च, दैवं भाग्यमेव नियच्छति वितरति, रणगतस्य संग्रामोपगतस्य, मे, सदा एषैव प्रतिज्ञास्ति यत्, रिपवः शत्रवो हयानाम् घोटकानां युद्धात्पराङ्मुखीभूतानामिति भावः, जघनं पश्चाद्भागं, न पश्यन्ति।

गुणगत अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—ननु यथेति। युद्धेष्विति—युद्ध की स्थिति विचित्र होती है, वहाँ जीत या हार के बारे में प्रतिज्ञा-पूर्वक पहले ही कुछ कह देना मेरे वश की बात नहीं है, वह तो पूर्णतः भाग्य पर ही अवलंबित रहती है, परन्तु हाँ यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है कि युद्ध से जी चुरा कर मोड़े गये घोड़े की जांघ शत्रु कभी नहीं देख सकते। तात्पर्य यह है कि वीरतापूर्वक लड़ना ही मेरा काम है जीत—हार को चिन्ता करना नहीं।

अत्र क्षात्रवृत्तिरिवौजसा काव्यगुणेनास्पृष्टा सुभटोक्तिरुचितार्थापि तेजोजीवितविरहिता दुर्गतगृहदीपशिखेव मन्दायमाना न विद्योतते ।

उपर्युक्तपद्ये ओजसा तेजसा, अस्पृष्टांऽशतोऽपि रहिता, क्षात्रवृत्तिः क्षत्रियजात्युत्पन्नजनाचरणमिव, ओजोनामकेन काव्यगुणेनास्पृष्टो-चितार्थाऽर्थौचित्ययुक्तापि, सुभटोक्तिर्विशिष्टवीरजनकथनं, तथैव न विद्योतते प्रकाशते । यथा दुर्गतानां दरिद्राणां, गृहे वाताघातादिसङ्कुले आवासे, स्थितस्य दीपस्य शिखा, तेजोजीवितविरहिता तेजोविकिरणा-त्मकनिजस्वभावशून्या, अत एव मन्दायमाना मन्दतामवलम्बमाना, न विद्योतते इति भावः ।

पूर्वोक्त पद्य एक सुन्दर योद्धा का उक्तिरूप है । उसका अर्थ यद्यपि उचित है अर्थात् उसका आशय वीरतोचित है, तथापि यह सुभटोक्ति चमकती नहीं । कारण यह है कि जिस तरह क्षत्रियों के आचरण में नैसर्गिक तेजस्विता का रहना आवश्यक है उसी तरह वीरों की उक्ति में भी ओजोगुण का रहना उचित है । ऐसी स्थिति में ओजोनामक काव्यगुण से सर्वथा रहित यह उक्ति उस दीपशिखा के समान दीप्तिविहीन है जो दरिद्रों के समुचित आवरणरहित घर में रहने के कारण प्राण-तुल्य प्रकाशात्मक निजनैसर्गिक स्वभाव से हीन होकर मन्द पड़ जाती है। तात्पर्य यह है कि काव्य में प्रतिपाद्य अर्थ के उपयुक्त ही शैली और भाषा का रहना भी अत्यावश्यक है, अन्यथा कवि का अभिप्रेत सिद्ध नहीं हो पाता । इन्हीं गुणों के अभाव में यहाँ की सुभटोक्ति भी प्राणहीन सी प्रतीत होती है ।

यथा वा राजशेखरस्य—

एतस्याः स्मरसंज्वरः करतलस्पर्शैः परीक्ष्यो न यः,
स्निग्धेनापि जनेन दाहभयतः प्रस्थम्पचः पाथसाम्
निर्वीर्यीकृतचन्दनौषधिविधौ तस्मिंस्तडत्कारिणो,
लाजस्फोटममी स्फुटन्ति मणयः सर्वेऽपि हारस्रजाम् ॥

गुणगतानौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमुपक्रमते—यथा वा राजशेखरस्येति । एतस्या इति । पाथसां जलानां, प्रस्थं द्रोणप्रमाणं पचति शोषयति उष्णं विधत्ते एवंभूतः, अत एव स्निग्धेनापि प्रियेणापि सरसेनापीति व्यज्यते (शुष्कापेक्षया सरसा अधिकतापसहा भवन्तीति

भावः), जनेन मानवेन, दाहभयतो दाहभीतेः, करतलस्पर्शैः पाणिस्पर्शैनं परीक्ष्यः, परीक्षितुमशक्य इत्यर्थः, एतस्या विरहज्वालावलीढायाः कामिन्या यः स्मरसंज्वरः कामज्वरतापः, अस्तीति शेषः, तस्मिन् ज्वरे अनिर्वीर्यो निर्वीर्यः कृतः इति निर्वीर्यीकृतः (अभूततद्भावेच्विः,) निष्प्रभावीकृत इति यावत्, चन्दनरूपस्य श्रीखण्डद्रवात्मकस्यौषधेर्भेषजस्य, चन्दनस्येतरतापशामकौषधिविशेषाणां वा विधिर्विधानं प्रयोग इति यावत्, येन तादृशम्, अर्थात् विफलितसकलप्रतिकारे सति, तडत्कारिणस्तडतडायमानाः, हारस्रजां माल्यानाम्, अमी पुरोवर्तमानाः, मणयो रत्नविशेषाः, लाजस्फोटं लाजानां स्फोटमिवेति भावः, स्फुटन्ति। यथाग्निसंयोगेन धान्यादिकं लाजादिरूपेण परिणमत् तडदित्यव्यक्तध्वनिं विधत्ते तथैवैतस्या विरहज्वालावलीढायाः कामज्वरतापेन माल्यगुम्फिता मणयस्तडतडायमाना लाजाइव द्विधा भवन्ति।

गुणगत अनौचित्य का द्वितीय उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—नतु यथेति। एतस्या इति। द्रोण (दस सेर) प्रमाण पानी को भी शुष्क कर देनेवाला इस वियोगिनी का कामज्वर जो कि अनुरक्त जनों के द्वारा भी जल जाने के भय से हाथ से छूकर परीक्षा करने योग्य नहीं है, चन्दन या अन्य शीतलताजनक औषधियों को भी विफल कर देनेवाली इस कामज्वर की दशा में इसके हार के सभी मणि तड़तड़ाहट के साथ लावा के समान फूट रहे हैं।

अत्र विरहविधुररमणीमनोभवावस्थानुरूपं माधुर्यमुत्सृज्य तडत्कारिणो लाजस्फोटं स्फुटन्तीत्योजःस्फूर्जितोर्जितस्वभावाधिवासिता सूक्तिर्लावण्यपेशलतनुर्ललितललनेव परुषभाषिणी झटित्यनौचित्यं चेतसि सञ्चारयति ॥ १४ ॥

उपर्युक्तमेव विवृणुते—अत्रेति। अत्र पद्ये विरहविधुराया वियोगपीडितायाः, रमण्याः कामिन्याः, मनोभवावस्थायाः कामदशायाः, अनुरूपमनुकूलं, माधुर्यं मधुरिमाणमुत्सृज्य परित्यज्य, "तडत्कारिणो लाजस्फोटं स्फुटन्ति" इत्याकारकपदविन्यासेनौजस ओजोगुणस्य, स्फूर्जितोर्जितस्वभावेन स्फूर्जदूर्जस्वलप्रकृत्याधिवासिता सुरभिता सुयुक्तेति यावत्, सूक्तिः सुभाषितं, लावण्यपेशलतनुः सौन्दर्यमसृणदेहा, परुषभाषिणी कटुभाषिणी,

ललितललनेव सुन्दरीयोषिदिव, झटिति शीघ्रमेव, चेतसि हृदये, अनौचित्यं विरसतां, सञ्चारयति प्रसर्पयति।

उपर्युक्त श्लोक में विरहविधुररमणीजनोचित माधुर्य गुण का अतिक्रमण करके "तड़तड़ा के लावा के समान फूट रहे हैं" इस प्रयोग से ऊर्जितस्वभाव वाले ओजोगुण का समावेश कर देने के कारण समूची सूक्ति ही कटुभाषिणी सुन्दरी के समान सहृदयों के हृदय में हठात् औचित्य का संचार कर देती है। अर्थात् विप्रलंभ शृङ्गार में माधुर्य गुण की स्थिति आवश्यक होती है ओजो गुण की नहीं, फिर माधुर्य के बदले ओजोगुणप्रतिपादक शब्दों का प्रयोग करना तो सहृदयों के हृदय में विरसता की सृष्टि कर देता है। अतः यह अत्यन्त ही अनुचित है ॥ १४ ॥

अलङ्कारौचित्यं दर्शयितुमाह—

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥ १५ ॥

गुणगतौचित्योदाहरण-प्रत्युदाहरणादिकं प्रतिपाद्य सम्प्रति पञ्चममलङ्कारगतौचित्यं विवृणुते—अर्थौचित्येति। अर्थौचित्यवता वर्णनीयार्थानुरूपेणालङ्कारेण रूपकोपमादिना, सूक्तिः सुभाषितं, पीनस्तनस्थितेन स्थूलपयोधरोपरि लोलता, हारेण मौक्तिकेन, हरिणेक्षणा मृगाक्षीव शोभते विभासते।

अलंकारगत औचित्य की विवेचना की जा रही है—अर्थौचित्येति। अर्थगत औचित्य से अनुप्राणित अलंकार से सूक्ति उसी तरह सुशोभित होती है जैसे उत्तुङ्ग पयोधर पर स्थित हार से मृगलोचना सुन्दरी।

प्रस्तुतार्थस्यौचित्येनोपमोत्प्रेक्षादिनालङ्कारेण सूक्तिश्चकास्ति कामिनीवोच्चकुचचुम्बिना रुचिरमुक्ताकलापेन।

विवृणुते— प्रस्तुतेति। प्रस्तुतार्थस्य प्रकृतार्थस्य, औचित्येनानुरूपतया निबद्ध्यमानेनेति शेषः, उपमोत्प्रेक्षादिनालङ्कारेण, सूक्तिः सुभाषितम् उच्चकुचचुम्बिनोत्तुङ्गस्तनस्पर्शशालिना, रुचिरमुक्ताकलापेन मनोहर हारेण, कामिनी सुन्दरीव, चकास्ति सुशोभते।

प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से युक्त उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अलंकार के द्वारा

सूक्ति कुचकुंभ के ऊपर हिलते हुए मुक्ताहार की शोभा से सुन्दरी के समान सुशोभित होती हैं।

यथा श्रीहर्षस्य—

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन् प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥

अलङ्कारगतौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा श्रीहर्षस्येति। विश्रान्तेति। विश्रान्ता विराममधिगता, विग्रहस्य संग्रामस्य, कथा चर्चा—यस्य सः (विजितसकलशत्रुकतयेत्थमुक्तिः), कामपक्षे विश्रान्ता नष्टा, विग्रहकथा शरीरचर्चा—यस्य सः, (अनङ्गत्वादेवमुक्तिः) रतिमान् आनन्दमयः, पक्षान्तरे रतिः कामपत्नी-तद्वान्, जनस्य लोकस्य, चित्ते हृदये, वसन् स्पृहणीयत्वाद्वर्तमानः, पक्षान्तरे मनोभवत्वाल्लोकहृदयसञ्चारीति भावः, प्रियो वसन्तकस्तन्नामा विदूषको यस्य सः, पक्षान्तरे प्रियो वसन्तकस्तन्नामकर्तुविशेषो यस्य सः, वत्सेश्वर उदयनराजः, निजमहोत्सवदर्शनाय स्वायोजितमहोद्भवविलोकनाय, पक्षान्तरे स्वविषयकमहोत्सवदर्शनाय, पर्युत्सुको नितरां स्पृहाशीलः, साक्षात्कुसुमचापः पुष्पबाणः काम इवाभ्युपैति समायाति।

अलंकारगत औचित्य का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा गया है—यथा श्रीहर्षस्येति। विश्रान्तेति। वत्सराज उदयन अपने द्वारा आयोजित वसन्त-महोत्सव का अवलोकन करने के लिये बड़ी उत्कंठा से पधार रहे हैं। उन्हें देखकर ज्ञात होता है कि साक्षात् कामदेव ही जैसे स्वविषयक उत्सव को देखने के लिये आ रहे हों। ऐसी प्रतीति क्यों नहीं हो, जब कि दोनों में अनेक तरह की समतायें वर्तमान हैं। जैसे राजा यदि विश्रान्तविग्रहकथ अर्थात् सर्वविजयी होने के कारण अब युद्धकथा से रहित हैं तो कामदेव भी अनंग होने के कारण विग्रहकथा—शरीरकथा से रहित है। राजा यदि रतिमान्—आनन्द वाले हैं तो काम भी रति—निजपत्नीवाले हैं। राजा यदि सुशासक होने के कारण जन-मानस में बसते हैं तो काम भी मनोभव होने के कारण जनमनोवासी हैं। राजा को यदि "वसन्तक" एतन्नामक विदूषकप्रिय है तो कामदेव को भी

वसन्त ऋतु प्रिय है। इस तरह यहाँ पर वत्सेश्वर में कामदेव की उपमा व
ही स्पृहणीय है।

**अत्र वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेनोपमा शृङ्गारावसरसरसचारुतरता
चित्येन कामपि चेतश्चमत्कारिणीमाविष्करोति।**

विवृणोति—अत्रेति। अत्र पद्ये, वत्सेश्वरस्योदयनराजस्य, कुसुमचा
कामेन सहोपमा, कामप्यपूर्वां, चेतश्चमत्कारिणीं हृदयाह्लाददायिनी
औचित्येनानुरूपतया, शृङ्गारावसरसरसचारुतां शृङ्गारकालोपयुक्त
सुन्दरतामाविष्करोति प्रकटयति।

इस पद्य में वत्सराज उदयन की कामदेव के साथ दी गयी उपमा शृ
रस के अनुकूल होने के कारण हृदय को चमत्कृत कर देनेवाली किसी अपू
चारुताको प्रगट करती है। अतः यह अलंकारौचित्य का बड़ा ही सुन्दर उदा
कहा जा सकता है।

नतु यथा चन्द्रकस्य—

खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैस्तरुशिरसि दोलेव रचिता,
शिवा तृप्ताहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता।
तृषार्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो,
बिलान्वेषी सर्पो हतगजकराग्रं प्रविशति॥

अलङ्कारानौचित्यमुदाहर्तुमाह—नतु यथा चन्द्रकस्येति।
समाप्तसंग्रामस्य कस्यचिद्रणाङ्गणस्य वर्णनं करोति कविः—खगेति। ख
काकादिभिर्मांसभोजिभिः पक्षिविशेषैरुत्क्षिप्तैरूर्ध्वं नीतैरन्त्रैः—
मृतानां मानवाश्वादीनां क्षुद्रान्त्रैस्तरुशिरसि शाखिशाखायां,
हिण्डोलकमिव रचिता निर्मिता, वृक्षशाखायां लम्बितानि रज्ज्वा
राण्यन्त्राणि दोलाभ्रममुत्पादयन्तीति भावः। शिवा जम्बुकी, तृप्ता
परिपूर्णभोजना, रतिखिन्ना सुरतश्रममन्थरा, वनिताङ्गनेव, स्वपिति
तृषार्तः पिपासापीडितो गोमायुः शृगालः, सरुधिरं सरक्तमसिं कृ
बहुशोऽनेकवारं, लेढि जिह्वया स्वादयति, बिलान्वेषी स्वावास
द्रान्वेषणशीलः, सर्पः पन्नगः, हतगजकराग्रं मृतगजशुण्डायां प्रविशति

अलंकारगत अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है—नतु
चन्द्रकस्येति। खगेति। इस पद्य के द्वारा किसी ऐसे स्थान का चित्रण

गया है जहाँ अभी अभी युद्ध समाप्त हुआ है। एक ओर युद्ध में मरे हुए जीवों की अँतड़ियाँ उड़ते हुए गीध, चील, कौवे आदि के चंगुलों से गिरकर वृक्ष की डाल पर झूले के समान लटक रही हैं, दूसरी ओर आहार से तृप्त होकर गीदड़ियाँ संभोग-श्रान्त कामिनियों की तरह बेहोश पड़ी हैं, तीसरी ओर सियार खून से लथपथ तलवारों को बार-बार चाट रहे हैं, तथा यत्र-कुत्र मृत पड़े हुए हाथियों के सूँड़ में बिल खोजते हुए साँप घुस रहे हैं।

अत्रानुचितस्थानस्थितायाः पुरुषपिशिततृप्तसुप्तायाः शिवायाः सुरत-केलिक्लान्तकान्तया विच्छायैवोपमा परं वैपरीत्यं प्रकाशयति।

अत्रोपर्युक्तपद्ये, अनुचितस्थानस्थिताया रतिकेलिप्रतिकूलरणाङ्गणे वर्तमानायाः, पुरुषपिशिततृप्तसुप्ताया नरासृगाद्यशनसन्तुष्टसुप्तायाः, शिवाया जम्बुक्याः, सुरतकेलिक्लान्तकान्तया रतिकर्मश्रमखिन्नाङ्गनया सह, दीयमानोपमा, विच्छाया सौन्दर्यहीना एव, अतः परमत्यन्तं, वैपरीत्यं प्रकृतबीभत्सरसप्रतिकूलतां प्रकाशयति।

इस पद्य में सुरतकेलिक्लान्तकामिनी के साथ नरमांसभक्षणतृप्त जम्बुकी की समता दिखाकर जो उपमालङ्कार की सृष्टि की गयी है वह अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि स्थान और कर्म की दृष्टि से दोनों में महान् अन्तर है। जैसे कामिनी का स्थान यदि रम्यकेलिमंदिर है तो शिवा का भयानक रणांगण। यदि कामिनी मनुष्य को लोकोत्तर आनन्द प्रदान कर स्वयं तृप्त होती है तो शिवा उसके भक्षण से तृप्त होती है। इस तरह यह उपमा सर्वथा अप्रासंगिक और प्रकृत बीभत्सरस-प्रतिकूल है। इसलिए सहृदयों के हृदय में इससे एक अरुचि ही उत्पन्न होती है, आनन्द नहीं मिल पाता। अतः यह अलंकारानौचित्य का व्यञ्जक सिद्ध हो रहा है।

यथा वा मालवरुद्रस्य—

> **अभिनववधूरोषास्वादः करीषतनूनपा-**
> **दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।**
> **गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवे-**
> **र्विरहिवनितावक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशाकरः॥**

अलङ्कारगतानौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमाह—यथा वा

मालवेति । शीतकालिकवर्णनमिदम्—अभिनवेति । शीतकाले करीषतनू-नपात् शुष्कगोमयाग्निरभिनववधूरोषास्वादो नवोढाकृत्रिमक्रोधवद्रुचिर इति भावः, (एवमेव) तुषारसमीरणो हिमवायुः, असरलस्य कपटमय-प्रकृतेर्जनस्याश्लेषः परिष्वङ्ग इव, क्रूरश्चण्डोऽप्रिय इति यावत्, भवती-ति शेषः, (तथा) रवेर्दिनकरस्य, द्युतिः प्रभा, गलितविभवस्य नष्टसम्पत्ते-र्जनस्याज्ञाऽऽदेश इव मसृणा कोमला प्रभावानुत्पादिनीति यावत्, (एवं) निशाकरश्चन्द्रोविरहिण्याः प्रोषितभर्तृकायाः कामिन्याः, वक्त्रस्य परिपाण्डुरवदनस्यौपम्यं साम्यं, बिभर्ति धारयति । अर्थाच्छीतकाले ऽग्निर्जनप्रियः, समीरः कष्टप्रदो रविर्नष्टभावश्चन्द्रः परिपाण्डुरश्च भवति ।

अलंकारगत अनौचित्य का दूसरा उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है -- यथा वेति । अभिनवेति । शीतकाल में आकर सूखे गोवर (करसी) की आग नवेली के कृत्रिम क्रोध के समान स्पृहणीय लगने लगती है, तथा ठंढी हवा कपटी मनुष्यों के आलिंगन के समान अप्रिय हो जाती है, साथ ही प्रभाकर (सूर्य) का तेज धनिक से गरीब बने हुए मनुष्य की आज्ञा के समान कोमल हो जाता है और चन्द्रमा विरहिणी नायिका के मुख के समान निष्प्रभ हो जाते हैं ।

अत्र कोमलकामिनोकोपेन करीषकृशानोः सादृश्यं शीतसमयस्वादुतया हृदयसंवादसुन्दरमप्यनुचितत्वेन सहसैव चेतसः सङ्कोचमिवादधाति ।

अत्र पद्ये, कोमलकामिनीकोपेन सुकुमारसुन्दरीक्रोधेन (सह) करोपकृशानोः शुष्कगोमयाग्नेः, सादृश्यं साम्यप्रतिपादनं, शीतसमय-स्वादुतया शिशिरसमये रुचिकारकतया, हृदयसंवादसुन्दरमपि हृद्यमपि अनुचितत्वेनायुक्तत्वेन, सहसैव हठादेव, चेतसश्चित्तस्य, सङ्कोचमिव ग्लानिमिवादधात्युपस्थापयति । नवोढवधूकरीषाग्न्योः स्वादुत्वांशे साम्यं यद्यपि हृदयसंवादि तथापि नोचितं तादृशसाम्यनिबन्धनं, संतपकस्य कोमलकामिनीकोपेन दाहकाग्नेः साम्यस्य कविसम्प्रदायविरुद्धत्वादिति भावः ।

इस पद्य में सुकुमार सुन्दरी के क्रोध के साथ शुष्क गोमय (करसी) की आग का साम्यप्रतिपादन शीत समय में रुचिकर होने के कारण परम हृद्य हो

हुए भी अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि हार्दिक तृप्ति प्रदान करने वाले नवोढाकोप की समता दाहक अग्नि के साथ दिखायी जाय—यह कविसंप्रदायविरुद्ध बात है। यहाँ इसकी उपेक्षा कर वैसी ही योजना की गयी है। इसलिए हठात् (अनौचित्य-वश) सहृदयों के हृदय में एक ग्लानि सी उपस्थित हो जाती है, अतः इसे अलंकार का दुरुपयोग ही कहा जा सकता है, सदुपयोग नहीं।

यथा वा राजशेखरस्य—

चिताचक्रं चन्द्रः कुसुमधनुषो दग्धवपुषः,
कलङ्कस्तत्रत्यः स्पृशति मलिनाङ्गारकलनाम् ।
यदेतत्सज्ज्योतिर्दरदलितकर्पूरधवलं,
मरुद्भिर्भस्मैतत्प्रसरति विकीर्णं दिशि दिशि ॥

अलङ्कारगतानौचित्यस्य तृतीयमुदाहरणमुपस्थापयति—**यथा वा राजशेखरस्येति । चिताचक्रमिति ।** चन्द्र इन्दुर्दग्धवपुषो हरशराग्निदग्धशरीरस्य, कुसुमधनुषः पुष्पबाणस्य कामदेवस्य, चिताचक्रं चितिगोलकमस्तीति भावः, तत्रत्यश्चन्द्रस्थः, कलङ्को लाञ्छनं, मलिनस्य निस्तेजसोऽङ्गारस्याग्निकणस्य, कलनां तुलां, स्पृशति श्यामलाङ्गारकरूपतामासादयतीति भावः, दरदलितमीषच्चूर्णीकृतं यत्कर्पूरं, तदिव धवलं स्वच्छं, यदेतत्सज्ज्योतिः दिङ्मण्डलमिति शेषः, (तत्) मरुद्भिः पवनैर्विकीर्णमितस्ततः प्रक्षिप्तम्, एतद्भस्म एतच्चिताभसितं, दिशि दिशि प्रत्याशं, प्रसर्पत्युड्डीयते ।

अलंकारगत औचित्य का तृतीय उदाहरण उपस्थित करने के लिए कहा गया है—यथा वा राजेति । चिताचक्रमिति । महाकवि राजशेखर चन्द्रोपालंभ के प्रसंग में कह रहे हैं कि यह चन्द्रमा क्या है ? हरकोप से दग्ध कामदेव की चिता है और उसमें विद्यमान कलंक उसी चिता के बुझे हुए अंगारे हैं, कर्पूरचूर्ण के समान धवल जो यह ज्योति फैल रही है वह और कुछ नहीं अपितु हवा के द्वारा चारों ओर उड़ाये गये उसी चिता के भस्म हैं।

अत्राप्यानन्दिसुधावस्यन्दसुन्दरस्येन्दोश्चिताचक्रत्वमनुचिततया कर्णकटुकमातङ्कमिवातनोति ।

अत्र पद्येऽप्यानन्दिना प्रमोदिना, सुधावस्यन्देनामृतवर्षणेन, सुन्दरस्य चारुतरस्येन्दोश्चन्द्रमसश्चिताचक्रत्वं चन्द्रे चिताचक्रत्वारोपो रूपक-

मिति यावत्, अनुचिततयाऽयुक्ततया, कर्णकटुकं श्रवणाधिदायकमातङ्कं त्रासमिवातनोति विस्तारयति।

इस पद्य में भी आनन्ददायक एवं सुधाशीकर को बरसानेवाले परमाह्लादकारी चन्द्र में चिताचक्रत्व का आरोपण करना अर्थात् इस तरह का रूपकालङ्कार अत्यन्त अनुचित है, इससे पाठकों के हृदय में बड़ी विरसता उत्पन्न हो जाती है।

योऽर्थस्तु हृदयसंवादी स यद्यनौचित्यस्पर्शलेशरहितस्तदाऽधिकतरामलङ्कारशोभां पुष्णाति। यथा कार्पटिकस्य—

शीतेनोद्घृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः,
शान्ताग्नि स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वापि विमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता,
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

हृदयसंवादिनोऽप्यर्थस्यानौचित्यलेशराहित्येनैव चारुतरत्वमित्युदाहरणद्वारा स्पष्टयितुमाह—योऽर्थस्त्विति। तु पुनर्योऽर्थो हृदयसंवादी सहृदयमनोऽनुमतः सोऽपि यदि अनौचित्यलेशरहितो विषमताकणसंपर्कविरहितो भवतीति शेषस्तदैवाधिकतरामत्यन्तम्, अलङ्कारशोभां, पुष्णाति परिपुष्टीकरोति। औचित्यलक्षणलक्षिता सूक्तिः कथमिवानन्दसंदोहदायिकेति प्रकटयितुमाह—यथा कार्पटिकस्येति। शीतेनेति। शीतेन तुषारपातेनातिशैत्येनेति भावः, माषशिमिवन्माषफलदण्डवदुद्घृषितस्यातितरामर्दितस्यार्थात् माषशिमयो यथा शीतार्दितत्वेनातितरां संकोचमासादयन्ति तथैवाहमपि जाड्यातिशयेन जानुभ्यां चिबुकं सन्नियोज्य ग्रन्थिरिवाभवमिति। चिन्तार्णवे चिन्तासमुद्रे, मज्जतो लयमिवाकलयतः, क्षुत्क्षामकण्ठस्य बुभुक्षार्दितगलस्य, शान्ताग्नि निर्वाणमुपगत वह्नि, धमतः फूत्कृत्य वर्द्धयतोऽत एव स्फुरिताधरस्य विदीर्णरदच्छदस्य, मे मम, निद्रा सुषुप्सा, विमानिता नादृता, दयिता प्रेयसीव, सन्त्यज्य त्यक्त्वा, दूरं गता पलायिता, तथा शर्वरी रात्रिः, सत्पात्रप्रतिपादिता सज्जनसात्कृता, मेदिनीव, न क्षीयते व्यत्येति।

हृद्य अर्थ भी अनौचित्यसंपर्कशून्य होने पर ही चमत्कारी हुआ करता है इसको उदाहरण द्वारा सिद्ध करने के लिए कहा गया है योऽर्थस्त्विति। शीतेनेति। अर्थसंकटग्रस्त किसी की उक्ति है कि कड़ाके की सर्दी में उचित वस्त्र के

अभाव से मेरी स्थिति उर्द की छोमी के समान हो गयी है, भूख से बुरी हालत हो रही है, कंठ सूख गया है, बुझी हुई आग को प्रज्वलित करने के लिए बार-बार फूँक लगाने से ओठ फट गये हैं, अनादृत प्रेयसी के समान नींद भी मुझसे भागी-भागी फिर रही है और रात पहाड़ के समान मालूम पड़ रही है, बीतने का नाम ही नहीं लेती। जैसे सत्पात्र को दान की गयी पृथ्वी के समान वह भी अक्षय होने पर तुली हो।

अत्रानौचित्यस्पर्शपरिहारेण केवलं हृदयसंवादसौन्दर्यमेव स्वादुतामादधाति ॥ १५ ॥

अत्र पद्ये, अनौचित्यस्पर्शपरिहारेणोपमालङ्कारस्य पूर्णौचित्येन, केवल निष्प्रतिद्वन्दि, हृदयसंवादसौन्दर्यमेवार्थेन सह यो हृदयसंवादः समता, तत्प्रयुक्तं सौन्दर्यमेव, स्वादुतामाह्लादकतामादधाति उत्पादयति।

उक्त पद्य में "सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा" "विमानितेव दयिता" इत्यादि पदों के द्वारा प्रतिपादित उपमालंकार अनौचित्य के लेश से भी रहित है अर्थात् सर्वथा समुचित है, अतः यहाँ का वर्णनीय अर्थ (व्यक्तिविशेष की दीनता) सहृदय-हृदयसमर्थित होकर आस्वाद्यता को उत्पन्न करता है ॥ १५ ॥

रसौचित्यं दर्शयितुमाह—

कुर्वन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः ॥ १६ ॥

अलङ्कारगतौचित्यस्योदाहरण-प्रत्युदाहरणानि प्रदर्श्य सम्प्रति क्रमानुसारं षष्ठं रसौचित्यं विवेचयितुमाह— कुर्वन्निति। सर्वाशये सर्वेषां तत्त्वज्ञानामाशये, वासनायां लक्षणया हृदये इति यावत्, व्याप्तिं व्यापकतां सम्बन्धमिति यावत् कुर्वन्विदधानः, औचित्यरुचिर औचित्यचमत्कृतो रसः शृङ्गारादिः, मधुमासो वसन्तर्तुः, अशोकं वञ्जुलमिव, मनश्चित्तमङ्कुरितं प्रफुल्लं करोति सम्पादयति।

अलंकारगत औचित्यानौचित्य का प्रतिपादन करके अभी छठे रसगत औचित्य की विवेचना करने के लिए कहा गया है—कुर्वन्निति। समस्त सहृदयों के हृदय में व्यापक रूप से अपनी स्थिति बनाता हुआ औचित्य से युक्त रस सज्जनों के चित्त को उसी तरह अंकुरित कर देता है जिस तरह अशोकतरु को मधुमास।

औचित्येन भ्राजिष्णुः शृङ्गारादिलक्षणो रसः सकलजनहृदयव्यापी वसन्त इवाशोकमङ्कुरितं मनः करोति ।

औचित्येनानुरूप्येण भ्राजिष्णुः रोचिष्णुः, शृङ्गारादिलक्षणो रसः शृङ्गारवीरकरुणादिनामधेयो रसः, सकलजनहृदयव्यापी निःशेषमानवान्तःसञ्चारी, वसन्तः सुरभिरशोकं वञ्जुलमिवाङ्कुरितं प्रफुल्लं, मनश्चित्तं, करोति विदधाति ।

अनुरूप कथन से सुशोभित, सम्पूर्ण जनमानसव्यापी शृङ्गार, वीर आदि रस सहृदयों के चित्त में उसी तरह नवनवोन्मेष उत्पन्न कर देता है जैसे वसन्त ऋतु अशोक की टहनियों में नये नये अंकुर प्रस्फुटित करता है ।

यथा श्रीहर्षस्य—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

रसौचित्यमुदाहर्तुमाह—**यथा श्रीहर्षस्येति ।** उद्दामेति । उद्दामोत्कलिकां प्रादुर्भूतासंख्यकुड्मलां, पक्षान्तरे उत्कटोत्कण्ठाशालिनीम्, विपाण्डुररुचं विशेषतो धवलकान्ति, पक्षद्वयेऽपि समानमेतदेकत्र धवलपुष्पावृतत्वादपरत्र प्रियवियोगेन वर्णव्यत्यासात्. प्रारब्धजृम्भां प्रारब्धा जृम्भाविकासो यस्यास्तां, पक्षान्तरे प्रारब्धा जृम्भा (जम्हाई इति भाषा) यया ताम्, अविरलैः सततवृत्तैः, श्वसनोपगमैः पवनोदयैः, अन्यपक्षे निःश्वासनिःसरणैः, आयासमान्दोलनं, पक्षान्तरे कामव्यथामातन्वतीं विस्तारयन्तीं, समदनां मदनाख्यवृक्षालिङ्गितां, पक्षान्तरे कामशरजर्जरितामन्यां परां नारीं सुन्दरीमिव, इमां पुरोवर्तिनीम्, उद्यानलतां लीलोद्यानलतिकां, पश्यन्नवलोकयन्नहमद्य, देव्या वासवदत्तायाः, मुखमाननं, कोपेन, क्रोधेन विपाटला रक्तवर्णा, द्युतिः कान्तिर्यस्य तादृशं नायकस्य परकीयासम्पर्कसम्भावनापि नायिकां क्रोधान्वितां करोतीति नायिकास्वभावः, ध्रुवं निश्चयं करिष्यामि विधास्यामि । प्रेयस्याः क्रोधः प्रेयांसं नितरामानन्दयतीति परिहासपटवो नायकाः कृत्रिमोपकरणेन कामिनीं कोपयन्तीति कामशास्त्रविदां सम्मतिरिति भावः ।

रसगतौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा श्रीहर्षस्येति। उद्दामेति—वाटिका की यह लता वस्तुतः दूसरी विरहिणी कामिनी सी है। चूंकि कामिनी यदि उद्दाम (उत्कट) उत्कलिका (उत्कंठा) से युक्त रहती है तो यह उद्दाम (अजस्र) उत्कलिका (कलियों) से युक्त है। कामिनी यदि विरह से विपाण्डुर (विशेषतः धवल) रुचि (कान्ति) वाली हो जाती है तो यह भी उजले उजले फूलों से ढंकी होने के कारण वैसी ही है। कामिनी यदि विरहावस्था में प्रारब्धजृम्भा (वारवार जमुहाई) लेती है तो यह भी जृम्भा (विकास) का आरंभ कर चुकी है। कामिनी यदि अविरल (सतत होनेवाले) श्वसनोद्गमों (श्वासनिःसरणों) से अपने आयास (कामपीड़ा) को विस्तृत करती रहती है तो यह भी अविरल (अत्यधिक) श्वसनोद्गमों (पवन के झोंकोरों) से अपना आयास (आन्दोलत) व्यक्त कर रही है। कामिनी यदि समदना (सकामा) होती है तो यह भी समदना (मदनात्मक तरु से युक्त = आलिंगित) है। अतः इस लता को देखता हुआ मैं आज निश्चितरूप से देवी वासवदत्ता के मुख को क्रोध के कारण आरक्त बना दूँगा। अर्थात् देवी वासवदत्ता जब किसी कामिनी की ओर देखते हुए मुझको देखकर क्रुद्ध हो उठती है तब इस लता को देखकर भी वह अवश्य ही क्रुद्ध होगी। कारण यह लता भी किसी कामिनी से कम नहीं है।

अत्रेर्ष्याविप्रलम्भरूपस्य शृङ्गाररसस्य वासवदत्तायामवेक्ष्यमाणस्य नवमालिकालतायाः ललितवनितातुल्यतया विरहावस्थारोपेण नितरामौचित्यरुचिरचमत्कारकारिणी दीप्तिरुपपादिता ॥

अत्र पद्ये वासवदत्तायां तन्नामकनायिकायां स्वपत्न्याम्, अवेक्ष्यमाणस्य दृश्यमानस्य प्रतीयमानस्येति यावत्, ईर्ष्याविप्रलम्भरूपस्येर्ष्याजन्यवियोगात्मकस्य शृङ्गाररसस्य शृङ्गाराख्यरसविशेषस्य, नवमालिकालतायाः अभिनवपुष्पसम्भारक्षमतामासादयन्त्या मालिकालतिकाया ललितवनितातुल्यतया कमनीयकामिनीसमतया, विरहावस्थारोपेण विरहदशाध्याहारेण, नितरामत्यन्तमौचित्यरुचिरचमत्कारकारिणो औचित्यरुचिरस्य चमत्कारस्य विधायिनी, दीप्तिः कान्तिरुपपादिता प्रतिपादिता।

उक्त पद्य में वासवदत्तानिष्ठ ईर्ष्याविप्रलंभात्मक शृङ्गाररस, सुन्दर कामिनी के समान होने के कारण नवीन मालिका नामक लता में विरहिणी की दशा का

आरोप कर देने से अत्यधिक औचित्य के चलते सुन्दरतम चमत्कार को करने वाला हो गया है।

यथा वा कालिदासस्य—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

रसगतौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयति—यथा वा कालिदासस्येति। बालेति। अविकासभावादविकसितत्वाद्धेतोः, बालेन्दुवद् द्वितीयाचन्द्रवद्, वक्राणि कुटिलान्यतिलोहितान्यत्यन्तरक्तानि, पलाशानि किंशुकानि, वसन्तेन सुरभिणा (नायकेन कर्त्रा), सद्यस्तत्कालमेव, समागतानां सम्पादितसंगमानां, वनस्थलीनामकृत्रिमवनभूमीनां (नायिकानाम), नखक्षतानि कामक्रीडाविहितनखचिह्नानीव बभुः शुशुभिरे।

रसगत औचित्य का दूसरा उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है—यथा वेति। बालेति। अविकसित होने के कारण द्वितीया के चन्द्र के समान टेढ़े टेढ़े और लाल लाल पलाश के फूल ठीक उसी तरह शोभित हुए जैसे वसंतरूप नायक के साथ अभी अभी समागम करके आयी हुयी वनस्थलीरूप नायिका के कपोलगत नखक्षत हों।

अत्र पार्वत्यां परमेश्वरस्याभिलाषशृङ्गारे वक्ष्यमाणे प्रथममुद्दीपनविभावभूतस्य वसन्तस्य वर्णनायां कामुकाध्यारोपेण वनस्थलीललनानां कुटिललोहितपलाशकलिकाभिर्नवसंगमयोग्यनखक्षतान्युत्प्रेक्षितानि परमामौचित्यचारुतां प्रतिपादयन्ति।

अत्रोक्तपद्ये, पार्वत्यामुमायां, परमेश्वरस्य शंकरस्याभिलाषशृङ्गारेऽभिलाषात्मके शृङ्गारे, वक्ष्यमाणेऽग्रे कथयिष्यमाणे, प्रथमं पूर्वमुद्दीपनविभावभूतस्योद्दीपनकारणरूपस्य, वसन्तस्य सुरभेर्वर्णनायां, कामुकाध्यारोपेण कामुकाभेदारोपेण, वनस्थलीललनानामकृत्रिमवनभूमिरूपाणां नायिकानां, कुटिललोहितपलाशकलिकाभिर्वक्ररक्तकिंशुकाङ्कुरैर्हेतुभूतैरित्यर्थः, उत्प्रेक्षितानि, संभावितानि नवसंगमयोग्यनखक्षतानि नूतनप्रसङ्गोचितनखचिह्नानि, परमौचित्यचारुतामत्यन्तौचित्यप्रयुक्तसौन्दर्यं, प्रतिपादयन्ति विबोधयन्ति।

पार्वती में शिव के अभिलाषात्मक शृंगाररस का वर्णन आगे करना है इसलिए पहले उद्दीपन विभाव (कारण) रूप वसन्त वर्णन के प्रसंग में यह पद्य लिखा गया है, इसमें वसन्त का नायक रूप में और वनस्थली की नायिका के रूप में वर्णन है अर्थात् वसन्त में नायक का अभेद और वनस्थलियों में नायिकाओं के अभेद आरोपित हुए हैं, एवम् नूतन अथच रक्तपलाश मुकुलों की नायककृत नूतन नखक्षत की संभावना की गयी है। ये आरोप और यह संभावना अग्रिम वर्णनीय अभिलाष शृंगार के पोषक होने के नाते अत्यन्त उचित हैं। अतः इस औचित्यपूर्ण वर्णन से काव्य का सौन्दर्य निखर उठा है।

नतु यथास्यैव—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥

रसगतानौचित्यप्रदर्शनार्थमाह—नतु **यथास्यैवेति**। वर्णेति। वर्णप्रकर्षे सति रूपोत्कृष्टतायां सत्यामपि, कर्णिकारं तन्नामकपुष्पविशेषो, निर्गन्धतया गन्धराहित्येन हेतुना, चेतश्चित्तं दुनोति खेदयति स्म। प्रायेण सम्भवतो, गुणानां वैशिष्ट्यानां सामग्र्यविधौ साङ्गोपाङ्गतायां, विश्वसृजो विधातुः, प्रवृत्तिराचरणं, पराङ्मुखी विमुखीभवति।

रसगत अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—नतु यथेति। वर्णप्रकर्षे इति। रूप संपन्न अर्थात् देखने में सुन्दर होने पर भी कर्णिकार के फूल सुगन्धरहित होने के कारण हृदय को एक मार्मिक पीड़ा प्रदान करते हैं। गुणों की परिपूर्णता में विधाता की प्रवृत्ति प्रायः प्रतिकूल ही हुआ करती है।

अत्र केवलकर्णिकारकुसुमवर्णनमात्रेण विधातृवाच्यतागर्भेणैव प्रस्तुतशृङ्गारानुपयोगिना तदुद्दीपनविभावोचितं न किञ्चिदभिहितम्।

अत्र पद्ये प्रस्तुतशृङ्गारानुपयोगिना प्रकृतशृङ्गाररसापोषकेण, विधातुर्ब्रह्मणो, वाच्यता निन्दा, गर्भे मध्ये यस्य तेन, क्रोडीकृतविधिनिन्दने-

त्यर्थः, केवलकर्णिकारकुसुमवर्णनेन निर्गन्धककर्णिकारपुष्पवर्णनमात्रेण, तदुद्दीपनविभावोचितं शृङ्गारोद्दीपनविभावानुरूपं, न किञ्चित्, अभिहितमुक्तम् ।

इस पद्य में कर्णिकारपुष्प का वर्णन ऐसा किया गया है। जिससे प्रकृत शृङ्गाररस का कुछ भी उद्दीपन नहीं हो रहा है केवल विधाता की निन्दा ही व्यक्त होती है। अतः शृंगाररस के उद्दीपन विभावों के प्रसंग में ऐसा वर्णन कुछ भी औचित्य नहीं रखता, इसलिए यह पद्य रसानौचित्य का उदाहरण कहा जा सकता है।

हास्यरसे यथा मम लावण्यवतीनाम्नि काव्ये—

सीधुस्पर्शभयान्न चुम्बसि मुखं किं नासिकां गूहसे,
रे रे श्रोत्रियतां तनोषि विषमां मन्दोऽसि वेश्यां विना ।
इत्युक्त्वा मदघूर्णमाननयना वासन्तिका मालती-
लीनस्यात्रिवसोः करोति वकुलस्येवासवासेचनम् ॥

शृङ्गाररसौचित्ययोरुदाहरणे प्रतिपाद्य सम्प्रति हास्यरसौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—**हास्यरसे यथा ममेति । सीधुस्पर्शेति । रे रे अत्रिवसो?** सीधुस्पर्शभयान्मद्यसंसर्गभीतेः, मुखमाननं, मदीयमिति भावः, न चुम्बसि, नासिकां नासापुटं, किं किमर्थं, गूहसे मुद्रयसि, मद्यगन्धाघ्राणवारणाय रुद्धश्वासां विदधासीति स्पष्टोऽर्थः, एवंविधाचरणेन, विषमामनुचितां, श्रोत्रियतां वेदविहितकर्मानुष्ठायितां, तनोषि विस्तारयसि, परमेतत्सर्वं व्यर्थम्. यतो वेश्यां वारनारीं, तदासक्तिमितिलक्षणयार्थं इति पूर्वोपस्थितामुक्त्वा, मदेन घूर्णमाने नयने यस्यास्तादृशी, वासन्तिका तन्नामिका कापि वेश्या, मालतीलीनस्य मालतीनामिकायां स्वपत्न्यां, लीनस्य परमासक्तस्यात एव वेश्यानुरागमुपेक्षमाणस्येति भावः, अत्रिवसोस्तन्नाम्नः कस्यचिद्ब्राह्मणस्य, बकुलस्य—बकुलनामख्यातपुष्पतरुविशेषस्येव, आसवासेचनं मद्यकरणकं सेकं करोतीत्यर्थः । "विकसित बकुलं योषितामाद्यमद्यै–" रितिकविप्रसिद्धिरीत्या यथा कामिनी शुष्कप्रायं बकुलतरुं सरसं विधातुं मद्यगण्डूषेण सिञ्चति तथैव नीरसमत्रिवसुं सरसं

कर्तुं मुखमद्येन सिञ्चतीति भावः। धार्मिकं निजपत्नी-प्रीति-परितुष्टं कथञ्चित्वेश्यासम्पर्कमवाप्तवन्तमत्रिवसुनामानं ब्राह्मणं प्रति वासन्तिका-नामिकाया वेश्याया आचरणं कविरत्र वर्णयतीति बोध्यम् ।

शृंगाररस के औचित्य तथा अनौचित्य के उदाहरण दिखलाने के बाद अब हास्य रसौचित्य का उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं हास्यरसे यथा. ममेति। सीधु-स्पर्शेति—यह पद्य क्षेमेन्द्र रचित हास्यरसप्रधान लावण्यवती नामक काव्य का है। कवि ने इस पद्य में एक धार्मिक (जो अपनी पत्नी के प्रेम में लीन है पर किसी तरह वेश्या के संपर्क में आ गया है) के प्रति वेश्या के द्वारा किये गये आचरण का वर्णन किया है। कवि का कथन है कि मद से घूमते हुए आँखों वाली वासन्तिका नाम की कोई वेश्या—"अपवित्र मद्य के स्पर्श हो जाने के भय से मेरे मुख को नहीं चूम रहे हो, नाम मूंद रहे हो, अनुचित श्रोत्रियता (वैदिक ब्राह्मणता) को विस्तृत कर रहे हो, क्यों? अरे मूढ़ ब्राह्मण! वेश्या के विना ही तो तुम में यह शिथिलता आ गयी है, वेश्या के संपर्क में बरा-बर आते रहते तो यह शिथिलता कभी नहीं होती", ऐसा कहकर मालती नामक निज पत्नी के प्रेम में लीन अत्रिवसु नामक किसी ब्राह्मण को अपने मुखमद्य (मद्य की कुल्ली) से उसी तरह सिक्त कर रही है जैसे बकुल वृक्ष को कोई नारो मद्य की कुल्ली स सींचती है।

अत्र श्रोत्रियस्यात्रिवसोरपवित्रसीधुस्पर्शशङ्कासङ्कोचनिलीनस्य शुष्कबकुलवृक्षस्येव सरसतापादनाय वेश्याविलासिन्या यदासवासेचनं तदङ्गभूतशृङ्गाररसाभासस्पर्शेन हास्यरसस्य वरासवस्येव सहकाररस-वेधेन सचमत्कारमौचित्यमाचिनोति।

उपपादयत्यत्रेति। अत्र सीधुस्पर्शेतिपद्ये, श्रोत्रियस्य वेदाविहिताचार-निष्ठस्यात्रिवसोस्तन्नामकब्राह्मणस्यापवित्रस्य सीधोर्मद्यस्य स्पर्शे तद्विषय इति यावत्, या शङ्का, तया यः सङ्कोचः शैथिल्यं तत्र निलीनस्य, शुष्कबकुलवृक्षस्य नीरसबकुलाख्यपुष्पतरोः, सरसतापादनाय रसमयता-सम्पादनाय, वेशविलासिन्या वेश्यया, यदासवासेचनं मद्यसेकः, तथा-सवासेचनमाचिनोति पदबोध्यक्रियाकर्तृ, अङ्गभूतशृङ्गाररसाभासस्पर्शेन,

हास्यरसाङ्गभूतो यः शृङ्गाररसाभासो, वेश्यागतत्वेन शृङ्गारस्याभासत्
वोध्यम् तस्य सम्बन्धेन, हास्यरसस्य प्रकृतपद्यव्यञ्जनीयस्याङ्गितस्येति
भावः, अस्यौचित्यमित्यग्रिमेणान्वयः, वरासवस्य श्रेष्ठमद्यस्य, सहकाररस
वेधेन सुगन्धिरसालरसमिश्रणेन, सचमत्कारं विच्छित्तिविशेषसहित
मौचित्यमाचिनोत्याविष्करोति। अयं भावः—प्रधानतया हास्यरसाभिव्यञ्
केऽस्मिन्पद्ये वेश्याकर्तृक–मद्यस्पर्शभयसङ्कुचितश्रोत्रियात्रिवसुकर्मकमुख
मद्यकरणकसेकवर्णनेन यः शृङ्गाररसाभासोऽङ्गतया व्यञ्जितस्तेन प्रधान
तयाऽभिव्यज्यमानस्य हास्यरसस्य पुष्टिर्भवतीति रसौचित्योदाहरणत
प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति।

इस पद्य से हास्य रस अभिव्यक्त होता है, और साथ ही शुष्क बकुल
के समान अपवित्र मद्य स्पर्श की शंका से संकुचित अत्रिवसु को, सरसता उत्पन्न
करने के लिए वेश्या द्वारा मद्य से रिक्त होने की बात वर्णित रहने से, शृङ्गार
रसाभास भी प्रतीत होता है किन्तु इन दोनों रसों में कोई विरोध (परस्परोपम
र्द्योपमर्दकभाव) नहीं होता, अपितु अंगभूत शृंगाररसाभास के मिश्रण से हास्य
रस का चमत्कार उसी तरह बढ़ जाता है जिस तरह आम्ररसमिश्रण से उत्कृष्ट
मद्य की उपादेयता बढ़ जाती है। फलतः मानना पड़ेगा कि हास्यरसप्रसंग में
शृंगाररसाभासव्यञ्जक वेश्या द्वारा मुख मद्य से सीचने की बात का वर्णन यह
उचित है।

यथा वा मम लावण्यवत्यामेव—

मार्गे केतकसूचिभिन्नचरणा सीत्कारिणी केरली,
रम्यं रम्यमहो पुनः कुरु विटेनेत्यर्थिता सस्मिता।
कान्ता दन्तचतुष्कबिम्बितशशिज्योत्स्नापटेन क्षणं
धूर्तालोकनलज्जितेव तनुते मन्ये मुखाच्छादनम्॥

हास्यरसस्यैव औचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयति—यथा वा
ममेति। मार्ग इति। मार्गेऽभिसारपथे, केतकस्य "केवड़ेति" ख्यातस्य
सूचिभिः कण्टकैर्भिन्नं, छिन्नं, चरणं पादो यस्याः सैवंभूता सती, सीत्का
रिणी कण्टकभेदनव्यथया सीदित्याकारकं ध्वनिविशेषं कुर्वती, विटेन

धूर्तेन, "अहोरम्यं रम्य"मरे सुन्दरं सुन्दरं, पुनर्भूयः, कुरु सीत्काररवं विधेहीत्येवमार्थिता प्रार्थिता, केरली केरलदेशीया, कान्ता सुन्दरी सस्मिता स्मेराननाऽतएव दन्तानां रदानां चतुष्केन, बिम्बिता चित्रिता या शशिनश्चन्द्रमसो, ज्योत्स्ना द्युतिस्तद्रूपेण पटेन वस्त्रेण, धूर्तस्य विटस्यालोकनेन संदर्शनेन, लज्जिता प्राप्तलज्जेव, क्षणं क्षणमात्रं, मुखाच्छादनमाननपिधानं, तनुते करोतीति मन्ये सम्भावयामि ।

हास्यरसौचित्य के द्वितीय उदाहरण में यह पद्य उपस्थित किया जा रहा है—मार्गे इति । विट के साथ अभिसार के लिये जाती हुई केरली नायिका के पैर में केवड़े का काँटा गड़ गया, जिससे वह सीत्कार कर उठी, यह सुनकर विट ने—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा जरा फिर ऐसा ही करना—यह कह कर पुनः वैसा ही करने का आग्रह किया, जिससे वह हँसने लगी, अतः उसका मुख खुल गया ओठों पर दन्तमुक्ता की चमक चन्द्रमा की चान्दनी की तरह झलकने लग गयी । मुखपर प्रकाश का एक आवरण सा छा गया । इस स्थिति में वह ऐसी प्रतीत हुई मानो धूर्त के देख लेने से लज्जित सी होकर आगे के चार दाँतों के द्वारा प्रतिबिम्बित चन्द्रज्योत्स्नारूप वस्त्र से मुख को ढँक रही हो ।

अत्रापि हास्यरसस्य कुटिलविटनर्मोक्तिवचनौचित्येन शृङ्गाररसाभासाधिवासितस्य सचमत्कारः परः परिपोषः समुन्मिषति ।

अत्राप्युपर्युक्तपद्येऽपि, कुटिलविटनर्मोक्तिवचनौचित्येन वक्रविटपरिहासवचनौचित्येन, शृंगाररसाभासेन पराङ्गनाविषयकतयाऽभासरूपेण शृंगारेण, अधिवासितस्यानुप्राणितस्य, हास्यरसस्य, सचमत्कारो विच्छित्तिविशेषमयः, पर उत्कृष्टः परिपोषः, पुष्टिः समुन्मिषति उल्लसति ।

इस पद्य में भी धूर्तशिरोमणि विट के द्वारा कहे गये वचनों के औचित्य से शृङ्गाररसाभास के द्वारा अनुप्राणित हास्यरस का बहुत ही अच्छा परिपोष प्रस्तुत हो जाता है ।

ननु यथा श्यामलकस्य—

चुम्बनसक्तः सोऽस्या दशनं च्युतमात्मनो वदनात् ।
जिह्वामूलप्राप्तं खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ॥

हास्यरसानौचित्यस्योदाहरणमुपस्थापयितुमाह— नतु यथा श्यामेति। चुम्बनेति। चुम्बने सक्तः सलग्नः कश्चिदधमो नायको, ऽस्याश्चुम्ब्यमानाया वृद्धाया नायिकाया, श्च्युतं मूलमादिर्यस्यैवंभूतं त्रुटितमिति यावत्। जिह्वामूले कण्ठे, प्राप्तमुपस्थितं, दशनं दन्तं, खाडिति कृत्वा, निष्ठीवन-कालिकमुद्रोच्चरितखाडितिशब्दविशेषं विधायात्मनः स्वस्य, वदनान्मुखात्, निरष्ठीवत्ष्ठीवनमकार्षीत्।

हास्यरसानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा जा रहा है—नतु यथेति। चुम्बनेति। कोई अधम नायक किसी बूढ़ी को चूम रहा था, बूढ़ी का एक दाँत टूट कर उस नायक के कण्ठ में चला गया जिसको खखार कर उसने थूक दिया।

अत्र हास्यरसस्य बीभत्सरसाधिवासितस्य लसुनलिप्तस्येव कुसुम-शेखरस्यातिजुगुप्सितत्वादनीप्सितस्य परमानौचित्येन चमत्कारस्ति-रोहितः। वृद्धापरिचुम्बने जिह्वामूलप्राप्तस्य च्युतदशनस्य कण्ठलोलिनः ष्ठीवनेन बीभत्सस्यैव प्राधान्यम्, नतु हास्यरसस्य।

अत्र पद्ये, लसुनलिप्तस्य रसोनरससम्पृक्तस्य, कुसुमशेखरस्य पुष्प-माल्यस्य, अर्थात्स्वसुगन्धापेक्षयाधिकदुर्गन्धेन युक्तपुष्पमाल्यस्येवातिजु-गुप्सितत्वादतिबीभत्सत्वादनीप्सितस्यानभिलषितस्य, बीभत्सरसाधि-वासितस्य बीभत्सरसमिश्रितस्य, हास्यरसस्य, परमानौचित्येनात्यन्तम-नुचितत्वेन, चमत्कारो विच्छित्तिस्तिरोहितो गुणीकृतः। गुणीकृतत्वे हेतुमाह—वृद्धेति। वृद्धायाः परिचुम्बने, जिह्वामूलप्राप्तस्य, कण्ठलोलिनो गललुण्ठनशीलस्य, च्युतदशनस्य पतितदन्तस्य वृद्धासम्बन्धिन इति भावः, ष्ठीवनेन थूत्करणेन, बीभत्सस्यैव बीभत्सरसस्यैव, प्राधान्यं मुख्यत्वं, नतु हास्यरसस्य। अत एवेदृशपरियोजना हास्यरसानौचित्यसूचिकेति भावः।

जैसे लसुन के रस से लिप्त अतएव स्वकीय सुगंधापेक्षया अधिक दुर्गन्ध से युक्त पुष्पमाला घृणास्पद हो जाने से अनीप्सित हो जाती है वैसे ही बीभत्स-मिश्रित-हास्यरस का वर्णन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसी स्थिति में हास्यरस

घृणित हो जाने से अभीष्ट नहीं होता। फलतः ऐसे (बीभत्सरसमिश्रित) हास्य-रस का वर्णन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसी स्थिति में हास्यरस का चमत्कार तिरोहित (गौण) हो जाता है। चुम्ब्यमान वृद्धा के टूटकर कंठ में ठेकनेवाले दाँत को चूमने वाले नायक के द्वारा थूकने का वर्णन करने पर क्या हास्यरस की प्रधानता रह जाती है? कभी नहीं इस स्थिति में तो बीभत्स ही प्रमुख हो उठता है।

करुणे यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

प्रत्यग्रोपनताभिमन्युनिधने हा वत्स हा पुत्रके-
त्यश्मद्रावि सुभद्रया प्रलपितं पार्थस्य यत्तत्पुरः।
येनोद्बाष्पविमुक्तशष्पकवलैः सेनातुरङ्गैरपि,
न्यञ्चत्पार्श्वगतैककर्णकुहरैर्निःस्पन्दमन्दं स्थितम् ॥

करुणरसौचित्यमुपदर्शयितुमुपक्रमते—करुणे यथा ममेति प्रत्यग्रेति। प्रत्यग्रं सद्यः (अभिनवम्) उपनतं प्राप्तं, यदभिमन्योस्तन्नामकार्जुन-पुत्रस्य, निधनं मृत्युस्तस्मिन् सति, सुभद्रया तन्मात्रा, पार्थस्यार्जुनस्य स्वपतेः, पुरोग्रे, "हा वत्स? हा पुत्रक?" इत्येवंरूपेण यत्प्रलपितं, तदश्मद्रावि प्रस्तरद्रावकं, येन च प्रलपितेनोद्गतान्युत्पन्नानि, बाष्पाण्य-श्रूणि येषान्तैस्तथा विमुक्तानि शष्पानां तृणानां, कवलानि ग्रासानि, यैस्तैर्न्यञ्चन्ति नम्रीभवन्ति, पार्श्वगतानि चैककर्णहराण्येकैकश्रवणविव-राणि येषान्तैः, सेनातुरङ्गैः सैन्यवाजिभिरपि निष्पन्दं चेष्टारहितं, मन्दं तीक्ष्णतारहितञ्च यथा स्यात्तथा स्थितं वृत्तम्।

करुणरस का उदाहरण दिखलाने के लिए कहा जा रहा है—करुणे यथा ममेति। प्रत्यग्रेति। सद्यः संपन्न अभिमन्यु की मृत्यु से उसकी माता सुभद्रा ने अपने पति अर्जुन के समक्ष हा वत्स! हा पुत्र? इत्यादि रूप से जो करुण क्रन्दन किया वह पत्थर को भी पिघला देनेवाला था। साथ ही सेना में काम आनेवाले घोड़ों की आँखों में भी आँसू भर आये, वे भी घासों का ग्रास छोड़ करऔर अपने कानों को नीचे की ओर मोड़कर चुपचाप निस्तेज से खड़े रहे।

अत्र प्रत्यग्रोपनतातिप्रियतरतनयवियोगोपजनितशोकाख्यस्थायिभावो- चितं—दृषतामपि हृदयद्रावणं सुभद्रया यत्प्रलपितं तदर्जुनचेतसि प्रति- फलितं न केवलमुद्दीप्ततामुपगतं यावत्तिरश्चां तुरङ्गमाणामप्यन्तःसंक्रान्त- मुद्बाष्पविमुक्तशष्पकवलनिःस्पन्दमन्द-स्थितादिभिरनुभावैरुदीर्णतरुणकरु- णरसप्रतिपत्तिं किमप्यादधाति।

अत्रोपयुक्तपद्ये प्रत्यग्रं तत्कालमेवोपनतस्य संप्राप्तस्य, प्रियतरस्य हृद्यस्य, तनयस्य पुत्रस्य, वियोगेन मृत्युनोपजनितो यः शोकाख्यस्थायिभाव स्तदुचितं तदुपयुक्तं, दृषतामपि प्रस्तराणामपि, हृदयद्रावणं चित्तद्रावि, यथा स्यात्तथा, सुभद्रया तन्मात्रा, यत्, प्रलपितं विलपितं, तदर्जुनचेतसि पार्थचित्ते, प्रतिफलितं प्रतिबिम्बितं सत्, न केवल, मुद्दीप्ततामुपगत- मुद्दीप्तमभवदपि तु तिरश्चां तिर्यग्योनिगतानां, तुरङ्गमाणामश्वानामपि, अन्तःकरणे संक्रान्तं प्रविष्टमत एवोद्बाष्पविमुक्तशष्पकवलनिःस्पन्द- स्थितादिभिर्बाष्पोद्गमघासग्रासत्यागनिश्चलवर्तमानत्वादिभिरनुभावैःप्रबल- संक्रान्ति-कार्यै, रुदीर्णतरुणकरुणरसप्रतिपत्तिमुद्भूताधिककरुणरसप्रतीतिं, किमपि विशिष्टं यथा स्यात्तथाऽऽदधाति सम्पादयति।

यहाँ पर तुरत मरे हुए प्रिय पुत्र के वियोग से उत्पन्न शोकरूप स्थायी भाव के अनुरूप, पत्थलों को भी पिघला देने वाला जो विलाप सुभद्रा ने किया, वह केवल अर्जुन के ही हृदय में प्रतिफलित होकर करुण रस का विभाव के रूप में नहीं रह सका अपितु घोड़ा आदि पशुओं के हृदय में भी करुण रस का संचारक सिद्ध हुआ जो कि उस (घोड़े) के आँसू बहाने, खाना छोड़ने और स्थिर भाव से खड़ा रहने आदि अनुभाव (कार्य) से जाना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि कवि के इस प्रकार के समुचित कथन से करुण रस का पूर्ण विकास होता हुआ सा प्रतीत हो रहा है इसलिये यह करुण रसौचित्य का अच्छा उदाहरण सिद्ध होता है।

नतु यथा परिमलस्य—

हा शृङ्गारतरङ्गिणीकुलगिरे हा राजचूडामणे,
हा सौजन्यसुधानिधान हहहा वैदग्ध्यदुग्धोदधे!

हा देवोज्जयिनीभुजङ्ग युवतिप्रत्यक्षकन्दर्प हा,
हा सद्बान्धव हा कलामृतकर ? क्वासि प्रतीक्षस्व नः ॥

करुणरसानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह— नतु यथेति। हा शृङ्गारेति। हेति शोके शृङ्गारस्तन्नामकरसः स एव तरङ्गिणी नदी, तस्याः कुलगिरिः कुलपर्वतो, नदीप्रभवाः केचन हिमालयादिमुख्यपर्वताः कुलपर्वतत्वेन परिगणितास्तदन्यतम इति भावः, तत्संबुद्धौ रूपं, यथा तरङ्गिणीनां मूलभूताः पर्वता एव तथैव त्वमेव शृङ्गाररसस्यादिकारणमिति बोध्यम्, हा, राज्ञामन्यभूपालानां, चूडामणिर्मुकुटमणिरिव वर्तमानस्तत्संबुद्धौ, हहहेति शोकोपचये, विदग्धो विज्ञजनस्तस्य भावो वैदग्ध्यं, तस्य दुग्धोदधिः क्षीरसागरस्तत्संबुद्धौ, हा देव हा राजन् ?, उज्जयिन्यास्तन्नामकनगर्या भुजङ्गो विटः कामुक इति यावत्तत्संबुद्धौ, हा, युवतीनां यौवनसंपन्नसुन्दरीणां प्रत्यक्षः साक्षात्। कन्दर्पः कामदेवः, सुन्दरत्वेनोन्मादकत्वादिति भावस्तत्सम्बुद्धौ, हा सद्बान्धव ? हा सन्मित्र ?, हा, कलेवामृतं तत्करोतीति तत्संबुद्धौ, क्वासि क्व वर्तसे, न, स्त्वद्वियोगज्वालावलीढानस्मान्, प्रतीक्षस्व विलोकय।

करुण रस के अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा जा रहा है—नतु-यथेति। हा शृङ्गारेति। उज्जयिनीपति के निधन से शोकसंतप्त उनके बान्धव विलाप कर रहे हैं कि हे देव ? तुम शृङ्गार तरंगिणी के लिये एकमात्र उत्स, भूधर के समान थे, राजाओं के मुकुटों के मणि, सुजनतारूप अमृत के आगार, और विदग्धता के समुद्र थे, युवतियों के लिये साक्षात् कामदेव, सज्जनों के मित्र तथा अपूर्व कलाकार थे, तुम कहाँ हो मेरी ओर दृक्पात करो न ?।

अत्र 'हाहेति हतमहीपतिविरहे तद्गुणामन्त्रणपदैर्वक्तृवक्त्रगत एव शोकः केवलमुपलक्ष्यते, नतु विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेन शोकाख्यस्य स्थायिभावोचितं रसीकरणं किंचिन्निष्पन्नम्।

अत्र, "हाहेतिशब्दस्य प्राचुर्येण, हतमहीपतिविरहे दिवङ्गतमहीपतिविरहे, तद्गुणामन्त्रणपदैस्तद्गुणाख्यापकशब्दैर्वक्तृवक्त्रगत एव प्रतिपादकमुखनिष्ठ एव, शोकः, केवलमुपलक्ष्यते, विज्ञायते। नतु विभावा-

नुभावव्यभिचारिसंयोगेन कार्यकारणसहकारिकारणसम्मिश्रणेन,शोकाख्य-स्य शोकनामकस्य, स्थायिभावस्य चित्तविकृतिरूपस्योचितं समुचितं, रसीकरणं रसरूपतासंपत्तिः, किंचिन्मनागपि निष्पन्नं सम्पन्नमिति। उचितैर्विभावादिभिः पुष्टीकृत एव स्थायी रसरूपतां प्राप्नोति। अत्र तु अपुष्टः शोको रसतां नासादयतीति भावः।

यहाँ पर मृत महीपति के विरह में 'हाहा' शब्द के बाहुल्य से ज्ञात होता है कि केवल वक्ता के मुख में ही शोक है उसे वह व्यक्त करने में सफल नहीं हो सका है क्योंकि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संमिश्रण से जो शोक रूप स्थायीभाव (चित्तविकृति) रस रूप में परिणत होता है वह यहाँ कुछ भी नहीं हो सकता है फिर श्रोता या पाठक के हृदय में कुछ भी करुण रस का संचार करे तो कैसे ?, इसीलिये यह करुण रसानौचित्य का उदाहरण हुआ।

रौद्रे यथा भट्टनारायणस्य—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

रौद्ररसौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—यथा भट्टनारायणेति। यो य इति। पितृवधाकर्णनेन सक्रोधस्याश्वत्थाम्न उक्तिरियम्। पाण्डवीनां पाण्डवस्येमाः पाण्डव्यस्तासां, चमूनां सेनानां (मध्ये) यो यो जनः, स्वभुजयोः स्वबाह्वोर्गुरुर्महान्मदो गर्वो यस्मिन् तादृशः सन्, शस्त्रं, बिभर्ति धारयति, पाञ्चालगोत्रे द्रुपदराजकुले, यो यो जनः शिशुर्बालकोऽधिकवयाः परिणतवया युवादिरित्यर्थः, गर्भशय्यां मातुर्गर्भदेशं, गतः प्राप्तो वा, यो यो जनस्तस्य कर्मणो मत्पितृवधरूपमापातककार्यस्य, साक्षी द्रष्टा, तथा मय्यश्वत्थाम्नि, रणे संग्रामे, चरति सति, यश्च जनः प्रतीपः प्रतिकूलो भवेत्, क्रोधान्धो निरतिशयक्रोधशीलोऽहमिह संग्रामे, जगतामन्तकस्यापि यमस्यापि सत,स्तस्य तस्य सर्वस्येत्यर्थः, अन्तको यमो विनाशयिता भवेयमिति भावः।

रौद्ररसौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—यथा भट्टेति। यो य इति। छल से मेरे पिता मारे गये यह समाचार सुनकर अश्वत्थामा क्रोधान्ध होकर कह रहा है—पाण्डव की सेना में अपने बाहुबल का घमंड करने वाला जो जो अस्त्र धारण करता है, अथवा द्रुपद के कुल में जो जो बच्चा बूढ़ा या गर्भस्थ शिशु है तथा जो जो मेरे पिता की हत्या का साक्षी (निर्विरोधरूप से देखने वाला) भी है, या मेरे संग्राम में पहुँचने पर जो जो मेरा विरोध करने वाला होगा, वह स्वयं यमराज भी क्यों न हो आज इस युद्धभूमि में मैं क्रोधोन्मत्त होकर सबका विनाश करके ही रहूँगा।

अत्र क्रूरक्रोधस्थायिभावात्मकस्योन्निद्ररौद्ररसस्योचिता शिशुस्थविरगर्भगतविशसननिस्त्रिंशकर्माध्यवसायाधिरोहणसंवादिनी द्रोणवधविधुरामर्षविषविषमव्यथा कश्मलशिथिलमश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति।

अत्रोक्तपद्ये, क्रूरक्रोधस्थायिभावात्मकस्य नृशंसकोपस्थायिभावस्वरूपस्योन्निद्ररौद्ररसस्य जागरितरौद्राख्यरसस्योचिताऽनुरुपा, शिशोर्बालकस्य, स्थविरस्य वृद्धस्य, गर्भगतस्य गर्भावस्थापन्नस्य, विशसने मारणे, यन्निस्त्रिंशकर्म खड्गचालनरूपं कार्यं, तदेवाध्यवसायो व्यापारस्तस्याधिरोहणमाश्रयणं, तस्य, संवादिन्यनुरूपा, द्रोणस्य स्वपितुर्वधेन घातेन, विधुरस्य दुःखान्वितस्यामर्षः क्रोध एव, विषं गरलं, तेन विषमाऽसह्या व्यथा पीडा, ऽश्वत्थाम्नः, कश्मलशिथिलं मोहाच्छन्नं, स्थेमानं स्थिति, प्रतिज्ञापयति बोधयति।

उक्त पद्य में क्रूर क्रोधरूप स्थायी भाववाले जीवन्त रौद्ररस के अनुरूप, बच्चे, बूढ़े और गर्भस्थ शिशु की हत्या में खड्ग-व्यापारप्रसक्त, द्रोणवध-जन्य क्रोध से उत्पन्न, असह्य व्यथा, अश्वत्थामा की मोहाच्छन्न मनःस्थिति का बोध कराती है। अर्थात् इस पद्य के द्वारा रौद्ररस का जो चित्र खींचा गया है वह सहृदयों के हृदय में प्रतिबिम्बित होता हुआ एक अपूर्व दहसत का भाव पैदा कर देता है। इस तरह रौद्ररसौचित्य का बड़ा ही सुन्दर समावेश यहाँ सम्पन्न हो जाता है।

नतु यथा श्रीप्रवरसेनस्य--

दणुइन्दरुहिरलग्गे जस्स फुरन्ते णहप्पहाविछडे ।
गुप्पन्तो विवलाआ गलिअब्बथणंसुए, महासुरलच्छी ॥

[दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य स्फुरति नखप्रभासमूहे ।
व्याकुलीभवन्ती विपलायिता गलितस्तनांशुका महासुरलक्ष्मीः ॥]
॥ इति छाया॥

रौद्ररसानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—नतु यथा श्रीप्रवरसेनस्येति। दणुइन्देति ।

हिरण्यकशिपुविनाशकारिणो भगवतो नृसिंहस्य वर्णनेयम् । दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने हिरण्यकशिपुरक्तव्याप्ते, यस्य नृसिंहस्य, नखप्रभासमूहे नखद्युतिसंघे,स्फुरति भासमाने सति, महासुरलक्ष्मीर्दैत्यराजश्रीः, व्याकुलीभवन्ती क्लान्तचित्ताऽत एव गलितस्तनांशुका पतितकुचवस्त्रा, विपलायिता दूरं गता ।

दनुजेन्द्र (हिरण्यकशिपु) के रक्त से लिप्त जिनके नखद्युति की चमक से व्याकुल होती हुई हिरण्यकशिपु की राज्यलक्ष्मी विवस्त्रा होकर भाग गयी ।

अत्र क्रोधव्यञ्जकपदविरहिततया "दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य नृसिंहस्य स्फुरति नखप्रभासमूहे व्याकुलीभवन्ती विपलायिता गलितस्तनांशुका महासुरलक्ष्मीः" इति वर्णनया रुधिरलग्न इति बीभत्सरससंस्पर्शो व्याकुलीभवन्ती दैत्यश्रीः पलायितेति भयानकरससङ्करेण प्रकृतोचितप्रधानभूतस्य रौद्ररसस्य क्वचिन्मुखमपि न दृश्यते ।

पूर्वोक्तपद्यमेवोपपादयत्यत्रेति । अत्र पद्ये, क्रोधव्यञ्जकपदविरहिततया कोपसूचकपदप्रयोगाभावेन, "दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने" इत्यादिवर्णनेन, रुधिरलग्न इतिकथनात्, बीभत्सरससंस्पर्शोऽसृगादिवर्णनाया बीभत्सरसोपयुक्तत्वेन सर्वसम्मततया प्रकृते तदुपयोगाद्बीभत्सरसप्रवेशो इति भावः । तथा व्याकुलीभवन्ती दैत्यश्रीः पलायितेतिभयानकरससङ्करेणार्थात् आतङ्कादे-

भयानकरसोपयोगितया प्रकृते तद्वर्णनतो भयानकरससम्मिश्रणेन, प्रकृतस्य प्रसङ्गप्राप्तस्योचितस्यानुरूपस्यात एव प्रधानस्य मुख्यतयाभिव्यञ्जनीयस्य, रौद्ररसस्य, क्वचित्कुत्रापि मुखमपि न दृश्यते, आंशिकरूपेणापि प्रतीतिर्न भवतीति भावः।

इस पद्य में क्रोधव्यञ्जक पदों का अभाव रहने के कारण, तथा "रुधिरलग्ने" इस वर्णन से बीभत्स रस का, एवं "व्याकुलीभवन्ती दैत्यश्रीः पलायिता" इस वर्णन से भयानक रस का संमिश्रण हो जाने के कारण पूर्वप्रसंगानुरूप अतएव प्रधानभूत रौद्र रस का कहीं पता तक नहीं चल पाता है। इसलिए यह पद्य रौद्ररसानौचित्य का ही द्योतन कर रहा है, औचित्य का नहीं।

वीरे यथा मम नीतिलतायाम्—

शौर्याराधितमार्गभार्गवमुनेः शस्त्रग्रहोन्मार्गिणः,
संक्षेपेण निवार्य संक्षयमयीं क्षत्रोचितां तीक्ष्णताम्।
आकर्णायतकृष्टचापकुटिलभ्रूभङ्गसंसर्गिणा,
येनान्यायनिषेधिना शममयी ब्राह्मी प्रदिष्टा स्थितिः॥

वीररसौचित्यस्योदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—वीरे यथा ममेति। शौर्याराधितेति। शस्त्रग्रहोन्मार्गिणः शस्त्रग्रहणरूपकुपथगामिनो, ब्राह्मणानां शस्त्रग्रहणं शास्त्रविरुद्धमिति तथा कुर्वतः परशुरामस्य कुपथगामित्वं स्पष्टमेवेति भावः, शौर्येण वीरतयाऽऽराधितोऽनुकूलितो मार्गः शिवो येनैवंभूतो यो भार्गवमुनिस्तस्य, संक्षयमयीं विनाशात्मिकां, क्षत्रोचितां क्षत्रियानुकूलां, तीक्ष्णतां, तेजस्वितां, संक्षेपेण समासतो, निवार्य प्रतिरुद्ध्य, आकर्णं कर्णदेशपर्यन्त, मायतो दीर्घः, कृष्टो यश्चापो धनुस्तद्रूपो यः कुटिलो वक्रो भ्रूभङ्गस्तत्संसर्गिणा सम्पर्किणा, तद्युक्तेनेत्यर्थः, अन्यायनिषेधिनाऽनुचितप्रतिरोधिना, येन रामेण, शममयी शान्तिप्रचुरा, ब्राह्मी ब्राह्मणोचिता, स्थितिर्मर्यादा, प्रदिष्टोपदिष्टा। सोऽयं राम इति पूर्वेणान्वयः।

वीररसौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—वीरे यथा ममेति। शौर्याराधितेति। शस्त्रग्रहण ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध है, फिर भी वैसा करके कुपथ पर चलने वाले महामुनि परशुराम (जिन्होंने अपने तप के प्रभाव से भगवान्

शंकर को भी अनुकूल कर लिया था) को, उनकी विनाशमय क्षत्रियोचित तीक्ष्णता को संक्षेप से निवारण करके कान तक खिंचे हुए धनुषरूप कुटिलभ्रूभङ्ग के संपर्की अन्याय का विरोधी जिस राम ने शान्तिमय ब्राह्मणोचित मर्यादा का उपदेश किया था। यह वही राम हैं यह पूर्व संबद्ध है।

अत्र "सोऽयं राम" इति रावणाग्रे शुकसारणाभ्यां दूरान्निर्दिश्यमानस्य रामस्य निःसंरम्भगम्भीरावष्टम्भसंभाव्यमानप्रभावोचितायां शस्त्रसंग्रहोन्मार्गगामिनो भार्गवस्य मुनेः स्वजातिसमुचितस्थित्युपदेशे सति प्रभविष्णुतायां चापरूपभङ्ग्या भ्रूभङ्गः प्रदर्शितः न तु स्वाभाविकः वीरस्य क्रोधे विकारासंभवात्। प्रसन्न मधुरधीरा हि वीरवृत्तिः, तदुचितमत्राभिहितम्। भार्गवाभिभवेन च प्रधाननायकस्योत्कर्षः प्रतिपादितः।

अत्रोक्तपद्ये, "सोऽयं रामः, इत्येवंरूपेण रावणाग्रे, शुकसारणाभ्यां तत्तन्नामकाभ्यामनुचराभ्यां दूरान्निर्दिश्यमानस्य दूरत एव संकेततो दर्श्यमानस्य, रामस्य, निःसंरम्भोऽयत्नसिद्धो, गम्भीरो गहनश्च, योऽवष्टम्भ आक्रमणं, तेन संभाव्यमान उह्यमानो यः प्रभावस्तदुचितायां तदनुरूपायां, शस्त्रसंग्रहोन्मार्गगामिनः शस्त्रसंग्रहणरूपकुपथगामिनो, ब्राह्मणो भूत्वा शस्त्रं संगृह्णातीति भार्गवस्योन्मार्गगामिता बोध्या, मुनेर्भार्गवस्य परशुरामस्य, स्वजातिसमुचितस्थित्युपदेशे ब्राह्मणोपयुक्तमर्यादोपदेशे सति ब्राह्मणोचितवृत्तिबोधे सतीत्यर्थः, प्रभविष्णुतायां प्रभावशालितायां, चापरूपभङ्ग्या धनुःस्वरूपशैलीविशेषेण, भ्रूभङ्गः प्रदर्शितो, नतु स्वाभाविको यतो हि वीरस्य क्रोधे विकारासंभवः वीरस्य क्रोधकृतविकारो नोत्पद्यत इति भावः। हि यतः, वीरवृत्तिर्वीरचरितं, प्रसन्नमधुरधीरा प्रसन्नोज्ज्वला, मधुरा स्पृहणीया, धीरा धैर्यान्विता च भवतीति शेषः तदुचितं प्रोक्तवीरवृत्त्युपयुक्तमत्र प्रकृतपद्येऽभिहितमुक्तम्। भार्गवाभिभवेन परशुरामपराजयेन, च, प्रधाननायकस्य रामस्योत्कर्षो वैशिष्ट्यं प्रतिपादितः कथितः।

यह पद्य क्षेमेन्द्रकृत नीतिलता नामक निबन्ध का है, इस पद्य का वक्ता रावण के सेवक शुक और सारण हैं। वे दोनों रावण के सामने कहते हैं कि यह वही राम हैं जिन्होंने ...... ऐसा किया। इस पद्य से राम की वीरता अभिव्यक्त होती है। कारण राम ने ब्राह्मणजातिविरुद्ध शस्त्रग्रहण—करने वाले परशुराम को ब्राह्मणोचित मर्यादा का उपदेश किया—अर्थात् उनसे शस्त्र-त्याग करवा दिया, इस वर्णन से सिद्ध होता है कि राम ने परशुराम पर आक्रमण किया, पर उस आक्रमण के लिए पूर्व से कोई तैयारी नहीं थी उसमें उतावलापन भी नहीं था, अपितु—गंभीरता थी, इससे राम का समुचित प्रभाव व्यक्त होता है। चाप द्वारा भ्रूभङ्ग की बात कह कर औचित्य की रक्षा और अधिक की गयी है, क्योंकि भ्रूभङ्ग एक क्रोधजन्य विकार है और वीर जन के कोप, विकार-रहित होते हैं। इन सब सिद्धान्तों के अनुकूल वर्णन यहाँ है। परशुराम के पराभव से राम की उत्कृष्टता सिद्ध की गयी है। फलतः वीररसौचित्य का पद्य उदाहरण है।

यथा वा राजशेखरस्य—

स्त्रीणां मध्ये सलीलं भ्रमितगुरुगदाघातनिर्नष्टसंज्ञः,
सद्यो वध्योऽभवस्त्वं पशुरिव विवशस्तेन राज्ञाऽर्जुनेन।
तस्य च्छेत्तापि योऽसौ सकलनृपरिपुर्जामदग्न्यो भुजानां,
जित्वोच्चैः सोऽपि येन द्विज इति न हतस्तापसस्त्वेष रामः॥

वीररसस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमाह—यथा वा राजेति स्त्रीणामिति। रावणं प्रत्युक्तिरियम्। स्त्रीणां वनितानां, मध्येऽग्रत एव, स्त्रीणां मध्ये सर्वेऽपि स्वपुरुषार्थं प्रदर्शयन्त्यतस्तत्समक्षे, जायमाना दुरवस्थाऽधिकाधिप्रदेति भावः, पशुरिव, विवशोऽशक्तो, भ्रमिता घूर्णिता गुर्वी घोरा, या गदा तस्याघातेन प्रहारेण, निर्नष्टा, संज्ञाऽवबोधो यस्यैवंभूतस्त्वं रावण इत्यर्थः, तेनातिबलवता राज्ञा नृपतिनाऽर्जुनेन, कार्तवीर्यार्जुनेन, सद्यस्तत्कालमेव, सलीलमनायासं, वध्यते घातयितुं योग्योऽभवः संजातः, तस्य, कार्तवीर्यार्जुनस्य च भुजानां सहस्रसंख्यकबाहूनां, छेत्ता

कर्तयितापि, सकलनृपरिपुर्निःशेषक्षत्रियध्वंसकारी, योऽसौ, योऽयं, ज
दग्न्यः परशुराम, सोऽपि परशुरामोऽपि, उच्चैः साधुतया सम्यक्प्र
णेत्यर्थः, जित्वा विजित्य, येन रामेण द्विज इति कृत्वा ब्राह्मण,
मत्वा, न, हतो मारितः। एष पुरोवर्ती, तापसस्तपस्वी, तु, स एव रा
ऽस्तीति भावः।

वीररसौचित्य का दूसरा उदाहरण दिखलाने के लिए कहा गया है—
वा राजेति। स्त्रीणामिति। इस पद्य के द्वारा रावण को राम का परिचय दि
हुए कहा गया है कि जिस कीर्तवीर्यार्जुन ने स्त्रियों के सामने ही अपनी ग
आघात से तुम्हें बेहोश कर दिया था, इतना ही नहीं पशुओं के समान
और विवश होकर मरने के लिए बाध्य भी कर दिया था, उस कीर्तवीर्यार्जु
हजारों हाथों को काट कर जिस परशुराम को अच्छी तरह जीत कर भी
केवल ब्राह्मण होने के कारण जान से नहीं मारा यह तापसवेषधारी
पुरुषोत्तम राम हैं।

**अत्र रावणकार्तवीर्यजामदग्न्योत्कर्षोत्कर्षतरसोपानपरम्पराधिरो
क्रमेण प्रधाननायकस्य प्रतापः परां कोटिमारोपितः।**

अत्रोपर्युक्तपद्ये, रावणकार्तवीर्यजामदग्न्योत्कर्षोत्कर्षतरसोपानप
राधिरोहणक्रमेण रावणकार्तवीर्यार्जुनपरशुरामाणामुत्तरोत्तराधिकमह
त्मकालिन्दश्रेणीसंप्राप्तिपरिपाट्या, प्रधाननायकस्य रामस्य, प्रतापो म
परामुत्कृष्टां, कोटिं काष्ठामारोपितो गमितः।

इस पद्य में रावण, कार्तवीर्यार्जुन और परशुराम की उत्कृष्टता का
क्रमिक आधिक्य दिखाया गया है उससे प्रधान नायक राम की महिमा परा
को प्राप्त कर जाती है। इस प्रकार वीर रस के औचित्य का बड़ा ही सु
निर्वाह यहाँ पर हो पाया है।

ननु यथा भवभूतेः—

**वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्ततां,
युद्धं स्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।**

यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने,
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

वीररसानौचित्यं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—नतु यथा भवभूतेरिति। वृद्धा इति। चन्द्रकेतुं प्रति लवस्योक्तिरियम्। वृद्धाः परिणतवयसस्ते रामादयः, विचारणीयान्यालोचनीयानि, चरितानि चरित्राणि कार्यकलापादीनि, येषान्ते तादृशाः, न, तिष्ठन्तु वर्तन्तां, सम्भावनायां लोट्, एतेषां वयोमात्रं गौरवैकारणं न चरितमिति भावः। 'हुँ शब्दो वितर्के।' क्वचित् "हुँ वर्तते", इति पाठः, तत्र पाठे सर्वप्रथमं वर्तते रामचरितविषये किमपि वक्तव्यमिति शेषः, एवं व्याख्यायाग्रे व्याख्येयम्। क्वचिच्च "किं वर्ण्यते" इति पाठः। तत्र ते वृद्धा विचारणीयचरिता न, अतस्तद्विषये किं वर्ण्यते न किमपि वर्णनीयमिति भाव इत्येवंरीत्या व्याख्येयम्। वर्तमानपाठे तु वर्ततामित्यस्य युद्धमित्यनेन सम्बद्धं विधायान्ते योगो विधेयः। स्त्रियाताडकायाः सुन्दस्त्रिया दमने वधे, अप्यखण्डं परिपूर्णं यशः कीर्तिर्येषामेवंभूतास्ते लोके संसारे, हि निश्चयेन, महान्तः श्रेष्ठा एव। शास्त्रविरुद्धस्त्रीवधाचरणेऽपि लोकास्तान्प्रशंसन्त्येवेत्यहो तेषां महत्त्वमिति भावः। खरेण खराख्यमहासुरेणायोधने युद्धे, यानि त्रीणि त्रिसंख्याकानि, कुतोमुखानि इतस्ततो निःक्षिप्तानि युद्धादपसर्तुमिति भावः, पदानि चरणान्यप्यासन्, खरयुद्धे रामो द्वित्राणि पदानि पराङ्मुखीकृतान्यकार्षीदिति रामायणे प्रसिद्धम्; वाऽथवेन्द्रसूनोर्देवेन्द्रपुत्रस्य बालिन इति यावत्, निधने मारणे, यद् कौशलं नैपुण्यं छद्माघात इति यावत्, रामस्यासीदिति शेषः, तत्रापि तेष्वपि, रामचरितेषु जनः साधारणोऽपि लोकोऽभिज्ञो ज्ञानवान्, अतस्तत्सर्वं तिष्ठतु युद्धं वर्तताम्। रामचरितचर्चामपहायावाभ्यां युद्धमेव विधेयमिति भावः।

वीररसानौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—नतु यथा भवभूतेरिति। वृद्धा इति—चन्द्रकेतु के प्रत्युत्तर में लव रामचरित का उपहास करता हुआ कह रहा है कि रघुपति के चरित्र को कौन नहीं जानता? वे बूढ़े हैं अतः जवानों के विचार की कोटि में नहीं आ सकते, उनकी महिमा का क्या कहना? जहाँ संसार के अन्य व्यक्ति स्त्रीहत्या को जघन्य कर्म मानते हैं वहीं उन्होंने सुन्दर स्त्री ताड़का की हत्या करके भी संसार में अखंड कीर्ति का लाभ किया, अथवा खर के साथ हुए युद्ध में जो उन्होंने तीन पैर पीछे हटाये तथा इन्द्रपुत्र बालि

की हत्या के समय जिस कौशल (छिपकर वार करना) का परिचय दिया, सब बातें किसे मालूम नहीं ? सभी कोई इन्हें खूब अच्छी तरह जानते हैं, इसलि उनकी चर्चा छोड़कर हमें युद्ध ही करना चाहिए ।

अत्राप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोर्वी रसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधाननायकगतस्य वी रसस्य ताडकादमनखररणापसरणान्यरणसंसक्तबालिव्यापादनादिजन हितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचितमेत

अत्रोक्तपद्ये-प्रधानस्यामुख्यस्य, परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोरन्यमहि सहनशीलस्य, रामसूनोः रामपुत्रस्य, कुमारलवस्य, वीररसोद्दीप वीररसविवृद्धये, सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य, सम्पूर्णप्रबन्धजीव धायकस्य, प्रधाननायकगतस्य मुख्यनायकनिष्ठस्य, रामवृत्तेरिति भा वीररसस्य, ताडकादमनं ताडकाख्यसुन्दस्त्रीनिपातः, खरयुद्धापसरणं युद्धात्पादत्रयनिवर्तनम्, अन्यरणसंसक्तबालिव्यापादनमन्येन परेण सु वेणेति यावत्, सह, रणे युद्धे, संसक्तस्य व्यालग्नस्य, बालिनो व्यापा मारणम् इत्यादेर्जनविहितापवादस्य लोकप्रदत्तकलङ्कस्य, प्रतिपाद कथनेन, कविनोत्तररामचरितनिर्मात्रा भवभूतिना, स्ववचसैव विनाशः इत्येतदनुचितं नितरामयुक्तम् ।

उपर्युक्त पद्य में दूसरे के प्रताप को नहीं सह सकने वाले, प्रस्तुत (उत्तररामचरित) के अप्रधान पात्र, रामपुत्र कुमार लव की वीरता को ब देने के लिए, संपूर्ण प्रबन्ध के जीवातुभूत, प्रधान नायक रामवृत्ति वीर र स्त्री (ताड़का) दमन, खरयुद्ध से पलायन तथा सुग्रीव के साथ युद्ध करते बालि की छल से छिपकर हत्या करना आदि लोकापवाद के प्रतिपादन से (भवभूति) ने खुद अपने ही शब्दों के द्वारा विनाश कर दिया है जो नितान्त अनुचित है ।

भयानके यथा श्रीहर्षस्य—

> **कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः श्रृङ्खलादाम कर्षन् ।**
> **क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः ।**
> **दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः,**
> **प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः ॥**

अपि च—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं,
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः॥

भयानकरसौचित्यं प्रदर्शयितुं रत्नावलीनाटिकायाः पद्यद्वयमुपस्थापयति—भयानके यथेति। अन्तःपुरं प्रविष्टस्य वानरस्य वर्णनमिदम्—कण्ठे इति। कण्ठे गले, कृत्तस्य छिन्नस्यावशेषमवशिष्टं, कनकमयं सौवर्णं, शृङ्खलादाम बन्धनपाशम्, अधःकर्षन्, द्वाराणि देहलीः, क्रान्त्वोल्लङ्घ्य, हेलया लीलावशेन, चलयोश्चञ्चलयोः, चरणयोः पादयोः, रणच्छब्दायमान, किङ्किणीचक्रवालं क्षुद्रघण्टिकासमूहो यस्य सः, अत एवाङ्गनानामुत्सवदर्शनार्थमायातानामन्तःपुरिकस्त्रीणां, दत्तातङ्कः प्रदत्तभयोऽश्वपालैर्वाजिरक्षकैः, सम्भ्रमाद्वेगादनुसृतसरणिरनुगतमार्गः कृतानुसरण इति यावत्, मन्दुरायाः पशुशालायाः प्रभ्रष्टो निःसृतः सन्, अयं पुरोवर्ती, प्लवङ्गो वानरः नृपतेर्महाराजस्य, मन्दिरं गृहं प्रविशति।

पूर्ववर्णितवानरप्रवेशजन्यभयप्रतिक्रियास्वरूपान्तःपुरसंभ्रान्ततां प्रदर्शयितुमाह—**अपि च किञ्चेति। नष्टमिति।** मनुष्येषु पुंसु, गणनायाः संख्यानस्याभावात्क्लीबो न पुमानिति हेतोरिति भावस्त्रपां पलायनजन्यलज्जाम्, अकृत्वाऽपास्य, त्रासाद् भयाद्, वर्षवरैरन्तःपुरचारिभिर्नपुंसकैर्नष्टम् पलायितम्। अयं पुरोवर्ती, वामनः खर्वाकृतिर्मनुष्यः, कञ्चुकिनो वृद्धब्राह्मणस्य, कञ्चुकस्य बृहच्छरीरावरणस्यान्तरभ्यन्तरं, विशति स्वात्मानं गोपयितुं प्रविष्टो भवतीति भावः। किरातैः पर्यन्ताश्रयिभिर्नगरगामिभिः सद्भिः, निजस्य स्वस्य, नाम्नः किरातेतिस्ववाचकपदस्य, सदृशमनुरूपं कृतम्,अर्थात् किरं प्रान्तदेशमतति गच्छतीति व्युत्पत्तिलभ्यार्थःसार्थकीकृतः। स्थानान्तराश्रयणं कृतमिति भावः। तथाऽऽत्मनां निजानामीक्षणं वानरकर्तृकदर्शनमाशङ्कन्ते इति ते यथाभूताः, कुब्जा जनाः, शनकैर्मन्दं मन्दं, नीचतयैव स्वाभाविकखर्वतायां सत्यामपि पुनः खर्वीकृतविग्रहतया यान्ति गच्छन्ति।

भयानक-रसौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—भयानके यथेति। कण्ठे इति। ये पद्य रत्नावली नाटिका के हैं। पशुशाला से बन्धन तोड़कर

भागा हुआ वानर महाराज के अंतःपुर में प्रवेश कर रहा है, वह अपने कंठ की टूटी हुई भूलुंठित स्वर्णमय डोरी को खींचता हुआ द्वार पर द्वार टपता जा रहा है, पैर की क्षुद्रघंटिकायें (घुंघरू) रनरना रही हैं, और पशुशाला के रक्षक उसे पकड़ने के लिये वेग से उसके पीछे-पीछे दौड़े जा रहे हैं, फिर भी वह पकड़ में नहीं आ पाता, भीतर घुसता ही जा रहा है, जिससे अन्तःपुर की स्त्रियां आतंकित हो रही हैं।

और भी—

उस बंदर के भय से राजा के अंतःपुर में एक भगदड़ सी मच गयी है, नपुंसक सब भागे जा रहे हैं, क्योंकि उनकी गणना पुरुषों में तो होती नहीं, फिर उन्हें पीठ दिखाने में कैसी लज्जा ? बौनें वृद्ध कंचुकियों के कंचुक में छिप रहे हैं, किरात नगर के किनारे की ओर भागते हुए अपने नाम की (किर = नगर का भाग विशेष, अतति = जाता है इस व्युत्पत्ति से) सार्थकता सिद्ध करने लग गये हैं, कुबड़े एक तो वैसे ही नवे हुए हैं, अभी डर के कारण और भी नव कर धीरे-धीरे निकले जा रहे हैं, क्योंकि उनके मन में शंका बनी हुयी है कि कहीं देख न लिए जांय।

अत्राङ्गनानां निशितदशननखशिखोल्लेखातङ्कदानेन प्रचुरतरवानराभिसरणभयसंभ्रान्तान्तःपुरिकवृद्धवामनकिरातकुब्जादीनां पुरुषगणनाविहीनतया धैर्यविरहकातराणामुचितचेष्टानुभाववर्णनया भयानकरससंवादिरुचिरौचित्यमाचकास्ति।

अत्र श्लोकद्वयेऽङ्गनानामन्तःपुरस्त्रीणां, निशितदशननखशिखोल्लेखातङ्कदानेन तीक्ष्णदन्तनखाग्रोल्लेखजन्यभयप्रदानेन, पुरुषेषु गणनायाः संख्यानस्याभावेन, धैर्यविरहकातराणां धृतिविरहिततया कातरात्मनां, प्रचुरतरवानराभिसरणभयसंभ्रान्तःपुरिकवृद्धवामनकिरातकुब्जादीनां वानरागमनबहुतरभयभीतान्तःपुरस्थकञ्चुकिवामनकिरातकुब्जप्रभृतीनाम्, उचितचेष्टानुभाववर्णनया समुचिताचरणरूपानुभाव (कार्य) वर्णनेन, भयानकरससंवादिरुचिरौचित्यं भयानकरसपोषकसुन्दरौचित्यम्, आचकास्ति सुशोभते।

इन पद्यों में स्त्रियों को डराने के लिये वानर के तेज नख और दाँत के आघात के आतंक का जो उल्लेख किया गया है उससे अपने को पुरुषों की श्रेणी में नहीं गिनने वाले वृद्ध, वामन, कुबड़े और किरातों के चेष्टास्वरूप (भागना,

छिपना और नव कर चलना आदि) अनुभावों का जो वर्णन किया गया है वह भयानक रस के परिपोष में चार चांद लगा रहा है। इसलिये यहाँ भयानक रसौचित्य का अच्छा समावेश हो जाता है।

नतु यथा। राजपुत्रमुक्तापीडस्य—

नीवारप्रसराग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धितः शैशवे,
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पयः।
तं दृष्ट्वा मदमन्थरालिवलयव्यालोलगल्लं गजं,
सानन्दं सभयञ्च पश्यति मुहुर्दूरे स्थितस्तापसः॥

भयानकरसानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—नतु यथेति। नीवारेति। यो गजः, शैशवे बाल्यावस्थायां, नीवाराणां मुनिधान्यविशेषाणां, प्रसरस्य समूहस्य योऽग्रोऽग्रभागस्तस्य, या मुष्टिस्तस्याः, कवलैर्ग्रासैः, वर्धितो बुद्धि नीतस्तथा येन हस्तिना सरोजपत्रपुत्रके नलिनीदलद्रोणे, होमावशिष्टं हवनार्थानीतावशिष्टं, पयो जलं, पीतं, तमेव गजं, मदेन दानवारिणा, मन्थरेण मन्दगतिना मदप्रभावादिति भावः, अलिवलयेन भ्रमरसमूहेन, व्यालोलश्चञ्चलं; गल्लं गण्डं, यस्य तादृशं, दृष्ट्वा ज्ञात्वेत्यभिप्रायः, दूरे स्थितः सुदूरवर्ती, तापसस्तपस्वी, मुहुर्वारंवारं, सानन्दं निजपोषितजन्तुविवृद्ध्याऽऽनन्दपूर्वकं सभयं—तस्य भयङ्करवन्यजन्तुत्वेन भयपूर्वकञ्च पश्यति विलोकयति।

भयानकरस के अनौचित्य के उदाहरण—स्वरूप यह पद्य उद्धृत किया गया है—नीवारेति। नीवार (मुनिधान्यविशेष) के कोमल अग्रभाग की एक-एक मुट्ठी का ग्रास खिलाकर जिस (गज) को बच्चे से बड़ा किया था तथा हवन के लिए लाये हुए अच्छिन्न जल में से बचे हुए जल को कमल-पत्र के दोने में भर-भर कर पिलाया था, आज मदमत्त भ्रमरों के चंक्रमण से चंचल गंडस्थल वाले उसी गज को तपस्वीवृन्द दूर से आनन्द और भयपूर्वक देख रहे हैं।

अत्र गजस्याघातकविकृतचेष्टानुवर्णनाविरहिततया स्थायिभावस्य भयानुभाववर्जितस्य केवलं नाममात्रोदीरणेन च भयानकरसोचितसंभ्रमाभावादुपचितमौचित्यं न किंचिदुपलभ्यते।

अत्र पद्ये, गजस्य हस्तिनः, आघातकविकृतचेष्टानुवर्णनाविरहिततया व्याघातकारिविकारग्रस्तव्यापारविशेषवर्णनराहित्येन, भयानुभाववर्जितस्य भयजन्यकार्यकलापरहितस्य, स्थायिभावस्य भयरूपस्य, केवलं नाममात्रोदीरणेन नाममात्रकथनेन च, भयानकरसोचितसभ्रमाभावाद्

भयानकरसानुरूपसंवेगाभावात् न किंचिदौचित्यमुपचितं विवृद्ध-मुपलभ्यते प्राप्यते।

इस पद्य के द्वारा गज का जो वर्णन किया गया है उससे उसकी किसी ऐसी चेष्टा का उल्लेख तो हुआ नहीं जो कि भयप्रयुक्त और विकारयुक्त समझा जाय। इसलिए भय के केवल नामतः कथन रहने पर भी उपयुक्त अनुभावादि से अपुष्ट होने के कारण वह रसरूपता को प्राप्त ही नहीं कर सकता। अतः यह भयानक रसानौचित्य का उदाहरण कहलाने के योग्य है।

बीभत्से यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

सर्वापायचयाश्रयस्य नियतं कुत्सानिकायस्य किं,
कायस्यास्य विभूषणैः सुवसनैरानन्दनैश्चन्दनैः।
अन्तर्यस्य शकृद्यकृत्कृमिकुलक्लोमान्त्रमालाकुले,
क्लेदिन्यन्तदिने प्रयान्ति विमुखाः कौलेयकाका अपि।

बीभत्सरसौचित्यमुदाहर्तुमाह—बीभत्से यथा ममेति। सर्वेति। सर्वा-पायचयाश्रयस्य सर्वविधिविनाशस्तोमाधारस्य, नियतं निश्चितं, कुत्सा-निकायस्य निन्दैकसंस्थानस्यास्य घृणास्पदस्य, कायस्य शरीरस्य, विभूषणै-रलङ्कारैः, सुवसनैर्विशिष्टाच्छादनैः, आनन्दनैर्मोदप्रदैश्चन्दनैः श्रीखण्डलेप-नैश्च किं? व्यर्थमिति भावः। शकृतो मलस्य, यकृतः पाचनयन्त्रस्य, कृमि-कुलस्य श्वेतरक्तकीटाणुप्रभृतेः, क्लोम्न उदकवाहिस्रोतोमूलस्यान्त्रयोः क्षुद्रा-न्त्रबृहदन्त्रयोर्मालया समूहेनाकुले व्याप्तेऽत एव क्लेदिनि पङ्किले, यस्य कायस्यान्तरभ्यन्तरे विषये, विमुखा उदासीनाः, अन्तदिने मृत्युकाले, कौलेयकाकाः कुक्कुरकाकप्रभृतयो निर्घृण्यभोजिनोऽपि विमुखाः, प्रयान्ति परावर्तन्ते।

बीभत्सरस के औचित्य को प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है—बीभत्से यथा ममेति। सर्वेति। यह शरीर क्या है? पुंजीभूत समस्त दोषों का एकमात्र आश्रय और निन्दा का निश्चित स्थान ही तो है, फिर निरर्थक इसको सजाने के लिए अलंकार, सुन्दर वस्त्र और सुगंधित चन्दनों के व्यवहार का क्या प्रयोजन? मृत्यु के पश्चात् मल, मूत्र, यकृत्, क्लोम, कीट और अंतड़ियों के समूह से क्लिन्न इन मानव शरीर को निर्घृण्यभोजी कुत्ते और कौवे भी तो नहीं पूछते।

अत्र वैराग्यवासनाच्छुरितबीभत्सरसस्य जुगुप्सास्थायिभावोचित-

कायगतकुत्सिततरान्त्रतन्त्रादिसमुदीरणेन परा परिपुष्टिर्निःसारशरीराभिमानवैरस्यजननीं प्रतिपादिता।

अत्र पूर्वोक्तपद्ये, वैराग्यवासनाच्छुरितबीभत्सरसस्य वैराग्यसंस्कारसहकृतबीभत्साख्यरसस्य, जुगुप्साख्यस्थायिभावोचितकायगतकुत्सिततरान्त्रतन्त्रादिसमुदीरणेन जुगुप्सानामकस्थायिभावानुरूपशरीरगतातिनिन्दितमलमूत्रान्त्रादिवर्णने, निःसारशरीराभिमानवैरस्य जननी निस्तत्त्वकायिकगर्वखर्वकारिणी, परोत्कृष्टा, परिपुष्टिः परिपोषः, उत्पादितो जनितः।

उक्त पद्य में जुगुप्सारूप स्थायीभाव के अनुरूप शरीरगत घृणित आंत आदि के वर्णन से, वैराग्य-भावना से सहकृत बीभत्सरस के शारीरिक गर्व को चूर्ण करने वाला बहुत हो अच्छा परिपोप दृष्टिगोचर हो रहा है, जिससे बोभत्सर-सौचित्य का एक जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाता है।

नतु यथा चन्दकस्य—

> कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः,
> क्षुधाक्षामो रूक्षः पिठरककपालार्दितगलः।
> व्रणैः पूतिक्लिन्नैः कृमिपरिवृतैरावृततनुः,
> शुनीमन्वेति श्वा तमपि मदयत्येष मदनः॥

बीभत्सरसानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—नतु यथा चन्दकस्येति। कृश इति। कृशो दुर्बलः, खञ्जः सञ्चारशक्तिविकलः, श्रवणरहितः श्रुतिहीनः, पुच्छविकलः खण्डितलाङ्गूलः, क्षुधाक्षामो बुभुक्षामलिनः, रूक्षः शुष्कः, स्निग्धतारहित इत्यर्थः, पिउरककपालार्दितगलः पीडितकपालगलादिः, पूतिक्लिन्नैर्दुर्गन्धियुक्तैः, कृमिपरिवृतैरुत्पन्नकृमिभिः, व्रणैरावृततनुः संयुक्तशरीरोऽपि, श्वा कुक्कुरः शुनीं कुक्कुरीमन्वेति संभोगार्थमनुधावत्येष जगदुन्मादको मदनः कामस्तमप्येतादृशं संयोगयोग्यतारहितमपि श्वानं मदयति वासनाधीनं करोति।

बीभत्सरस के अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—नतु यथेति। कृश इति। संसार को मदमत्त करने वाले इस कामदेव की महिमा विचित्र है, योग्य की तो बात ही अलग है। अयोग्य से अयोग्य जन्तुओं में भी कामवासना का संचार कर देता है। ऐसे भी कुत्ते कामान्ध होकर कुतियों के पीछे लगे रहते हैं जो कि बहुत ही दुर्बल, काने, लंगड़े, बहरे, और पुछकट्टे हैं। इतना

ही नहीं, भूख से व्याकुल, बड़े ही रूखे, मस्तक और गले की व्याधि से पीड़ित और ऐसे ऐसे घावों से युक्त हैं जिनसे कि बड़ी ही सड़ांध-सी दुर्गंध निकलती रहती है और कीड़े भी पड़ गये होते हैं।

अत्राशुचिचर्वणरुचेरुपचितविचिकित्सकुत्सानिकायस्य स्वभावजुगुप्सितयोनेः शुनकस्य किमेतैर्बीभत्सविशेषणैरतिशयनिर्बन्धानुबद्धैरधिकमुद्भासितम्। एतैरेव पुरुषगतैर्जुगुप्सापरं गौरवमावहति।

अत्र पद्ये, अशुचिचर्वणरुचेरपवित्रभक्षणरुचियुक्तस्योपचिता विवृद्धा विचिकित्साऽऽश्चर्यं यस्यां तादृशी या कुत्सा निन्दा, तस्या निकायस्य स्थानस्य, स्वभावजुगुप्सितयोनेः स्वभावत एव घृणितयोनिसम्भूतस्य शुनकस्य कुक्कुरस्यैतैः पूर्वोक्तैः (श्लोकप्रतिपादितैरिति भावः) अतिशयनिर्बन्धानुबद्धैराग्रहबहुलयोजितैः, बीभत्सविशेषणैर्बीभत्सव्यञ्जकविशेषणैः किं विशिष्टम्, उद्भासितमुद्योतितम् ?, न किमपोत्यर्थः। स्वतो घृणितस्य घृणास्पदतावर्णनं न चेतश्चमत्कारीति भावः। पुरुषगतैर्मानवसञ्चारिभिस्तैरेव विशेषणैर्जुगुप्सा, परमत्यन्तं, गौरवं महत्त्वमावहति धत्ते।

इस पद्य में अभक्ष्यभक्षी, अतिशयनिन्दनीय, गर्हितयोनिसमुद्भव कुत्ते घृणाद्योतक इन विशेषणों की आग्रहपूर्वक योजना से क्या विशेष उद्भासित गया ? कुछ भी तो नहीं, क्योंकि घृणितों की घृणा-योग्यता स्वाभाविक ही है ऐसा ही यदि किसी मनुष्य का वर्णन किया गया होता तो वह बीभत्सरस पोषक होने के कारण उचित कहा जा सकता था, परन्तु कवि ने ऐसा किया नहीं इसलिए उनकी कृति यहाँ पर बीभत्सरस के अनौचित्य को ही प्रदर्शित कर रही है

अद्भुते यथा चन्दकस्य—

> कृष्णेनाम्ब ? गतेन रन्तुमधुना मृद् भक्षिता स्वेच्छया,
> सत्यं कृष्ण ? क एवमाह मुसली, मिथ्याम्ब ? पश्याननम्।
> व्यादेहीति विकासितेऽथ वदने दृष्ट्वा समस्तं जग-
> न्माता यस्य जगाम विस्मयपदं पायात्स वः केशवः॥

अद्भुतरसौहित्यमुदाहर्तुमाह—अद्भुते यथेति। कृष्णशैशवावस्था वर्णनमिदं—कृष्णेनेति। अम्ब हे मातः! रन्तुं क्रीडितुं गतेन कृष्णेनाधुना सम्प्रति, स्वेच्छया यथेच्छं विरोधकारिणोऽभावादिति भावः मृन्मृत्तिका भक्षिता खादितेति बलरामकथनानन्तरं माता कृष्णं पृच्छति हे कृष्ण सत्यं ? वस्तुतोऽद्य त्वया मृद् भक्षिता किं ? कृष्ण उत्तरयत्यम्ब!

एवमाह ? मुसली बलरामः कथयतीति शेषः, मिथ्याऽसत्यमेतत्, यदि न विश्वसिहि तर्हि ममाननं पश्य विलोकय, यदि मया मृद् भक्षिता भवेत्तर्हि तच्चिह्नमप्यवश्यं मे मुखे भवेदित्याशयः, व्यादेहि मुखं व्यादाय दर्शयेति मात्राभिहिते अथानन्तरं, (कृष्णेन) वदने मुखें, विकासिते प्रसारिते सति, (तत्र मुखे) समस्तं सम्पूर्णं, जगत्संसारं, दृष्ट्वा विलोक्य, यस्य कृष्णस्य माता, विस्मयपदमाश्चर्यपदवीं, जगाम गतवती, स केशवः कृष्णः, वो युष्मान्, पायादव्यात् ।

अद्‌भुतरस के औचित्य का उदाहरण दिखलाने के लिए कहा गया है—अद्‌भुते यथा चन्दकस्येति । कृष्णेनेति । बालकृष्ण की शिकायत करते हुए बलराम ने माँ से कहा कि ऐ माँ ! आज खेलते समय कृष्ण ने इच्छापूर्वक बहुत-सी मिट्‌टी खाली हैं । हाँ जी कृष्ण ? किसने तुमसे ऐसा कहा है माँ ? बलदेव ने । माता के इस तरह कहने पर कृष्ण ने कहा कि झूठ है, नहीं विश्वास हो तो मेरा मुख ही देख लो न ? अच्छा तो मुख खोलो । इसके बाद जब कृष्ण ने मुख फैला कर दिखाया तो उसमें संपूर्ण विश्व को तैरते-उतराते देख कर जिनकी माता विस्मयविमूढ हो गयीं, वह जगन्निवास श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

अत्र पाण्डुराङ्गकरसाक्षिलक्षितमृद्भक्षणाक्षेपोद्यतजननीभयचकितस्यापह्नवकारिणः शिशोर्विकासितास्यस्यान्तः समस्तजगद्दर्शनेन मातुश्च तत्प्रभावानभिज्ञतया वात्सल्यविह्वलाया विस्मयगमनेनात्युचितोऽयमद्भुतातिशयः ।

अत्र पद्ये पाण्डुरैर्धूसरैरङ्गैः करैश्च तद्रूपैरित्यर्थः, साक्षिभिः प्रमापकैर्लक्षितस्य विज्ञातस्य, मृद्भक्षणस्याक्षेपे उद्‌घाटने, उद्यता प्रवृत्ता या जननी तस्या भयेनातङ्केन, चकितस्य स्तब्धस्यापह्नवकारिणोऽपलापकारिणः, शिशोः कृष्णस्य, विकासितं विस्फारितं, यदास्यमाननं, तस्यान्तर्मध्ये, समस्तजगद्दर्शनेन सम्पूर्णविश्वालोकनेन, तत्प्रभावानभिज्ञतयेश्वरत्वमूलकतदीयसामर्थ्यविशेषाज्ञानेन, वात्सल्येन विह्वलाया द्रवीभूताया मातुर्जनन्या यशोदायाश्च, विस्मयगमनेनाश्चर्यान्वितत्वेनायं प्रकृतपद्याभिव्यक्तोऽद्भुतातिशयोऽद्भुतरसबाहुल्यमत्युचितोऽतिसमीचीनप्रायः ।

इस पद्य में कृष्ण के हाथ और अन्य अंगों में लगी हुई मिट्‌टी के प्रामाण्य से माता यशोदा उन पर मिट्‌टी खाने का अभियोग लगा रही है, जिससे भगवान् कृष्ण भीत और चकित हो रहे हैं, साथ ही अपराध को अस्वीकार करते हुए

अपना मुख दिखलाने लगते हैं। उस मुख में सम्पूर्ण ब्रह्मांड का दर्शन कर उसके प्रभाव से अनभिज्ञ अतएव वात्सल्य-विह्वल माता भी विस्मयविमूढ हो उठती है। इस वर्णन के औचित्य से सहृदयों के हृदय में अद्‌भुतरस का साम्राज्य सा स्थापित हो जाता है।

नतु यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

समस्ताश्चर्याणां जलनिधिरपारः सवसति-
स्ततोऽप्याश्चर्यं यत्पिबति सकलं तं किल मुनिः।
इदं त्वत्याश्चर्यं लघुकलशजन्मापि यदसौ,
परिच्छेत्तुं को वा प्रभवति तवाश्चर्यसरणिम् ॥

अद्‌भुनरसानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—नतु यथा ममेति। समस्तेति। प्रथमतः स जगत्प्रसिद्धोऽपारोऽनन्तो जलनिधिः समुद्रः समस्ताश्चर्याणां ज्ञाताज्ञातानन्ताश्चर्यजनकवस्तुजाताश्रयतया निखिलविस्मयानां, वसतिः स्थानं, मुनिरगस्त्यस्तं समुद्रं, सकलं निःशेषं यथा स्यात्तथा, किलेति निश्चयेन, यत्पिबति चुलकीकरोति, तत्, ततोऽपि समुद्रतोप्याश्चर्यं विचित्रं, यत् यस्माद्धेतोरसौ मुनिरपि, लघुकलशजन्मा स्वल्पकायघटसमुद्भवः, इदं त्वेतत्पुनरत्याश्चर्यं महच्चित्रं तवेश्वरस्येश्वररचितसंसारस्य वाऽऽश्चर्यं सरणिं विस्मयपद्धतिं, परिच्छेत्तुं परिमातुं को वा प्रभवति = कः शक्नोति ? न कोऽपीति भावः।

अद्‌भुतरसानौचित्य का प्रदर्शन करने के लिये कहा गया है—नतु यथेति। समस्तेति। एक तो वह अपार समुद्र ही सभी आश्चर्यों का स्थान है, परन्तु उससे भी आश्चर्य की बात तो यह है कि महामुनि अगस्त्य ने उसे भी चुलकीकृत कर लिया और यह तो और भी आश्चर्यजनक है कि वह मुनि (अगस्त्य) एक मामूली घड़े से पैदा हुए। हे प्रभो! तुम्हारे आश्चर्य-परम्परा की पद्धति को कौन माप सकता है?

अत्रापारसरित्पतिप्रभावेण मुनिना तस्यैकचुलकाचमनेन मुनेश्च लघुकलशजन्मना क्रमाक्रान्तिसमारूढोऽप्यसमविस्मयमयोऽयमद्भुतप्रसरः संसारस्यैवंविधैवाश्चर्यसरणिरपरिच्छिन्ना न किंचिदेतत्कौतुकमित्यर्थान्तरन्याससामर्थ्येन सहसैवावरोपित इव तिरोभूततामुपगतः।

अत्रोक्तपद्येऽपारोऽनन्तो यः सरित्पतेः समुद्रस्य प्रभावस्तेन, मुनिनाऽगस्त्येन, तस्य समुद्रस्यैकचुलकाचमनेन चुलकीकृत्य पानेन, तथा मुनेः

गस्त्यस्य च, लघुकलशजन्मना स्वल्पकायघटयोनित्वेन (एभिस्त्रिभिर्निमित्तैरित्यर्थः), क्रमाक्रान्तिसमारूढोऽपि क्रमिकाक्रमणपरिपाट्याऽङ्कुरितोऽप्यसमविस्मयमयोऽद्वितीयाश्चर्यस्वरूपोऽद्भुतप्रसरोऽद्भुतोदयः, संसारस्य विश्वस्याश्चर्यसरणिर्विस्मयपद्धतिरेवंविधैवेदृश्येवापरिच्छिन्नाऽपरिमेया । (अत्र) न किंचित्कौतुकं न मनागप्युत्कण्ठाहेतुरित्याकारकस्यार्थान्तरन्यासस्य समर्थकार्थस्य, सामर्थ्येन महिम्ना, सहसैव हठादेवावरोपित उत्पाटित इव तिरोभूनतामन्तर्हितत्वमुपगतः संप्राप्तः ।

इस पद्य में पहले तो समुद्र की विचित्रता दिखायी गयी है, फिर मुनि के द्वारा उसका चुलकीकृत किये जाने का उल्लेख किया गया है तथा मुनि की विचित्रता दिखाने के लिए उनके घटवंशजन्मता की भी चर्चा की गयी है। इस तरह क्रमशः एक के बाद एक की महत्ता में व्याघात पहुँचा कर जो आश्चर्यमूलक अद्भुतरस का अङ्कुर उत्पादित किया गया है वह—संसार की आश्चर्यपरम्परा इसी तरह अपरिमित होती ही है, इसमें कौतुक की कोई बात नहीं—इत्याकारक अर्थान्तरन्यास (पूर्ववर्णित अर्थ के समर्थनार्थ वर्णित अर्थ) से हठात् तिरोहित हो जाता है अर्थात् संसार को इस विचित्रता से कौन माप सकता है ? इस अर्थ के व्यक्त हो जाने से उसकी महत्ता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अनौचित्य के कारण अद्भुतरस का समुचित परिपाक यहाँ नहीं हो सका है।

शान्ते यथा मम चतुर्वर्गसंग्रहे—

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद्भयं
दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं वंशे कुयोषिद्भयम् ।
माने म्लानिभयं जये रिपुभय काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं नाम भवे भवेद्भयमहो वैराग्यमेवाभयम् ॥

शान्तरसौचित्यमुदाहर्तुमाह—**शान्ते यथा ममेति। भोगे इति।** भोगे, रोगस्यामयस्य, भयं भीतिरसंयतभोगस्य रागकारणत्वेन सुतरां रोगसंभव इति भावः। सुखे मोदानुभव, क्षयभयं विनाशभीतिः, सांसारिकसुखस्य क्षणभङ्गुरत्वेनाहर्निशं तद्विनाशभीतिरस्त्येवेति भावः। वित्ते सम्पत्तावग्निभूभृद्भयमग्नेः भूभृतो राज्ञश्च भयम्, अग्निदाहेन राज्ञः कोपेन च संपत्तिविनाशशंकेति भावः। दास्ये भृत्यतायां स्वामिनः पत्युर्भयमातङ्कः, गुणे दयादाक्षिण्यादौ खलस्य दुष्टस्य भयं, खलाः परनिन्दने स्वभावपटवो भवन्तीति गुणवतोऽपि निन्दन्त्येवेति भावः। वंशे कुले, कुयोषितः कुल-

टायाः स्त्रिया भयं, स्त्रीणां कदाचारेण कुलगरिमा विनश्यतीति भावः। मानेसम्माने, म्लानिभयं भङ्गभीतिर्जये विजये रिपुभयं शत्रुभीतिः, काये शरीरे, कृतान्ताद्यमाद् भयं, मृत्युभीतिरित्यर्थः। अहो इति खेदेन भवे संसारे, सर्वं नाम निखिलसांसारिकसामग्रीजातं, भयं भयान्वितमिति तात्पर्यं भवेत् स्यात्। केवलं वैराग्यमेवानासक्तैवाभयं भयरहितमस्तीति शेषः।

शान्तरस के औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—शान्ते यथा ममेति। भोगे—इति। इस असार संसार में कोई भी वस्तु भयरहित नहीं है, क्योंकि भोग में रोग का, सुख में क्षय का, धन में अग्नि और राजा का, नौकरी में मालिक का, गुण में निन्दकों का, कुल (खान्दान में कुलटा स्त्रियों का, सम्मान में उसके भंग का, विजय में शत्रु का, शरीर में मृत्यु का भय बराबर लगा ही रहता है। केवल वैराग्य ही एक ऐसा है जो इस भय की परिधि से बाहर है, इसलिये इसी का आश्रयण करना चाहिए यह अर्थ फलित होता है।

अत्र सकलजनाभिमतभोगसुखवित्तादीनां भयमयतया हेयतां प्रतिपाद्य वैराग्यमेव सकलभयायासशमनमुपादेयतया यदुपन्यस्तं तेन शान्तरसस्य निरर्गलमार्गावतरणमुचिततरमुपदिष्टं भवति।

अत्रोक्तपद्ये सकलजनाभिमतभोगसुखवित्तादीनां सम्पूर्णमानवानुमोदितभोगमोदधनप्रभृतीनां भयमयतया भीतिस्वरूपतया, हेयतां त्याज्यतां, प्रतिपाद्य वर्णयित्वा, सकलभयायासशमनं निःशेषभीतिविनाशकं, वैराग्यमेवोपादेयतया ग्राह्यतया, यदुपन्यस्तं यदभिहितं, तेन तदभिधानेन, शान्तरसस्य, निरर्गलमार्गावतरणमनवरुद्धपथोपलब्धिरुचिततरं समुचितरूपेणोपदिष्टं प्रतिपादितं भवति।

इस पद्य में सभी मानवों से अभिनन्दित भोग, सुख, धन, आदि को भयप्रद होने के कारण त्याज्यता दिखाकर, सभी भयों के संहारक के रूप में वैराग्य की जो ग्राह्यता प्रतिपादित की गयी है उससे शान्तरस का मार्ग अधिक प्रशस्त होता हुआ-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः शान्तरस के औचित्य का यहाँ बहुत ही सुन्दर समावेश किया गया है।

यथा वा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

कुसुमशयनं पाषाणो वा प्रियं भवनं वनं,
प्रतनु, मसृणस्पर्शं वासस्त्वगप्यथ तारवी।

सरसमशनं कुल्माषो वा धनानि तृणानि वा,
शमसुखसुधापानक्षब्ये समं हि महात्मनाम् ॥

शान्तरसौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमाह—**यथा वा ममेति।** **कुसुमेति।** कुसुमशयनं पुष्पशय्या, वा अथवा, पाषाणः कर्कशशिला, प्रियं स्पृहणीयं, भवनमट्टालिकाऽथवाऽरक्षितं वनं, प्रतनु सूक्ष्मसूत्रमयं, मसृणस्पर्शं कोमलं, वासो वस्त्रम्, अथाथवा, तरोरियं तारवी तरुसम्बन्धिनीति यावत्, त्वक् वल्कलं, सरसं स्निग्धं घृतादिसमन्वितमशनं भोजनं, वा, कुल्माषो नीरसं यवपिष्टं, धनानि सम्पत्तयो वाऽथवा, तृणानि निःसारघासादीनि, महात्मनां जीवन्मुक्तानां, शमस्य शान्तेर्यत्सुखं तदेव सुधाऽमृतं तस्याः पानेन क्षब्ये सति उन्मत्ततायां सत्यां, समं तुल्यं, सर्वं पूर्वोक्तमिति भावः।

शान्तरसौचित्य का दूसरा उदाहरण दिखलाने के लिये कहा गया है—यथा वा ममेति। कुसुमेति। उन महात्माओं के लिये (जो कि घृणा और आकर्षण की परिधि से बाहर हैं तथा शान्तिसुखरूप अमृत के पान से उन्मत्त से हो रहे हैं) कोई भी वस्तु विशिष्ट या निकृष्ट नहीं होती, उनके लिये तो सुखद अट्टालिका हो या दुःखप्रद सघन कानन कोमल और महीन पट्टवस्त्र हो या रुखड़े वल्कल, स्निग्ध भोजन हो या शुष्क कदन्न, धन हो या तृण, सभी बराबर ही मूल्य रखते हैं।

अत्र सकलविकल्पतल्परहिताभेदावभाससमानात्मतत्त्वविश्रान्तिजनितसर्वसाम्यसमुल्लसितशमसुखपीयूषपानोदितनित्यानन्दघूर्णमानमानसानां प्रियाप्रियसुखदुःखादिषु महतां सदृशी प्रतिपत्तिरिति जीवन्मुक्तिसमुचितमभिहितम्।

अत्रोक्तपद्ये, सकलेन सर्वविधेन, विकल्पतल्पेन विकल्पास्पदेन, द्वैतभावमिश्रितकल्पनयेति यावत्, रहितमत एवाभेदेन सकलपदार्थाभिन्नतया योऽवभासः प्रतीतिः, तत्समानं तत्तुल्यं, यदात्मतत्त्वं, तत्र या विश्रान्तिः स्थितिस्तज्जनितं तदुत्पन्नं, यत्सर्वसाम्यं सर्वसाधारण्यं, तेन समुल्लसितमुद्भासितं, यच्छमसुखं शान्तिजन्यानन्दस्तदेवामृतं, तत्पानेन तदास्वादनेनोदितः समुत्पन्नः, यो नित्यानन्दः शाश्वतिकानन्दस्तेन घूर्णमानं मत्ततामाश्रयमाणं, मानसं चित्तं, येषान्तेषां महतां महापुरुषाणां, प्रियाप्रियसुखदुःखादिष्वनुरक्तिविरक्तिकारणेष्वितिः भावः, सदृशी समानेव,

प्रतिपत्तिर्ज्ञानमिति, जीवन्मुक्तिसमुचितं जीवन्मुक्तावस्थानुरूपम्, अभिहितं प्रतिपादितम् ।

इस पद्य में विकल्परहित समता के ज्ञान से परिपूर्ण आत्मतत्त्व में विचरण करने से उत्पन्न शान्ति-सुधा के आस्वादन से मदमत्त महात्माओं का जो अनुरक्तिविरक्तिकारणीभूत सुख-दुःख आदि के विषय में तुल्यता-ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, वह पूर्णतया जीवन्मुक्तावस्था के अनुकूल है। अर्थात् महात्माओं को लक्ष्य कर जो इस तरह समदृष्टि की सर्जना की गयी है इस औचित्य से शान्तरस पूर्ण परिपुष्ट होता हुआ सा प्रतीत होता है।

नतु यथा श्रीमदुत्पलराजस्य—

> अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा,
> मणौ वा लोष्टे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
> तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः,
> क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥

शान्तरसानौचित्योदाहरणमुपस्थापयितुमाह—नतु यथेति । अहाविति । अहौ सर्पे, वाऽथवा, हारे माल्ये, बलवति बलशालिनि, रिपौ शत्रौ, वा, सुहृदि मित्रे, मणौ पद्मरागादौ, वाऽथवा, लोष्टे लौहे, कुसुमशयने पुष्पशय्यायां, वा दृषदि कर्कशशिलाखण्डे, तृणे निःसारघासादौ, वा, स्त्रैणे जगदाकर्षणैककेन्द्रे स्त्रीणां समूहे, समदृशस्तुल्यदृष्टेः, "शिवशिवशिव" इति प्रलपत उन्मत्तवदुच्चारयतो मम दिवसा दिनानि, क्वचित्कस्मिंश्चित्पुण्यारण्ये पवित्रकानने, यान्तु व्यतिगच्छन्तु ।

शान्त रस के अनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—नतु यथेति । अहाविति । चाहे विषात्मक सर्प हो या शीतल पुष्पमाला बलवान् शत्रु हो या परमप्रिय मित्र, बहुमूल्य मणि हो या नगण्य लोह, सुखद पुष्पशय्या हो या रुखड़ा प्रस्तरखंड, तुच्छ तृण हो या विश्व का एकमात्र आकर्षण केन्द्र स्त्रियों का समूह, सब में मेरी समान दृष्टि हो, साथ ही किसी एकान्त और पवित्र कानन में रहकर शिव शिव जपते हुए ही मेरे दिन बीते ।

अत्र जीवन्मुक्तोचितं प्रियाप्रियरागद्वेषोपशमलक्षणमोक्षक्षमं सर्वसाम्यमहिहारसुहृदरिसमदृष्टिरूपमभिदधता क्वचित्पुण्यारण्ये यदभिहितं तद्विकल्पप्रतिपादकमभेदवासनाविरुद्धमनुचितमवभासते । धाराधिरूढसर्वसाम्यविगलितभेदाभिमानग्रन्थेर्हि सर्वत्र सर्वं शिवमयं पश्यतस्तपोवने

नगरावस्करकूटे च विमलात्मलाभतृप्ततया समानदृशः क्वचित्पुण्यारण्यादिवचनमनुचितोच्चारणमेव ॥ १६ ॥

अत्र पद्ये, जीवन्मुक्तोचितं जीवनकालेऽपि ब्रह्मज्ञानसम्पदा यो भवबन्धरहितः स जीवन्मुक्तस्तदनुरूपं, प्रियाप्रिययोः रागद्वेषयोश्च य उपशमो निवृत्तिस्तत्क्षणो यो मोक्षस्तत्क्षमम्, अहिहारसुहृदरिसमदृष्टिरूपं सर्पमाल्यमित्रामित्रादिषु तुल्यदृष्टिस्वरूपं, सर्वसाम्यं सरलाभेदावभासम्, अभिदधता प्रतिपादयता क्वचित्पुण्यारण्ये इति यदभिहितं यत्प्रतिपादितं, विकल्पप्रतिपादकं द्वैतावबोधकमत एवाभेदवासनाविरुद्धमेकत्वसंस्कारप्रतिकूलं, तत्कथनमनुचितमवभासते प्रतीयते। तत्र हेतुमाह— धारेति। धाराधिरूढसर्वसाम्यविगलितभेदाभिमानग्रन्थेः प्रवाहाश्रितसमभावविनष्टभेदाहङ्कारस्य, हीति निश्चयेन, सर्वत्र सर्वं निखिलं, शिवमयं कल्याणमयं, पश्यतोऽवलोकयतः, तपोवने पावनकानने, नगरावस्करकूटे पुरविष्ठासमुदाये, च, विमलात्मलाभतृप्ततया निर्मलात्मतत्त्वज्ञानसन्तुष्टतया, समानदृशः समदृष्टेः, क्वचित्पुण्यारण्यादिवचनं "क्वचित्पुण्यारण्ये"-इत्याकारकोक्तिरनुचितोच्चारणमेव विरुद्धकथनमेव ॥ १६ ॥

इस पद्य में जीवन्मुक्त महापुरुष के अनुरूप, प्रिय-अप्रिय, और राग-द्वेष के प्रशमरूप मोक्ष के योग्य, सर्प और माल्य, मित्र और शत्रु में समदृष्टतारूप सर्वसाम्य का प्रतिपादन करके "क्वचित्पुण्यारण्ये" इस अंश का जो उपाख्यान किया गया है वह द्वैतभावप्रतिपादक है, अतएव अभेदभावना के विरोधी होने के कारण अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि अविच्छिन्न समभाव के प्रभाव से जिनके मिथ्या ज्ञान की गुत्थी सुलझ चुकी है। अतएव जो समूचे जगत् को कल्याणमय देख रहे हैं ऐसे महात्माओं के लिये "तपोवन या नागरिक अपावन भूभाग" दोनों के मूल्य बराबर होने चाहिये। फिर "क्वचित्पुण्यारण्ये" इस वचन के द्वारा उनमें जो पावन-अपावन का भेदभाव उत्पन्न किया गया है वह है अयुक्त ही नहीं अपि तु नितान्त अनुचित भी है। वस्तुतः इस कथन से शान्तरस का पोषण न होकर शोषण हो जाता है। इसलिये यह पूर्णतया शान्तरसानौचित्य का द्योतक है ॥ १६ ॥

यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृङ्गाराद्यास्तथा मिथः ॥ १७ ॥

तेषां परस्पराश्लेषात्कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससङ्करः ॥ १८ ॥

रससङ्करौचित्यं परिभाषयितुमाह—यथा मधुरेति । यथा कुशलयोजिताः पाकविधिज्ञजनप्रयुक्ताः मधुरतिक्ताद्या मधुराम्ललवणादिषट्प्रकारका रसा विचित्रास्वादतामपूर्वास्वाद्यतां, यान्ति प्राप्नुवन्ति, तथैव श्रृङ्गाराद्याः श्रृङ्गारवीरादयोऽपि रसाः, मिथः परस्परं सम्मिलिताः, विशिष्टानुरञ्जनप्रदा भवन्तीति भावः । (परन्तु) तेषां श्रृङ्गारवीरादीनां रसानां, परस्पराश्लेषात्पारस्परिकसम्मिश्रणादौचित्यरक्षणमुक्तलक्षणौचित्यस्य रक्षणं, कुर्यात्कुर्वीत । (यतो हि) अनौचित्येन संस्पृष्टः अनौचित्यलेशमात्रवासितोऽपि, रससङ्करो रससम्मिश्रणं, कस्येष्टोऽभिलषितोऽपि तु न कस्यापीति भावः ।

रससंकरौचित्य की परिभाषा की जा रही है यथा मधुरेति । पाकविधि के विशेष जानकार पाचकों के द्वारा मीठे-कड़वे रसों के सम्मिश्रण से जैसे अपूर्व स्वाद प्राप्त होता है, वैसे ही श्रृङ्गार-वीर आदि रसों का संकर (मिश्रण) भी अपूर्व आनन्द की सृष्टि कर देता है । परन्तु दो-तीन रसों का मिश्रण करते समय औचित्यरक्षण के ऊपर बराबर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये, क्योंकि औचित्य से रहित रससंकर कभी भी आनन्दप्रद नहीं हो सकता है ।

रसाः कटुकमधुराम्ललवणाद्याः कुशलसूदेन वेसवारपानादिषु योजिता विचित्रास्वादतामुपयान्ति तथैव परस्परमविरुद्धाः श्रृङ्गारादय इति तेषामन्योन्यमङ्गभावयोजनायामौचित्यस्य जीवितसर्वस्वभूतस्य रक्षां कुर्यात् । अनौचित्यरजसा रससंयोगः स्पृष्टो न कस्यचिदभिमत इत्यर्थः ।

उक्तार्थमेव विवृण्वन्नाह—रसा इति । कटुकमधुराम्ललवणाद्या जिह्वामाध्यमेनानुभवनीया रसाः, कुशलसूदेन पाचनक्रियाभिज्ञपाचकद्वारा, वेसवारपानादिषु शुण्ठ्यादिचूर्णघटितपेयविशेषेषु, योजिताः सम्मेलिताः, यथा विचित्रास्वादतामपूर्वास्वादनीयतामुपयान्ति गच्छन्ति, तथैव परस्परमन्योन्यमविरुद्धा विरोधभावरहिताः श्रृङ्गारादयः श्रृङ्गार-वीर-हासादयो हृदयमाध्यमेनानुभवनीया रसाः, इति तेषां रसानामन्योऽन्यं परस्परमङ्गभावयोजनायामङ्गाङ्गिभावरूपेण सम्मेलनकाले, जीवितसर्वस्वस्य प्राणाधायकस्यौचित्यस्यानुरूपभावस्य रक्षां कुर्याद्रक्षणं विदध्यात् । (यतो हि)

अनौचित्यरजसाऽनौचित्यकणमात्रेणापि, स्पृष्टः संपृक्तो रससंयोगो रससङ्करो, न कस्यचित्कस्याप्यभिमतोऽभीष्ट इत्यर्थः।

पूर्वोक्त कारिका की ही व्याख्या की जा रही है — रसा इति। मीठा, खट्टा, कड़वा आदि रस (जिनके प्रत्यक्षीकरण का माध्यम जिह्वा है) भी कुशल-पाचक के द्वारा वेसवार (शुंठीमिश्रित पानकविशेष) के पान में मिश्रित होकर अपूर्व स्वाद प्रदान करता है वैसे ही परस्पर अविरुद्ध शृङ्गारादिरस (जिनके प्रत्यक्षीकरण का माध्यम हृदय है) के अङ्गाङ्गिभाव की योजना में प्राणस्वरूप औचित्य की रक्षा करनी ही चाहिये, क्योंकि अनौचित्य की छाया भी पड़ जाने पर रससङ्कर अपनी महिमा खो वैठता है।

रससङ्करौचित्ये शान्तशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावो यथा भगवतो महर्षेर्व्यासस्य—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गिलोलं हि जीवितम्॥

रससङ्करौचित्ये प्रस्तुते प्रथमं शान्तशृङ्गारयोः सङ्करस्योदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—**यथा भगवतो महर्षेर्व्यासस्येति।** सत्यमिति। रामा नार्यः, सत्यं वस्तुतो, मनोरमा मनोमोदहेतवः, विभूतयः सांसारिकैश्वर्याणि, रम्या मनोरमा इत्यपि सत्यमेव, किन्तु, जीवितं जीवनं, हि निश्चयेन, मत्ताया मदव्याघूर्णितलोचनायाः, अङ्गनाया रमण्याः, अपाङ्गस्य नेत्रकोणभागस्य, भङ्गिवत्कटाक्षवदिति यावल्लोलं चञ्चलमचिरव्यापीति भावो वर्तते इति शेषः।

शान्त शृङ्गार के अङ्गाङ्गिभाव से सम्पन्न रससंकर का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है यथा भगवतो व्यासस्येति। सत्यमिति। यह सत्य है कि सुन्दरियाँ पुरुषों के चित्त को आनन्द प्रदान करती हैं और यह भी सत्य है कि सांसारिक ऐश्वर्य उपभोग करने के योग्य है, परन्तु मनुष्य का जीवन ही मदमत्त-कामिनी की अपाङ्गवीक्षणशैली के समान अत्यन्त अञ्चल (अचिरस्थायी) है। इससे यह व्यक्त होता है कि सांसारिक सुख का चिन्तन छोड़कर आध्यात्मिक चिंतन ही उचित है।

अत्र भगवता जन्तुहिताभिनिविष्टेन मोक्षक्षमोपदेशेऽङ्गिनः शान्तरसस्य रागिजनानिष्टत्वात्सकलजनमनः प्रह्लादने बालगुडजिह्विकया

शृङ्गारेऽङ्गभावमुपनीते पर्यन्ते शान्तस्यैव लोलं जीवितमित्यनित्यताप्रतिपादनपरिनिर्वाहेण परमौचित्यमुच्चैः कृतम् ।

अत्रोक्तपद्ये, जन्तुहिताभिनिविष्टेन प्राणिकल्याणकामिना, भगवता व्यासेन, मोक्षक्षमोपदेशे सायुज्यसारूप्यादिरूपमोक्षप्रदोपदेशेऽङ्गिनः प्रधानभूतस्य शान्तरसस्य, रागिजनानिष्टत्वादनुरक्तनरानभिप्रेतत्वात्सकलजनमनःप्रह्लादने निखिलमानवचित्तानुरञ्जने, बालगुडजिह्विकया गुडं भक्षयित्वा कर्णौ छेदयतीति लौकिकाचारेण, शृङ्गारेऽङ्गभावमुपनीतेऽङ्गतां प्रापिते, शान्ताङ्गतया शृङ्गाररसे वर्णित इति भावः, पर्यन्ते समाप्तौ, जीवितं, लोलमचिरस्थायीति रीत्याऽनित्यताया जीवनास्थैर्यस्य, प्रतिपादनस्य कथनस्य, परिनिर्वाहेण पूर्णतः सिद्ध्या, शान्तस्यैव, परमौचित्यमतिसमीचीनत्वमुच्चैः कृतं साधु निर्दिष्टम् । एतेन शान्तशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावः समर्थितः क्षेमेन्द्रेणेति बोध्यम् । प्राय एवमेव ध्वनिकारोऽपि मन्यते, ध्वन्यालोकस्य तृतीयोद्द्योते "विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा । तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति" इत्युक्तेः । वाग्देवतावतारो मम्मटस्तु "सश्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा" इति कारिकार्थोदाहरणतयेदं पद्यमुद्धृत्य "इत्यत्राद्यमर्थं बाध्यत्वेनैवोक्तम् । जीवितादप्यधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः । नतु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्तशृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात् । नापि काव्यशोभाकरणं, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात् । इत्युक्त्या शान्तशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावं निषेधत्येवेति सुधीभिर्विभावनीयम् ।

इस पद्य में मानवकल्याणकामी भगवान् व्यास ने अपने मोक्षप्रद उपदेश में विषयी जनों के लिये अङ्गिभूतशान्त रस के अनभिप्रेत होने के कारण निखिलमानवान्तःकरण के अनुरंजनार्थ 'गुड़ खिलाकर जैसे बच्चे के कान छेद दिये जाते हैं" उसी तरह अर्थात् आकर्षक वस्तु का प्रलोभन देकर अभिप्रेत विषय पर ले आने वाली नीति से श्रृंगार को शान्त अंग बनाकर अंत में "जीवन चंचल है" इस रूप में जीवन की अनित्यता के प्रतिपादन से शान्त रस की ही पुष्टि की है । अतः यह शान्त और श्रृंगार का संकर समुचित है । यहाँ आचार्य

मम्मट का मत कुछ भिन्न है जिसका परिचय इस स्थल की संस्कृत व्याख्या से करना चाहिये।

बीभत्सशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावो यथा मम बौद्धावदानकल्पलतायाम्—

क्षीबस्येवाचलस्य द्रुतहृतहृदया जम्बुकी कण्ठसक्ता,
रक्ताभिव्यक्तकामा कमति नखमुखोल्लेखमासूत्रयन्ती।
आस्वाद्यास्वाद्य यूनः क्षणमधरदलं दत्तदन्तव्रणाङ्कं,
लग्नानङ्गक्रियायामियमतिरभसोत्कर्षमाविष्करोति ॥

बीभत्सशृङ्गारसङ्करौचित्यस्योदाहरणमुपस्थापयितुमाह—यथा ममेति। क्षीबस्येति। क्षीबस्य मत्तस्येवाचलस्य निश्चलस्य, वस्तुतस्तु मृतस्येति भावः, यूनस्तरुणस्य, द्रुतं शीघ्रं, हृतं भक्षयितुं निःसारितं हृदयं यया सा, शृङ्गारपक्षे—कामोद्भावनया शीघ्राकृष्टचित्ता, कण्ठसक्ता कण्ठे लग्ना, बीभत्से भक्षयितुं, पक्षान्तरे कामभावनामुत्तेजयितुमिति विशेषः. रक्ते शोणितेऽभिव्यक्तः प्रकटितः, कामः पातुमिच्छा यया सा, पक्षान्तरे रक्ताऽनुरक्ताऽत एवाभिव्यक्तकामा प्रकटितमनसिजा (सा जम्बुकी), नखमुखयोरुल्लेखं क्षतमासूत्रयन्ती रचयन्ती भोक्तुं नखदन्तप्रहारेण मांसं निःसारयन्तीत्यर्थः। पक्षान्तरे—रतिक्रियाविशेषानुसारं नखदन्तप्रहारं कुर्वतीत्यर्थः, एवंभूता सती, कमति चकास्ति, (तथा तस्यैव यूनः) दत्तं कृतं, व्रणस्य क्षतस्याङ्कः चिह्नं यत्रैवंभूतं, पक्षद्वयेऽपि तुल्यमेतत्. अधरदलं, क्षणं निमेषमात्रम्, आस्वाद्यास्वाद्य वारंवारं भुक्त्वा, पक्षान्तरे—परिचुम्ब्य, अनङ्गक्रियायां क्रमशोऽङ्गभक्षणेनाङ्गाभावकरणकार्ये, पक्षान्तरे—कामव्यञ्जकचेष्टायां लग्ना प्रयत्नशीला, इयमेषा, जम्बुकी शृगाली, अतिरभसोत्कर्षं गात्राणामूर्ध्वंगतं कर्षणं, पक्षान्तरे रतिकौशलोत्कर्षमाविष्करोति प्रकटयति।

बीभत्स-शृंगार के संमिश्रण के औचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। क्षीबस्येति। जम्बुकी मृत युवा के हृदय को निकाल कर, खून पीने की लालसा से कंठ पकड़ कर नख और दाँत का प्रहार कर रही है तथा दन्तक्षत से चिह्नित ओठों को नोंच नोंच कर बारबार स्वाद स्वाद से खा रही है, इस प्रकार उस (मृत युवक) को अंगरहित बनाने में अत्यन्त हर्ष प्रगट करती हुई ठीक उसी तरह लग रही है जैसे कोई कामिनी मदमत्त पड़े हुए युवक के प्रति आकृष्टचित्त होकर अपनी अनुरक्तता प्रगट करने के लिये कंठ पकड़ कर चुम्बन

और नखच्छेद अंकित कर रही हो, साथ ही दन्तक्षत से चिह्नित उस (युवा) के अधर का बारंबार आस्वादन करके अपनी कामकलाव्यञ्जक चेष्टा करने में अपनी खुशी प्रकट कर रही हो।

अत्र श्लेषोपमया तुल्यकक्षाधिरूढयोरपि परस्परविरुद्धयोरर्थयोर्बीभत्सशृङ्गाराङ्गाङ्गिभावयोजनायां जम्बुकी तरुणशवस्य क्षीबस्येव निश्चलस्थितेः सहसैव हृतहृदयपद्माकृष्टचित्ता वा, कण्ठे लग्ना शोणिते भृशमभिव्यक्तस्पृहा रक्ताभिव्यक्तकामा वा, नखोल्लेखमासूत्रयन्ती दत्तदन्तव्रणमधरमास्वाद्यास्वाद्याङ्गच्छेदक्रियायामनङ्गभोगक्रियायां वा, लग्ना गात्राणामूर्ध्वगतं कर्षणं रतकौशलोत्कर्षं वा, प्रकाशयतीति समानयोर्बीभत्सशृङ्गारयोः कामिनीपदपरित्यागेन केवलं जम्बुक्याः कर्तृत्वेन बीभत्सस्यैव प्राधान्ये शृङ्गारेऽङ्गतामुपगते वक्तुर्बोधिसत्त्वस्यान्तर्गतगाढवैराग्यवासनाधिवासितचेतसः कुत्सार्हजुगुप्सया नितम्बिनीरतिविडम्बनमौचित्यरुचिरतामादधाति। यद्यप्यत्र महावाक्ये शान्तस्यैव प्राधान्यं तथाप्युदाहरणश्लोकवाक्ये बीभत्सस्यैव।

अत्रोक्तपद्ये, श्लेषोपमया श्लेषमूलकेनोपमालङ्कारेण, तुल्यकक्षाधिरूढयोरपि समानस्तरयोरपि, परस्परविरुद्धयोरर्थयोर्मृततरुणजम्बुकीवृत्तान्तकामाकुलतरुणतरुणीवृत्तान्तरूपयोरित्यर्थः, बीभत्सशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावरूपेण वर्णनायां, जम्बुकी, क्षीबस्य मत्तस्येव, निश्चलस्थितेस्तरुणशवस्य मृतयुवकशरीरस्य, सहसैव हठादेव, हृतहृदयपद्मा निःसारितहृदया, कृष्टचित्ताऽऽकृष्टमानसा वा, कण्ठे लग्ना सक्ता, शोणिते भृशमत्यन्तमभिव्यक्तस्पृहा प्रकटितवाञ्छा, रक्ताभिव्यक्तकामाऽनुरक्ततया प्रकटितमनसिजविकारा वा, नखोल्लेखं नखाघातमासूत्रयन्ती विदधती, दत्तदन्तव्रणं कृतदन्ताघातम्, अधरमास्वाद्यास्वाद्याङ्गच्छेदक्रियायामवयवविनाशकार्येऽनङ्गभोगक्रियायां कामोपभोगकार्ये वा, लग्ना, गात्राणामूर्ध्वगतमूर्ध्वदेशावच्छिन्नं कर्षणं, रतकौशलोत्कर्षं रतिकलावैशिष्ट्यं वा, प्रकाशयतीति समानयोस्तुल्ययोर्बीभत्सशृङ्गारयोः, कामिनीपदपरित्यागेन कान्तापदपरिवर्जनेन, केवलं, जम्बुक्याः शृगाल्याः कर्तृत्वेन बीभत्सस्यैव प्राधान्ये मुख्यत्वे, शृङ्गारेऽङ्गतामुपगतेऽङ्गभावमासादिते, वक्तुः प्रतिपादकस्य, बोधिसत्त्वस्य भगवतो बुद्धस्यान्तर्गतगाढवैराग्यभावनाधि-

वासितचेतसः, हृद्गतोग्रवैराग्यभावनासंवलितचित्तस्य, कुत्सार्हजुगुप्सया निन्दनीयघृणया, औचित्यरुचिरतामौचित्यचारुतामावहति धारयति। यद्यप्यत्र महावाक्ये पूर्णकाव्ये, शान्तस्यैव (रसस्य) प्राधान्यं मुख्यत्वं प्रधानतया वर्णनमिति यावत्, अस्तीति शेषः, तथापि उदाहरणश्लोक-वाक्ये प्रस्तुतश्लोके बीभत्सस्यैव प्राधान्यमस्तीति भावः।

इस श्लोक में श्लेषगर्भ उपमालंकार के द्वारा दोनों अर्थ समान स्तर पर आधारित हैं और परस्पर विरुद्ध भी हैं, फिर भी उन दोनों (बीभत्स तथा श्रृंगार) के अङ्गाङ्गिभाव की योजना करने पर यद्यपि (श्रृगाली मत्त के समान निश्चल पड़े हुए मृत युवक का हृदय निकाल कर, पक्षान्तर में स्वयं आकृष्ट होकर कण्ठ पकड़ कर खून चूसने की कामना से, अथवा अनुरक्त होने के कारण कामवासना प्रगट करने की भावना से, नख-प्रहार करती हुई, दन्तक्षत से चिह्नित अधर का बार-बार आस्वादन करके अंगच्छेद क्रिया में अथवा कामोपभोग क्रिया में लगी हुई, शरीर के ऊपरी भाग के कर्षण को, अथवा रति-कला के उत्कर्ष को प्रकाशित कर रही है)। ये दोनों अर्थ समान रूप से व्यक्त होते हैं। लेकिन कामिनी पद का परित्याग कर जम्बुकी को कर्ता बनाने के कारण यहाँ पर बीभत्सरस की ही प्रधानता हो जाती है, श्रृंगार उसका अंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में हार्दिक गहन वैराग्यभावना से युक्त चित्तवाले वक्ता बोधिसत्त्व (भगवान् बुद्ध) की निन्दनीय घृणास्पदताजन्य अभिव्यक्ति के द्वारा "कामिनी-कल्लोल एक व्यर्थ की चीज है" ऐसा अभिप्राय अत्यन्त समीचीनता को धारण कर लेता है। यद्यपि इस काव्य (बौद्धावदान-कल्पलता) में शान्तरस की ही प्रधानता प्रतिपादित की गयी है, परन्तु प्रस्तुत श्लोक में बीभत्स-रस की ही प्रधानता है। अतएव उपर्युक्त विवेचना संगत हुई।

वीरकरुणयोर्यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

गाण्डीवस्त्रुवमार्जनप्रणयिनः स्नातस्य बाष्पाम्बुभि-
श्चण्डं खाण्डवपावकादपि परं शोकानलं बिभ्रतः।
जिष्णोर्नूतनयौवनोदयदिनच्छिन्नाभिमन्योश्चिरं,
हा वत्सेति बभूव सैन्धववधारब्धाभिचारे जपः॥

वीरकरुणयोः सङ्करस्योदाहरणमुपस्थापयितुमाह—यथा ममेति। गाण्डवेति। गाण्डीवो नाम धनुर्विशेषः स एव स्त्रुवस्तस्य तत्कर्मकस्येति भावः, मार्जनस्य परिशुद्धेः प्रणयिनः प्रियस्य गाण्डीवधन्वन इति भावः,

वाष्पाम्बुभिरश्रुजलैः स्नातस्याभिषिक्तस्य, खाण्डवपावकादपि खाण्डव-वनदाहकवह्नेरपि, परमत्यन्तं चण्डं भीमं, शोकानलं पुत्रवियोगशोकवह्निं, बिभ्रतो धारयतः, नूतनयौवनोदयदिने नवयौवनोद्गमसमकाल एव, छिन्नाभिमन्योर्मारिताभिमन्युनामकपुत्रस्य, जिष्णोर्विजनियोऽर्जुनस्य, "हा वत्स !" इति विलापः, सैन्धवस्य सिंधुराजस्य जयद्रथस्य, वध एवाऽऽरब्धः प्रारब्धोऽभिचारो मारणात्मकानुष्ठानविशेषस्तत्र, जपो बभूव।

वीर और करुण के संकर का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा मम मुनिमतेति। गाण्डीवेति। अग्निसेवन, स्रुवसम्मार्जन, तथा जप आदि किसी भी अनुष्ठान के आवश्यक अंग हुआ करते हैं, आज अर्जुन ने भी जयद्रथ-वध रूप अभिचार (एक मारणात्मक अनुष्ठानविशेष) का आरम्भ कर दिया है, अतः वे (अर्जुन) अपने गांडीवरूप स्रुव का सम्मार्जन कर रहे हैं, अश्रु—जल से अभिषिक्त होकर खाण्डववन को जलाने वाली अग्नि से भी भयानक पुत्र-शोकजन्य-वह्नि को धारण करते हुए, हा पुत्र ! हा पुत्र ! इस तरह के विलाप-वचनरूप मंत्र का जाप कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जिस जयद्रथ ने चढ़ती जवानी में ही अभिमन्यु जैसे प्रिय पुत्र की हत्या कर दी है, उस (जयद्रथ) का वध करने की दीक्षा अर्जुन ले चुके हैं।

अत्र त्रिगर्तसंग्रामगतस्य गाण्डीवधन्वनः शत्रुभिर्नवयौवनोदयसमय-निहततनयस्य कार्मुकस्रुवमुन्मार्जयतः प्रसरदश्रुस्नातस्य शोकाग्निमुद्वहतश्चिरं हा पुत्रेति जयद्रथवधारब्धाभिचारे जपो बभूवेति यदुपन्यस्तं, तेनारिक्षये दीक्षासमुचितव्रतवर्णनया शोकाग्नेश्चण्डत्वेन खाण्डवपदोदीरणेन वीररसस्याङ्गिनः सहसैवागन्तुके करुणरसे प्रज्वलिते सैन्धववधारब्धाभिचाराभिधानेन पर्यन्ते शौर्यनिर्वाहेण परममौचित्यमुज्जृम्भते।

अत्रोक्तपद्ये, त्रिगर्त्तसंग्रामगतस्य त्रिगर्त्तयुद्धनिरतस्य, गाण्डीवधन्वनो गण्डीवनामकधनुर्धारिणः, शत्रुभिर्नवयौवनोदयसमयनिहततनयस्य शत्रुद्वारा नवयौवनारम्भसमकालमेव हतपुत्रस्य, कार्मुकस्रुवं धनुःस्वरूपस्रुवमुन्मार्जयतः, प्रसरदश्रुस्नातस्य निपतद्वाष्पवारिसिक्तस्य, शोकाग्नि दुःखानलमुद्वहतो धारयतोऽर्जुनस्येति यावत्, चिरं बहुकालपर्यन्त, "हा पुत्र !" इति जयद्रथवधारब्धाभिचारे सिन्धुराजविघातात्मकप्रारब्धमारणकर्मणि, जपो बभूवेति यदुपन्यस्तं, तेनोपन्यासेनारिक्षये, दीक्षासमुचितव्रतवर्णनया शत्रुविनाशविषयिणी या दीक्षा तदुचितं यद्व्रतं तद्वर्णन

शोकाग्नेश्चण्डत्वेन शोकानलस्य भयानकत्वेन, खाण्डवपदोदीरणेन खाण्डव-वननामोच्चारणेनार्जुनस्यैव पराक्रमेण, खाण्डववनस्य दाहः संपन्न इत्येतत्पदेनार्जुनपराक्रमस्य स्मरणं जायत इति भावः। अङ्गिनो मुख्यस्य वीर-रसस्य, सहसैवागन्तुके हठादेव पथक्रमागते, करुणरसे प्रज्ज्वलित उपचिते "अर्थाच्छोकानलं बिभ्रतो वाष्पाम्बुभिः स्नातस्ये"ति विशेषणद्वयद्वारा करुणरसस्याप्यङ्गत्वेन समावेशे पर्यन्तेऽन्तभागे, सैन्धववधाख्याभिचारा-भिधानेन, शौर्यनिर्वाहेण, परमं निरतिशयमौचित्यमुज्जृम्भते उप-चीयते।

इस पद्य में शत्रु के द्वारा नवयौवन-समकाल में ही हतपुत्र वाले अतएव आँसुओं से भीगे, तथा शोकाग्नि से अभिभूत, धनुषरूप स्रुव का मार्जन करने वाले, गांडीवधारी एवं त्रिगर्त संग्रामगत अर्जुन का "हा पुत्र! हा पुत्र!" ऐसा वारवार कहना जयद्रथहत्यारूप आरंभ किये गये मारणात्मक अनुष्ठान में जप के समान हुआ, इस तरह के कथन से शत्रुविनाश की दीक्षा के अनुरूप ही व्रत का विधान प्रस्तुत हो जाता है, तथा शोकाग्नि की प्रचंडता और खाण्डव पद के समुच्चारण से वीर रस की अंगिता भी सिद्ध हो जाती है, जिसका कि "सैन्धववधाख्याभिचारे जपः" इस कथन से अंत तक निर्वाह भी हो जाता है, यद्यपि "बाष्पाम्बुभिः स्नातस्य" "शोकानलं बिभ्रतः" इन विशेषणों के द्वारा कुछ करुण रस का भी संकेत मिलता है परन्तु वह वीर रस के अंग से अधिक कुछ भी नहीं हो सकता, इस तरह यहाँ वीर और करुण के संकर का औचित्य अत्यन्त सुन्दरता से प्रतिपादित हो रहा है।

शान्तशृङ्गारकरुणबीभत्सानां यथा मम तत्रैव—

> तीक्ष्णान्तस्त्रीकटाक्षक्षतहृदयतया व्यक्तसंसक्तरक्ताः,
> क्रोधादिक्रूररोगव्रणगणगणनातीततीव्रव्यथार्ताः।
> स्नेहक्लेदातिलग्नैः कृमिभिरिव सुतैः स्वाङ्गजैर्भक्ष्यमाणाः,
> संसारक्लेशशय्यानिपतिततनवः पश्य सीदन्ति मन्दाः॥

शान्तशृङ्गारकरुणबीभत्सरसानां संकरस्यौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम तत्रैवेति। तीक्ष्णान्तेति। तीक्ष्णस्तीव्रोऽन्तोऽग्रभागः परिणामो वा येषान्तैः स्त्रीणां कटाक्षैरारेचितभ्रूविलोचनविलोकनैररति यावत्, क्षतानि हृदयानि येषां तेषां भावस्तत्ता तया व्यक्तं प्रकटं, संसक्तं लग्नं (च) रक्तं येषां ते, क्षतानन्तरं रक्तस्राव उचित एवेति भावः, अथवा

प्रकटदृढानुरागा इत्यर्थः। क्रोधादय एव क्रूररोगाः कठिनामयास्तेषां, तत्प्रयुक्त इति यावत्, यो व्रणगणस्तस्य या गणनातीतास्तीव्रव्यथा दुसहवेदनास्ताभिरार्ताः, (तथा) स्नेहः प्रेमैव क्लेदः पङ्कस्तेन तन्निमित्तेनेति भावः। अतिलग्नैर्नितरां संसक्तैरत एव कृमिभिः क्षुद्रकीटैरिव वर्तमानैः, स्वाङ्गजैरात्मजैः सुतैः पुत्रैर्भक्ष्यमाणाः (इवेति भावः), संसारस्य क्लेशो दुःखमेव शय्या शयनीय, तत्र, निपतितास्तनवः शरीराणि येषां तथाभूता मन्दा मन्दधियो जनाः, सीदन्ति क्लेशमाप्नुवन्तः सन्तीति पश्यावलोकय।

शान्त, शृंगार, करुण और वीभत्स रस के संकर का औचित्य दिखलाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। तीक्ष्णान्तेति। तेज भाले के समान स्त्रियों के कटाक्षों से आहत हृदयवाले अतएव अधिकाधिक अनुरक्ति व्यक्त करने वाले, क्रोधादिरूप कठिन रोगों से उत्पन्न व्रणों की अगणित असह्य वेदना से आर्त, तथा स्नेहपाश से लिपटे हुए क्षुद्र कीट के समान अपने ही बच्चों से खाये जाते हुए, सांसारिक क्लेशरूप शय्या पर मृतवत् पड़े हुए शरीरवाले मन्दवुद्धि मनुष्य सीदित हो रहे हैं—देखो।

अत्र मुख्यस्याङ्गिनः शान्तरसस्यैवोद्दीपने कारणीभूतास्तीक्ष्णान्तः स्त्रीकटाक्षक्षतहृदयव्यथार्त्तस्नेहक्लेदातिलग्नकृमितुल्यतनयादिपदोपादानेन शृङ्गारकरुणबीभत्साः शान्तमुखप्रेक्षिणः, संलीनतया स्तिमितवृत्तयो भृत्या इव परममौचित्यं दर्शयन्ति।

अत्र पूर्वोक्तश्लोके, मुख्यस्य प्रधानस्य, अत एवाङ्गिनः शान्तरसस्योद्दीपने उज्ज्वलीकरणे, कारणीभूताः कारणतामुपगताः तीक्ष्णान्तस्त्रीत्यादिपदोपादानेन प्रतीयमानाः शृङ्गारकरुणबीभत्साः (स्त्रीकटाक्षनिपातेन शृङ्गारस्य, तीव्रव्यथार्त्तत्वेन करुणरसस्य, कृमितुल्यतनयभक्ष्यमाणत्वेन वीभत्सस्य च समुत्पत्तिरिति बोध्यम्), शान्तमुखप्रेक्षिणः शान्तरसानुगामिनः, संलीनतया शान्तरसान्तःपातितया, स्तिमितवृत्तयः क्षीणव्यापारकलापा भृत्या दासा इव परममौचित्यं दर्शयन्ति।

उक्त श्लोक में मुख्य होने के कारण अङ्गीरस शान्त के उद्दीपन में कारणभूत, "तीक्ष्ण स्त्रीकटाक्ष-तीव्रव्यथार्त्त-स्नेहक्लेदेति" पद के उपादान से प्रतीत होने वाले शृङ्गार, करुण और बीभत्स-रस, शान्त-रस के अन्तर्गत होने से स्वामि-

मुखापेक्षी भृत्य के समान औचित्य का परम पोषण कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ शान्त, शृंगार, करुण और बीभत्स-रस का संकर सर्वथा समुचित है।

रससङ्करस्यानौचित्यमुद्भावयितुमाह। शृङ्गारशान्तयोर्यथाऽमरुकस्य—

गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्तासि केयं त्वरा,
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान्पश्यामि यावन्मुखम्।
संसारे घटिकाप्रणालविगलद्धारा समे जीविते,
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा सङ्गमः॥

शृङ्गारशान्तयोः संकरस्यानौचित्यमुदाहर्तुमाह-रससङ्करेति। गन्तव्यमिति। यदि, गन्तव्यं प्रवासगमनं, निश्चितमप्रतिरोध्यं, नामेति सम्भावनायाम्, अहो खेदेन, गन्तासि गमिष्यसि, इयमेषा, त्वरा शीघ्रता का? व्यर्थैवेति भावः भवान् द्वित्राणि द्वे वा त्रीणि वेति द्वित्रिसंख्यकानीत्यर्थः, एव, पदानि चरणानि, पलानीति यावत्, तिष्ठतु, यावत्पर्यन्तमहं भवतो मुखं पश्यामि। (यतो हि) संसारे विश्वस्मिन्, घटिकाः क्षणान्येव, प्रणालानि प्रणाल्यस्तद्द्वारा, विगलता प्रवहता, धारा, जलेन, समे तुल्ये, जीविते जीवने, अर्थादेतावत्क्षणभङ्गुरे मानवजीवने, त्वया सह, मम सङ्गमः साक्षात्कारः, पुनर्भूयः स्याद्भवेन्न वेति को जानाति? न कोऽपि जानातीति भावः।

रससंकर के अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिए शृंगार और शान्त के संकर का अनौचित्य दिखाया जा रहा है—यथाऽमरुकस्येति। गन्तव्यमिति। हे नाथ! यदि तुम्हारा जाना निश्चित ही है तो चले जाना, ऐसी जल्दबाजी क्या है? दो-तीन क्षण ठहरो न? तब तक मैं अच्छी तरह तुम्हारा मुख देख लूं, क्योंकि इस क्षणभंगुर संसार में जीवन क्या है? वह नाली के बहते हुए जल के समान है जो पल-पल करके बीता चला जा रहा है, कौन जानता है कि फिर मेरा तुम्हारा मिलन होगा या नहीं।

अत्र प्रकरणवर्तिनः शृङ्गाररसस्य पश्यामि यावन्मुखमित्यकुण्ठोत्कण्ठासमुज्जृम्भमाणस्य स्वभावविरोधिनि शान्तेऽङ्गभावमुपनीते विस्तीर्णतरानित्यतावर्णनया वैराग्येण रतेर्न्यग्भावमापादयन्त्या प्रधानरससम्बन्धेनाधिकमनौचित्यमुत्साहितम्। निःसारसंसारावाप्ताश्रवणेन

हि कठिनक्रियाक्रूरचेतसामप्युत्साहभङ्गादङ्गान्यलसीभवन्ति, किमुत कुसुमसुकुमारशृङ्गाररसकोमलमनसां विलासवताम्। प्रान्ते च शान्तपरिपोषनिर्वाहेण रागवैरस्यमेव पर्यवस्यति।

तदुक्तमानन्दवर्धनेन –

विरोधी वाऽविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता॥

तदेवात्र वैपरीत्येनावलोक्य। परिपोषविपरीते स्वभावविरोधिन्यपि प्रधानानुपरोध एव। यथा राजशेखरस्य—

माणं मुंचध देह वल्लहजणे दिट्ठि तरंगुत्तरं,
तारुण्णं दिअहाइँ पञ्च दह वा पीणत्थणत्थंभणं।
इत्थं कोइलिमंजुसिंजिणमिसाद् देवस्स पंचेसुणो,
दिण्णा चित्तमहूसवेण सहसा आणब्ब सब्बंकसा॥

अत्र "गन्तव्यं यदि नाम" इति पद्ये प्रकरणवर्तिनः प्रसङ्गागतस्य, "पश्यामि यावन्मुखम्" इत्युक्त्या याऽकुण्ठा निष्प्रतिबन्धोत्कण्ठा प्रतीयते तया समुज्जृम्भमाणस्य समेधमानस्य शृङ्गाररसस्य, स्वभावविरोधिनि प्रकृतिविपरीते शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः इत्यादिरीत्येति भावः, शान्तेऽङ्गभावमुपनीतेऽङ्गतां प्रापिते सति, वैराग्यजननद्वारा, रतेः शृङ्गारस्थायिभावस्य, न्यग्भावं निम्नत्वं तिरस्कारमिति यावत्, आपादयन्त्या सम्पादयन्त्या, विस्तीर्णतरानित्यतावर्णनया विपुलतरानित्यतावर्णनेन प्रधानरससम्बन्धेन शृङ्गाराख्यमुख्यरससम्पर्केणाधिकमनौचित्यमुत्साहितं प्रवर्तितम्। तत्र हेतुमुपन्यस्यति—निःसारेत्यादिना। निःसारस्य संसारस्याचारुताया असौन्दर्यस्य, श्रवणेनाकर्णनमात्रेणापि, कठिनाभिः क्लिष्टाभिः क्रियाभिः कार्यैः क्रूराणि चेतांसि येषां तेषामप्युत्साहभङ्गादुत्साहविनाशादङ्गान्यवयवा अलसीभवन्त्यालस्ययुक्तानि जायन्ते, कुसुमसुमारकोमलमनसां पुष्पकोमलशृङ्गाररसमसृणचित्तानां, विलासवता किमुत? किं कथनीयमिति भावः। प्रान्तेऽन्ते च, शान्तपरिपोषनिर्वाहेण शान्तपरिपुष्टिसिद्ध्या, संवादयितुमाह—यदुक्तमिति। ध्वन्यालोककृताऽऽनन्दवर्धनेनापि तथैव कथितमिति भावः। तदुक्तिमुद्धरति—विरोधीति। अङ्गिनि मुख्ये, रसान्तरेऽन्यस्मिन् रसे, विरोधी प्रतिकूलोऽविरोधी अप्रतिकूलो वा रसो रसान्तरः, परिपोषं

पुष्टिं, न नेतव्यो न परिपोषयितव्य इति भावः, तेन परिपोषाकरणेनाविरोधिना विरोधाभावः स्याद्भूत्नेदित्यर्थः, रसान्तरे रसान्तरस्य सम्बन्धेऽप्यन्ते मुख्यस्येव रसस्य स्थापनं समुचितं नाङ्गभूतस्येति भावः। अत्र गन्तव्यं यदि नामेति पद्ये, तदेवाङ्गभूतरसस्य परिपोषाभाव एव वैपरीत्येन प्रतिकूलतयोपलभ्यते प्राप्यते। अङ्गभूतस्यैव विरोधिनः शान्तरसस्यान्तपर्यन्तं परिपोषनिर्वाहिणौचित्यव्याघात इति भावः। अविरोधस्थितिं स्फारयति —परिपोषविपरीत इति। परिपोषविपरीते परिपोषाभावमापन्ने, स्वभावविरोधिन्यपि प्रकृतिप्रतिकूलेऽपि रसे समावेशित इति भावः, प्रधानानुपरोध एव मुख्यरसाव्याघात एव भवतीति बोध्यम्।

अपरिपुष्टविरोधिरससमावेशेऽपि मुख्यरसानुपरोध एवेति पूर्वोक्तमर्थं लक्ष्ये दर्शयितुमुपक्रमते—**यथा राजशेखरस्येति। माणमिति—**

मानं मुञ्चत दत्त वल्लभजने दृष्टिं तरङ्गोत्तरां,
तारुण्यं दिवसानि पञ्च दश वा पीनस्तनस्तम्भनम्।
इत्थं कोकिलमञ्जुशिञ्जितमिषाद्देवस्य पञ्चेषो-
र्दत्ता चैत्रमहोत्सवेन सहसाऽऽज्ञेव सर्वंकषा॥ इति च्छाया॥

मानं मुञ्चतेति—हे मानिन्यः! मानं कान्तं प्रति कृत्रिमक्रोधं, मुञ्चत त्यजत, बल्लभजने प्रियतमे, तरङ्गोत्तरां चपलामिति यावत्, दृष्टिं नयननिक्षेपं, दत्त कुरुत, (यस्य यौवनस्य तेऽभिमानमस्ति तत्) पीनस्तनस्तम्भनमुत्तुङ्गकुचपतनप्रतिरोधकं तारुण्यं यौवनं पञ्च दश वा दिवसानि (यावत्) तिष्ठेदिति शेषः, यौवनं नितरामस्थायीति भावः। इत्थमेवंप्रकारिका, कोकिलानां कलकण्ठानां मञ्जूनि मनोहराणि यानि शिञ्जितानि कलकलानि तन्मिषात्तद्व्याजात् चैत्रमहोत्सवेन वसन्तागममुपलक्ष्य कृतेन महोत्सवेन, कर्त्रा, सहसा, हठात्, पञ्चेषोः पञ्चबाणस्य देवस्य, सर्वङ्कषा सर्वध्वंसिनी सर्वप्रबलेति यावत्, आज्ञाऽऽदेशः प्रदत्तेव।

"गन्तव्यं यदि नाम" इस पद्य में "पश्यामि यावन्मुखम्" इत्यादि के द्वारा प्रतीत होने वाली अत्युत्कंठा से समृद्धिशाली प्राकरणिक शृंगाररस का स्वभावतः विरोधी शान्तरस को अंग बना देने पर वैराग्य के द्वारा रति (शृंगार-रस के स्थायी भाव) को दबा देने वाले विस्तृत अनित्यता-प्रतिपादन से प्रधान रस (शृंगार) का सम्बन्ध सर्वथा अनुचित प्रतीत होने लगता है, क्योंकि संसार की अनित्यता के श्रवण से जब कठिन हृदय वाले का भी उत्साह नष्ट हो जाता

हैं, अंग शिथिल हो जाते हैं; तब प्रकृतिकोमल श्रृंगार-रस से स्निग्ध हृदय वालों के विषय में कहना ही क्या है ? तात्पर्य यह कि—अन्त तक शान्त के परिपोष से राग की विरसता ही व्यक्त होती है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है। विरोधी वेति—विरोधी या अविरोधी कोई भी रस यदि रसान्तर में अंग हो जाय तो अन्त तक उस (अंगभूतरस) का परिपोष नहीं होना चाहिए, इससे विरोध भाव नहीं आने पता है। अर्थात् अंगभूतरस का यदि अन्त तक निर्वाह नहीं होता हो तो विरोधभाव की स्थिति नहीं आने पाती है। लेकिन यहाँ तो स्थिति ही विपरीत है, क्योंकि अन्त तक अंगभूत विरोधी रस शान्त का निर्वाह किया गया है जिससे औचित्य का पर्णतः व्याघात हो गया है।

यदि अन्त तक परिपोष नहीं होता हो तो स्वभावविरोधी रस का वर्णन रहने पर भी प्रधानरस का रोध नहीं होता है—पूर्वोक्त इस अर्थ को लक्ष्य में दिखाने के अभिप्राय से कहा गया है—यथा राजशेखरस्येति। मानं मुञ्चतेति। हे मानिनियो ! मान छोड़ो, प्रियजनों पर दृष्टिप्रसाद करो, युवावस्था (जिस पर कि तुम्हें गर्व है) चिरस्थायी नहीं है, पाँच या दस दिनों तक ही रहने वाली है। ऐसी सबसे प्रबल कामदेव की आज्ञा, कोयल की मधुर कूक के व्याज से चैत्र महोत्सव ने मानो सहसा दे दी हो।

अत्र "मानं मुञ्चत दत्त वल्लभजने दृष्टिं तरंगितां तारुण्यं दिनानि पञ्च दश वा पीनस्तनस्तम्भनमित्थं कोकिलमधुरध्वनिव्याजेन देवस्य पञ्चेषोश्चैत्रमहोत्सवेनाज्ञेव सर्वंकषा दत्ता" इति वाक्ये मुख्यः श्रृंगाररसः प्रारम्भपर्यन्तव्याप्तिशाली कतिपयदिवसस्थायी यौवनमित्यनित्यतारूपशान्तबिन्दुना मध्यब्रुडितेनेव विरसतां न नीतः, विरुद्धस्य परिपोषाभावात्। विरुद्धवर्णनोदितेन ह्यनौचित्येन स्थायी कुञ्जर इव श्वभ्रपातितः पुनरुत्थातुं नोत्सहत इत्यलं विस्तरेण। अनया दिशा रससङ्करे भेदप्रपञ्चौचित्यं विपश्चिद्भिः स्वयं विचार्यम् ॥ १८ ॥

अत्र "माणं मुञ्चध" इति पद्ये मुख्यः प्रधानः श्रृङ्गाररसः प्रारम्भपर्यन्तव्याप्तिशाली प्रारम्भतोऽन्तपर्यन्तं स्थितिशीलः, "कतिपयदिवसस्थायि यौवनम्" इति रीत्या यौवनानित्यताप्रतिपादनरूपशान्तरसबिन्दुना, मध्यब्रुडितेनेव श्रृङ्गाररसकुक्षिनिलीनेनेव, न विरसतां नीतो न शक्तोऽभूदिति भावः। अत्रार्थे हेतुमाह—विरुद्धेति। विरुद्धस्य श्रृङ्गारविरोधिनः शान्तस्यान्तं यावन्निर्वाहाभावादिति भावः। विरुद्धवर्णनोदि-

तेन विपरीतवर्णनोत्पन्नेनानौचित्येन, स्थायी मुख्यो रसः, श्वभ्रपातितो गर्तपातितो, हस्तीव, पुनरुत्थातुं नोत्सहते न समर्थो भवति, इत्यलं निरर्थकं, अत्र तरेण विस्तृतवर्णनेन। अनया दिशाऽनेनैव प्रकारेण, रस-सङ्करेऽन्यान्यरससम्मिश्रणे भेदप्रपञ्चौचित्यं भेदविस्तारौचित्यं, विपश्चि-द्भिर्विद्वद्भिः, स्वयं विचार्य स्वयमेवोहनीयमिति भावः॥ १८॥

"मानं मुञ्च" इस पद्य में मुख्य रस शृंगार है जो कि आमूलचूलव्यापी है। यहाँ "कतिपयदिवसस्थायि यौवनम्" इस कथन से शान्त-रस का समावेश होने पर भी (वह) जल के समूह में एक बूंद के समान शृंगार के पेट में ही विलीन हो जाता है, अतः मुख्य रस में विरसता को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो पाता है, क्योंकि अंगभूत-रस शान्त का अंत तक परिपोष नहीं होता है। जहाँ पर इसके विरुद्ध वर्णन हो जाता है वहाँ पर औचित्य नष्ट हो जाता है, जिससे मुख्य रस, खाई में गिराये गये हाथी के समान पुनः सम्हल नहीं पाता है। इस तरह रससंकर के और-और भेदों की विवेचना विद्वानों को स्वयं (अपने मुख से) करनी चाहिए। यहाँ इससे अधिक विचार करना व्यर्थ है॥ १८॥

रसौचित्यविचारानन्तरमुद्देशानुसारक्रमेण क्रमोपगतं क्रियापदौचित्यं दर्शयितुमाह—

सगुणत्वं सुवृत्तत्वं साधुता च विराजते।
काव्यस्य सुजनस्येव यद्यौचित्यवती क्रिया॥१९॥

रसौचित्यविवेचनात्परं "पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे" इत्याद्युद्देशक्रमप्राप्तं सप्तमं क्रियापदौचित्यं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—सगुणत्वमिति। सुजनस्येव काव्यस्य सगुणत्वं माधुर्यादिगुणवत्त्वं, सुवृत्तत्वं सुष्ठुवृत्तं छन्दो मन्दा-क्रान्तादिकं यत्र तस्य भावस्तत्त्वं, साधुता सर्वविधव्याकरणादिलक्षण-सम्पन्नतारूपा च, तदेव विराजते सुशोभते, यदि क्रिया-पचति-भवतीति रूपं क्रियापदमौचित्यवत्यौचित्ययुक्ता भवतीति शेषः, यथा सज्जनानां दयादाक्षिण्यादिगुणवत्त्वं, सदाचरणं सज्जनता च तदेव स्पृहणीयतामर्-हति यदा क्रिया (व्यापारः) औचित्यानुप्राणिता तिष्ठति, तथैव काव्य-स्यापि क्रियापदौचित्येनैव गुणादीनां स्पृहणीयत्वमिति भावः।

रसौचित्य की विवेचना कर चुकने के बाद क्रमानुसार सातवें क्रियापदौ-चित्य की परिभाषा स्पष्ट करने के अभिप्राय से कहा गया है—सगुणत्वमिति। अर्थात् जैसे सज्जनों का दया-दाक्षिण्यादि गुण, व्यवहार, कुशलता और साधुता

(अच्छाई) तभी स्पृहणीय होती है जब उनके कर्तव्य सर्वदा औचित्य से अनुप्राणित होते रहें, उसी तरह काव्य के भी माधुर्यादि गुण, अच्छे-अच्छे छन्द और व्याकरणानुसार शाब्दिक शुद्धि आदि तभी सुशोभित होते हैं यदि क्रियापद औचित्य से युक्त हों।

काव्यस्य माधुर्यादिगुणवत्ता वसन्ततिलकादिसुवृत्तता परिपूर्णलक्षणसाधुता च विराजते, यद्यौचित्ययुक्तं क्रियापदं भवति सुजनस्येवेति तत्तुल्यत्वं स्पष्टार्थमेव।

कारिकार्थमेवोपपादयति—काव्यस्येति। काव्यस्य कविकृतेर्माधुर्यादिगुणवत्ता माधुर्यौजःप्रसादादिलक्षणगुणयुक्तत्वं, वसन्ततिलकादिसुवृत्तता वसन्ततिलकेन्द्रवज्रादिसुन्दरवृत्तत्वम् परिपूर्णलक्षणसाधुता च परिपूर्णं प्रवृत्तं लक्षणं पाणिन्यादिसूत्रं येषु शब्देषु तेषां तत्प्रयुक्तेति यावत्, या काव्यगता साधुता शुद्धित्वमथवा सर्वथा काव्यलक्षणानुसारितेति समुदायार्थः, तदेव, राजते शोभते, यदि क्रियापदं भवति गच्छतीत्यादिरूपमौचित्ययुक्तमौचित्यान्वितं भवति सुजनस्येवेत्यस्य तत्तुल्यत्वरूपोऽर्थः स्पष्ट एव।

कारिका के अर्थ को स्पष्ट कह रहे हैं—काव्यस्येति। काव्य की माधुर्यादिगुणवत्ता, वसंततिलकादिसुवृत्तता और सर्वलक्षणसंपन्नता तभी स्पृहणीय होती है यदि क्रियापद औचित्ययुक्त हो। "सत्पुरुषस्येव" इस कथन से ज्ञात होनेवाली काव्य की सत्पुरुष के साथ समानता स्पष्ट ही है।

क्रियापदौचित्यं यथा मम नीतिलतायाम्—

> **यः प्रख्यातजवः सदास्थितिविधौ सप्ताब्धिसंध्यार्चने,**
> **दोर्दर्पेण निनाय दुन्दुभिवपुर्यः कालकङ्कालताम्।**
> **यः पातालमसृङ्मयं प्रविदधे निष्पिष्य मायाविनं,**
> **सुग्रीवाग्र्यविभूतिलुण्ठनपटुर्वाली स किं स्मर्यते॥**

क्रियापदौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम नीतिलतायामिति। यः प्रख्यातेति। शुकसारणयोः रावणं प्रत्युक्तिरियम्। सप्तसु अब्धिषु समुद्रेषु सन्ध्याया अर्चने वन्दने, स्थितिविधौ वर्तमानत्वे, यः (बाली) सदा सर्वदा, प्रख्यातः प्रसिद्धो जवो वेगो यस्य सः, सप्तस्वपि समुद्रेषु संध्यावन्दनं करिष्यामीति प्रतिज्ञापूर्त्यर्थं संध्यात्मकस्वल्पकालेनैव सप्तसमुद्रगमने निजवेगं प्रादर्शयदित्यभिप्रायः। (यथा) यो दोर्दर्पेण बाहुबलाभिमानेन, दुन्दुभिवपुर्महिषरूपधारिणो दुन्दुभिनामकस्य राक्षस

स्य शरीरं, कालेन मृत्युना मृत्युद्वारेति भावः, 'कालो मृत्यौ महाकाले' इत्यमरकोशबलात्कालस्य महाकालस्य यमस्य वेत्यर्थः। कङ्कालतामस्थिपञ्जरावशेषित्वं, निनाय प्रापयत्। (एवमेव) यो मायाविनं तन्नामकं पातालवासिनं राक्षसं, निष्पेष्य विनाश्य, पातालं रसातलम्, असृङ्मयं शोणितमयं, प्रविदधेऽकरोत्। सुग्रीवस्य स्वानुजस्य अग्र्यविभूतेः प्रधानसम्पत्तेर्धनदारादेः, विलुण्ठनेऽपहरणे, पटुर्दक्षः स वाली किं स्मर्यते ?

क्रियापदौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा ममेति। यःप्रख्यातेति। शुक-सारणों के द्वारा रावण को संबोधित कर कहा जा रहा है कि हे राजन् ? जो (वाली) संध्या-वन्दनादि कृत्य करने के लिए सातों समुद्र की यात्रा बड़ी शीघ्रता से कर लिया करता था, तथा जिसने अपने बाहुबल से महिषरूपधारी दुन्दुभिनामक राक्षस के शरीर को मृत्यु के द्वारा अस्थिपंजर का ढाँचामात्र बनाकर छोड़ा एवं मायावी नामक पातालतलवासी राक्षस को पीस कर (मार कर) उसके खून से समूचे पाताल लोक को रक्तरंजित कर दिया था, राज्यनिष्कासन, धनदारादिहरण प्रभृति दण्डों के द्वारा अपने अनुज के भविष्य का लूटेरा क्या उस वाली का स्मरण कर रहे हैं ?

अत्र सप्ताब्धिसंध्यार्चनप्रख्यातजवो महिषरूपदुन्दुभिदानवोन्माथी मायाविदानवनिष्पेषोद्भूतशोणितपूरितपातालतलः स किं वाली स्मर्यते इति क्रियापदेन शुकसारणाभ्यां रावणस्य दुर्नयाभिनिवेशिनस्तद्विरामाय हितोपदेशेन भवान्वसनकोणनियमिततनुः कक्षायां निःक्षिप्त इत्युचितयुक्तियुक्तमुक्तं भवति ॥

अत्रोक्तपद्ये, "सप्ताब्धीत्यारभ्य स किं वाली स्मर्यते" इति पर्यन्तवाक्योत्येन "स्मर्यते" इत्याकारकेण क्रियापदेन, शुकसारणाभ्यां तन्नामकरावणानुचराभ्यां, दुर्नयाभिनिवेशिनो दुर्नीतिप्रवृत्तस्य रावणस्य, विरामायासत्पथात्प्रत्यावर्तनाय, हितोपदेशेन हितकारकोपदेशदानद्वारा, "भवान् वसनकोणनियमिततनुः वस्त्रकोणबद्धशरीरः, कक्षायां निःक्षिप्तः, अर्थात्स वाली भवन्तं वस्त्रझोलिकायां संस्थाप्य कक्षायां लम्बयित्वा स्थापितवानासीदित्याकारकमुचितयुक्तियुक्तं समुचिततर्कसंवलितमुक्तं प्रतिपादितं भवति। इदमत्राकूतं यत् प्रस्तुतपद्ये वालिनो वर्णने नैवं किमप्युपलभ्यते येन वालिस्मरणमसङ्गतं स्यादथापि निषिध्यमानया स्मरणक्रिययेदमध्यवसितं भवति यदत्र निषेधेऽस्ति किंचिद्रहस्यं यच्च

रावणशातनतो नापरं किंचिदिति सुतरामवगम्यते एतच्च क्रियापदस्यैव माहात्म्यमिति तदौचित्यं स्पष्टमेवेति दिक् ।

इस पद्य में संध्यावंदन करने के लिए सातों समुद्रों की यात्रा करने में अप्रतिहतगतिवाले महिषरूपधारी दुन्दुभिनामक राक्षस का विनाशक, मायावी दानव के निष्पेषण (मारण) से समूचे पातालतल को रक्तरंजित कर देनेवाले उस वाली का स्मरण क्या कर रहे हैं ? इस वाक्य के निषेधात्मक क्रियापद से, शुक-सारणों के द्वारा दुर्वृत्ती रावण को दुष्पथ से लौटाने के लिए जो उपदेश किया गया है, उससे व्यक्त होता है कि कपड़े की झोली में डाल कर आपको उस वाली ने कक्षा (बगल) में लटका लिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ वाली के वर्णन से ऐसा आभास नहीं मिलता है कि वाली नगण्य था या स्मरण करने योग्य नहीं था। फिर निषिध्यमान स्मरणक्रियावाचक पद के द्वारा यह सिद्ध होता है कि इसमें कुछ रहस्य है, और वह रहस्य रावण को झोली में डाल कर वगल में लटका लेने के सिवा और कुछ नहीं है, इस अभिव्यक्ति का कारण क्रियापद ही है। इसलिए क्रियापदौचित्य का यह स्पष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

न तु यथा श्रीप्रवरसेनस्य—

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छिरहिअँ महुमहस्सउरं ।
सुमिरामि महणपुरओ समुद्धअन्दं हरजडापब्भारं ॥

क्रियापदानौचित्यस्योदाहरणमुपस्थापयितुमाह—न तु यथेति ।

'सग्गं इति ।

स्वर्गमपारिजातं कौस्तुभलक्ष्मीभ्यां विरहितं मधुमथनस्योरः ।
स्मराम्यमृतमथनपुरतोप्यबालचन्द्रं हरजटाप्राग्भारम् ॥ इति छाया।

स्वर्गमिति । अमृतमथनपुरतोऽपि समुद्रमन्थनात्पूर्वमपि, अस्य सर्वत्र सम्बन्धः, अपारिजातं पारिजातकुसुमकाननरहितं, स्वर्गं सुरलोकम्, कौस्तुभलक्ष्मीभ्यां कौस्तुभमणिरमाभ्यां, विरहितं शून्यं, मधुमथनस्य मधुसूदनस्य विष्णोरित्यर्थः, उरो हृदयस्थलम्, अबालचन्द्रं शिशुशशाङ्करहितं, हरजटाप्राग्भारं शिवजटाजूटग्रन्थ्यग्रभागं, स्मरामि ध्यायामि। समुद्रमन्थनात्प्राक्तनो मम जीवनकाल इति भावः ।

क्रियापदानौचित्य को प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है—न तु यथा प्रवरेति । स्वर्गमिति । मैं (जाम्बवान्) समुद्रमंथन से पूर्वकालिक पारिजातपुष्प से

रहित स्वर्ग, लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि से शून्य भगवान् विष्णु के हृदय और बालचन्द्र से हीन शंकर की जटाजूट ग्रंथि का स्मरण कर रहा हूँ। अर्थात् समुद्र-मंथन आदि मेरे जीवनकाल की घटना है—मैं उससे भी पुराना हूँ।

अत्र जाम्बवताऽभिधीयमाने "स्वर्गमपारिजातं कौस्तुभलक्ष्मीभ्यां विरहितं मधुमथनस्योरः, स्मराम्यमृतमथनपुरतोऽप्यबालचन्द्रं हरजटाप्राग्भारम्" इति प्रगुणगुणाख्यानप्रसङ्गे क्रियापदेन जराजर्जरशरीरत्वमात्रमेव प्रतिपादितम्, न तु पौरुषोत्कर्षविशेषातिशयः कश्चिदुचितः संसूचितः ॥ १९ ॥

अत्र जाम्बवताऽभिधीयमाने प्रतिपाद्यमाने "सर्गं....." इति पद्ये पारिजातादिरहित-समुद्रमन्थनप्राक्कालिक-स्वर्गादिकर्मक-स्मरण-क्रियावर्णनेन वक्तुर्जाम्बवतः केवलं जराजर्जरशरीरत्वमेव कथितं भवति, न तु कश्चन पुरुषार्थोत्कर्षातिशयः सूचितो भवति। प्रसङ्गश्चात्र प्रगुणगुणाख्यानस्य (प्रकृष्टगुणकथनस्य)। अतोऽत्रानुचितमेतादृशार्थबोधकं स्मरामीति क्रियापदमिति भावः ॥ १९ ॥

इस पद्य में जाम्बवान् ने "स्वर्गमपारिजातम्" इत्यादि के द्वारा अपने गुण कीर्तन के प्रसंग में "स्मरामि" इस क्रियापद का जो प्रयोग किया है, उससे मैं इतना पुराना हूँ मेरा यह जराजर्जर शरीर इतने दिनों का है, केवल यही अर्थ व्यक्त होता है, कोई विशिष्ट पुरुषार्थ सूचित नहीं होता। प्रसंग तो यहाँ अपने प्रकृष्ट गुणों के कीर्तन का है, अतः यहाँ यह क्रियापद समुचित नहीं है ॥ १९ ॥

कारकौचित्यं दर्शयितुमाह—

सान्वयं शोभते वाक्यमुचितैरेव कारकैः।
कुलाभरणमैश्वर्यमौदार्यचरितैरिव ॥२०॥

क्रियापदौचित्यानौचित्यप्रदर्शनानन्तरं क्रमागतमष्टमं कारकौचित्यं विवेचयितुमाह—कारकौचित्यमिति। सान्वयमिति। कुलं सद्वंश आभरणं भूषणं यस्यैवंभूतमैश्वर्यम् सम्पत्तिः औदार्यचरितैरौदार्यादिसच्चरित्रैर्यथा शोभते तथैव सान्वयमन्वयेन युक्तं वाक्यं पदसमूहः, उचितैः समुचितैरेव कारकैः कर्तृकर्मादिरूपैः शोभते।

क्रियापद के औचित्य और अनौचित्य को दिखलाकर संप्रति क्रमप्राप्त आठवें कारकौचित्य की विवेचना करने के लिए कहा गया है—कारकौचित्यमिति। सान्वयमिति। जैसे सद्वंश से विभूषित भी ऐश्वर्य-औदार्य आदि साधुचरित्र से ही

शोभित होता है, उसी तरह अन्वय आदि से अच्छी तरह युक्त वाक्य (काव्यरूप) भी उचित कारक के प्रयोग से ही सुशोभित होता है।

उचितैरेव कारकैः सदन्वयवद्वाक्यं विराजते सद्वंशभूषितमैश्वर्यं सच्चरितैरिव।

कारिकार्थं विवृणुते—**उचितैरेवेति।** सदन्वयवद्वाक्यं समुचितान्वयपरिलसितः पदसमूहः सच्चरितैः साध्वाचारैः सद्वंशभूषितमुत्तमकुलालङ्कृतमैश्वर्यमिव उचितैरनुरूपैः कारकैरेव विराजते सुशोभते।

कारिकार्थ की व्याख्या करने के लिए कहा गया है—उचितैरेवेति। अनुरूप अन्वय से परिलसित वाक्य, सदाचार से सत्कुलालंकृत संपत्ति की तरह अनुरूप कारक से ही सुशोभित होता है।

कर्तृपदौचित्यं यथा भट्टबाणस्य—

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

कारकपदौचित्यप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथमं कर्तृपदौचित्यमुपस्थापयितुमाह—**यथा भट्टबाणस्येति। स्तनयुगेति।** राज्ञः शूद्रकस्याशीर्वचनरूपेण शुकद्वारा पठितोऽयं श्लोकः। हे राजन्! भवतस्तव, रिपुस्त्रीणां शत्रुकामिनीनां, स्तनयुगमुत्तुङ्गकुचद्वन्द्वम्, अश्रुस्नातं नयनजलकृतस्नानं, हृदयशोकाग्नेर्हृदये चित्ते स्वपतिवियोगजनितः शोक एवाग्निर्वह्निस्तस्य समीपतरवर्ति निरतिशयसमीपस्थायि, विमुक्ताहारं विगतः पत्युर्विनाशेन दूरमपसृतो मुक्ताहारो मौक्तिकमाला यस्मात् तत् (पक्षान्तरे विमुक्तस्त्यक्त आहारो भोजनं येन तत्), तथाभूतं सत् व्रतमिव चरति व्रतोपासनमिव करोति। यथा कश्चित्सद्व्रती त्रिकालं स्नात्वा भोजनादिकं परित्यज्याग्निं निषेवमाणो व्रतमाचरति तथैव भवद्द्वारा शत्रुसंहारेण तत्कामिन्यो रोदनैः स्तनयुगं स्नपयति, हृदये शोकज्वालामधिकाधिकं बिभर्ति, हारादिकमाभूषणं च परित्यजति, एतदाचरणेन विभाति यत्तत्कुचद्वन्द्वं स्नातमग्निं सेवमानं विमुक्ताहारं च सत् व्रतमाचरतीवेति भावः।

कारकौचित्य के प्रदर्शनक्रम में प्रथमतः कर्तृपदौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा भट्टबाणस्येति। राजा शूद्रक की आशीर्वाद देने के रूप में शुक के द्वारा यह श्लोक पढ़ा गया है—स्तनयुगेति। हे राजन्! आपके शत्रुओं की स्त्रियों के कुचद्वय नेत्रजल से स्नान कर हृदयस्थित शोकाग्नि के पास

रह कर तथा मौक्तिकमाला (पक्षान्तर में भोजन) का त्याग कर मानो सद्व्रती के समान व्रताचरण कर रहा हो।

अत्र शत्रुस्त्रियो व्रतं चरन्तीति वक्तव्ये स्तनयुगं बाष्पसलिलस्नातं शोकाग्निसमीपवर्ति विमुक्तभोजनं विगतमुक्ताहारं च सद्व्रतं चरतीत्युक्ते कर्तृपदमौचित्यमुपचितं जनयति।

अत्रोक्तपद्ये, "शत्रुस्त्रियो व्रतं चरन्ति" इति वक्तव्येऽभिधातव्ये, "स्तनयुगं बाष्पसलिलस्नातं, शोकाग्निसमीपवर्ति, विमुक्तभोजनं विगत-मुक्ताहारं च सत् सद्व्रतं चरति" इत्युक्ते इति कथने कर्तृपदं स्तनयुग-मिति पदम्, उपचितं समृद्धम्, औचित्यं जनयति।

इस पद्य में "शत्रु की स्त्रियाँ व्रत का आचरण कर रही हैं" ऐसा कहने के अभिप्राय से "उसके कुचद्वय वाष्पजल से स्नात, हृदयस्थ शोकाग्नि के समीपवर्ती, भोजन और मौक्तिकहारादि का त्याग कर सद्व्रत का आचरण कर रहा है" ऐसा कहने पर 'स्तनयुगम्" इस कर्तृपद के औचित्य से एक अपूर्व स्पृहणीयता का समावेश हो जाता है।

न तु यथा परिमलस्य—

> **आहारं न करोति नाम्बु पिबति स्त्रैणं न संसेवते,**
> **शेते यत्सिकतासु मुक्तविषयश्चण्डातपं सेवते।**
> **त्वत्पादाब्जरजः प्रसादकणिकालोभोन्मुखस्तन्मरौ,**
> **मन्ये मालवसिंह! गुर्जरपतिस्तीव्रं तपस्तप्यते॥**

कर्तृपदानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह न तु यथा परिमलस्येति। गुर्जर-देशविजयानन्तरं मालवपतेः प्रशंसायां प्रयुक्तोऽयं श्लोकः—आहारमिति। हे मालवसिंह मालवाधीश्वर! (पराजितो गुर्जरपतिर्मरुगहनं प्रविश्य) आहारं भोजनं, न करोति दुःखतोऽनुपलब्धेर्वा हेतोरिति भावः। अम्बु जलं न पिबति. स्त्रीणां समूहः स्त्रैणस्तं न संसेवते नोपास्ते, सिकतासु बालुकासु भूमिष्विति भावः, शेते, मुक्तविषयस्त्यक्तस्रक्चन्दनादिः, चण्डातपं दुःसहसूर्यरश्मि, यद् यस्मात्सेवते तत्तस्मात् तव पादावेवाब्जे-कमले, तयोः रजांसि धूलयस्तान्येव प्रसादस्तस्य कणिकायाः कणमात्रस्य लोभेनोन्मुखस्तत्परः सन्, मरौ मरुभूमौ, तीव्रं कठिनं, तपस्तपस्यां तप्यते इति मन्ये।

कर्तृपदानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथा

परिमलस्येति। गुर्जर देश की विजय कर लेने के बाद मालवाधीश की प्रशंसा में यह श्लोक कहा गया है—आहारमिति। हे मालवाधीश! (पराजित होकर गुर्जराधिपति मरुकानन में प्रवेश कर) न भोजन करता है, न जल ही पीता है, स्त्रियों को तो पास भी नहीं फटकने देता, भूमि पर ही शयन करता है, विषय (स्रक्-चन्दनादि) का त्याग कर सूर्य की दुःसह किरणों में देह सुखा रहा है। मालूम होता है जैसे तुम्हारी कृपा प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या कर रहा हो।

अत्र गुर्जरपतिर्विद्रुतो मरुगहनं प्रविष्टः परित्यक्ताहारादिसमस्तविषयश्चण्डातपोपसेवी तपश्चरतीति यदुक्तं तत्कर्तृपदस्य विशेषाभिप्रायोचितं न किञ्चिदुपलक्ष्यते शत्रुत्रासतरलतया मरुकान्तारान्तरा वसन्नः सकलविषयसुखभोगपरिभ्रष्टः किमन्यत्कुरुताम्। स्तनयुगवत्कर्तृपदस्य चमत्कारोचितं न किंचिदभिहितम्।

अत्र पद्ये, विद्रुतः पलायितो गुर्जरपतिर्मरुगहनं मरुकाननं प्रविष्टः, परित्यक्ताहारादिसमस्तविषयः परिहृतभोजनादिसंपूर्णसांसारिकबन्धनः, चण्डातपोपसेवी दुःसहरौद्रसेवनशीलस्तपस्यां चरति—इत्येवंरूपेण यदुक्तं यदुपन्यस्तं तत् कर्तृपदस्य गुर्जरपतिरूपस्य, विशेषाभिप्रायोचितं तात्पर्यविशेषानुरूपं न किञ्चित् उपलक्ष्यते विज्ञायते, (यतो हि) शत्रुत्रासतरलतया शत्रुभयचञ्चलतया, मरुकान्तारान्तरावसन्नो मरुकाननाभ्यन्तरनिवासावसादशीलः, सकलविषयसुखभोगपरिभ्रष्टः सम्पूर्णसांसारिकविषयभोगवञ्चितः अन्यदपरं किं कुरुताम्। स्तनयुगवत् स्तनयुगमश्रुस्नातमिति पद्यस्थस्तनयुगानुरूपमत्र कर्तृपदस्य चमत्कारोचितं विच्छित्तिविशेषजनकं न किमपि कथितम्। मरुकानने प्रोक्तसकलसामग्रीसमुपलब्धेर्नितरामसम्भवतया तदसेवनातिरिक्तस्य पथोऽभावेन तत्त्यागस्यैव नान्तरीयकतयौचित्यमिति नैतत्कथनेन किमप्यपूर्वमभिहितं भवतीति सिद्धमस्य कर्तृपदस्यानौचित्यमिति बोध्यम्।

इस पद्य में—"पराजित होकर गुर्जरराज मरुकानन में प्रवेश कर गये हैं, आहारादि समस्त विषय-वासनादिक से वञ्चित होकर तीव्र सूर्यरश्मि को सहते हुए कठिन तपस्या कर रहे हैं।" इस कथन से कुछ ऐसा विशेष अभिप्राय परिलक्षित नहीं हो रहा है जिससे कि कर्तृपद का औचित्य सिद्ध हो सके, क्योंकि शत्रु के डर से मरुभूमि-निवासजन्य अवसाद से युक्त सभी वैषयिक सुखभोग से रहित होकर वे बेचारे और कर ही क्या सकते हैं? जैसे पूर्वोक्त श्लोक—

("स्तनयुगमश्रुस्नातम्") के स्तनयुगकर्तृक तप से एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है उस तरह यहाँ कोई चमत्कारी अर्थ व्यक्त नहीं होता है, इसलिये यहाँ पर कर्तृपद का अनौचित्य स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है।

कर्मपदौचित्यं यथा मम लावण्यवत्याम्—

सदा सक्तं शैत्यं विमलजलधारापरिचितं,
घनोल्लासः क्ष्माभृत्पृथुकटकपाती वहति यः।
विधत्ते शौर्यश्रीश्रवणनवनीलोत्पलरुचिः,
स चित्रं शत्रूणां ज्वलदनलतापं भवदसिः॥

कर्तृपदौचित्यप्रदर्शनात्परं कर्मपदौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम लावण्येति। सदासक्तमिति। यः (भवदसिः) क्ष्माभृतां राज्ञां पृथौ विस्तीर्णे कटके सेनायां, पातो पतनशीलः, जलाशयपक्षे क्ष्माभृतः पर्वतस्य, पृथोर्विस्तीर्णात्कटकात्सानोः पाती पतनशीलः, घनो निविडः, उल्लास उत्साहो यस्य सः, पक्षान्तरे घनवन्मेघवत् उल्लास उदयो यस्य सः यथा घनोदयः शैत्यहेतुस्तथैव जलाशयोऽपीति भावः। एवंभूतः सन् विमलजलधारापरिचितं निर्मलजलधारया परिचितं परिव्याप्तं तैक्ष्ण्यवर्धनार्थमग्नितापितोऽसिर्जले निक्षिप्यत इति प्रसिद्धम्, अन्यपक्षे निर्मलजलधारया परिचितं संयुक्तं सक्तं निश्चलं शैत्यं तीक्ष्णत्वं, पक्षे शीतलत्वं सदा वहति धारयति, शौर्यश्रियाः पराक्रमलक्ष्म्याः श्रवणयोः कर्णयोर्नवनीलोत्पलवन्नवीनकमलवद् रुचिः शोभा यस्य सः, शौर्यश्रियाः नवकमलवद्रुचिकारक इति भावः, स प्रसिद्धो भवदसिस्त्वत्खड्गः शत्रूणामरीणां, ज्वलन् योऽनलोऽग्निस्तस्य तापं तत्तापतुल्यतापमिति भावः, विधत्ते कुरुते इति चित्रमाश्चर्यम्। जलधारातुल्यतया तस्य शैत्यप्रदानमेव स्वाभाविकमिह तु तापं वितरतीत्याश्चर्यकारणं भवदसेरिति बोध्यम्।

कर्मपदौचित्य का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। सदासक्तमिति—हे राजन्! तुम्हारी यह तलवार जो कि राजाओं के विशाल सैन्यों पर प्रहार करनेवाली, और निविड़ उत्साह से परिपूर्ण है तथा पानी चढ़ाते समय निर्मल जल को धारा से परिचित एवं सर्वदा अपूर्व तीक्ष्णता को धारण किये हुए रहती है—पर्वत शिखर से निकलने वाली, बरसात में समृद्ध होनेवाली, निर्मल जलधारा से युक्त, सदा अपूर्व शीतलता को धारण करनेवाली नदी के समान ज्ञात होती है, शौर्यलक्ष्मी के कानों में नवीन नील कमल का

काम करने वाली वह (तुम्हारी तलवार) शत्रुओं के हृदय में प्रज्वलित अग्नि के ताप के समान संताप उत्पन्न कर देती है—यह आश्चर्य है, क्योंकि जलधारा की समता रखनेवालों के लिये शैत्यप्रदान स्वाभाविक गुण होना चाहिए। यहाँ तो उसके विरुद्ध यह संताप प्रदान कर रही है। फिर क्यों न आश्चर्य हो?

अत्र निश्चलममलजलधारागतं शैत्यं तैक्ष्ण्यं शीतलत्वं च घनोल्लासो निबिडोत्साहः पर्जन्यतुल्योदयश्च क्ष्माभृतां सानुसैन्यनिपाती वहति स शौर्यश्रीश्रवणनवनीलोत्पलतुल्यस्त्वत्खड्गश्चित्रं शत्रूणां संतापं करोतीति यदुक्तं तत्कर्मभूतस्य तापस्य शिशिरतरसामग्रीजन्मनः परं वैचित्र्य रुचिरमौचित्यमासूत्रितम्।

अत्रोक्तपद्ये, शैत्य-विमलजलधारापरिचित-घनोल्लासक्ष्माभृत्पृथु-कम्प कपातीतिपदानि द्व्यर्थकानि तेषामेकमेकमर्थमादायापाततोऽसेः शीतलता धारित्वं प्रतीयते, एवं शौर्यश्रीत्यादिविशेषणेनापि कमलतुल्यत्वबोधनद्वारा तस्य शिशिरत्वमेव पोष्यते, एवञ्च तादृशशिशिरतरसामग्रीसंभूतासिनिष्ठ कृतसाध्यत्वं तापस्य विरुद्धमप्युच्यमानं चमत्कारविशेषविधायकमिति कर्मकारकौचित्यस्योदाहरणतामासादयति पद्यमेतदिति भावः।

उक्त पद्य में तलवार की समता निर्मल और शीतल जलवाली नदी से दिखायी गयी है फिर उसके द्वारा ताप की सृष्टि की गयी है। इस तरह शीतल उपादान से अग्नि के समान ताप की उत्पत्ति का प्रतिपादन यहाँ एक कर्म औचित्य का द्योतक हो गया है जिससे सहृदयों के हृदय में एक विलक्षण चमत्कार का उदय हो जाता है। यह सारी विचित्रता कर्मपद के वैशिष्ट्य से ही सम्भव हुई है, इसलिए यह कर्मपदौचित्य का स्पष्ट संकेत कर रहा है।

न तु यथा ममैवावसरसारे—

> भग्नाहितश्वसितवातविबोध्यमानः
> काष्ठाश्रयेण सहसैव विवृद्धिमाप्तः।
> तापं तनोति निहतारिविलासिनीनां
> वह्निद्युतिर्भुवननाथ! भवत्प्रतापः॥

कर्मपदानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—न तु यथा ममैवेति। भग्नेति। भुवननाथ! हे राजन्! भग्ना विद्रुता येऽहिताः शत्रवस्तेषां श्वसितवातेन निःश्वासपवनेन विबोध्यमानः प्रज्वाल्यमानः, काष्ठाश्रयेण दिग्दिगन्ताश्रयणेन, दारुसम्बन्धेन च, विवृद्धिमतिशयप्रौढतामाप्तः, प्राप्तः, अत एव

वह्निद्युतिरग्नितुल्यकान्तिः, वह्निरपि पवनेन प्रज्वाल्यते, काष्ठस्य (इन्धनस्य) आश्रयणमवाप्य निरतिशयं विवर्धते, भवत्प्रतापोऽपि तथैवाचरतीत्युभयोस्तुल्यतेति भावः। भवत्प्रतापः निहतारिविलासिनीनां मारितशत्रुस्त्रीणां, तापं सन्तापं, तनोति विस्तारयति।

कर्मपदानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है––न तु यथा ममैवेति। भग्नेति। हे राजन्! आपका प्रतापमर्दितशत्रुओं के निःश्वासवायु से प्रज्वलित काष्ठ (इन्धन) के संयोग से अतिशय विवृद्ध, अग्नि के समान, मारे गये शत्रुओं की स्त्रियों के सन्ताप की वृद्धि कर रहा हैं।

अत्र विद्रुतारिनिःश्वसितानिलप्रबोध्यमानः काष्ठाश्रयेण दिक्चक्रपूरणेन प्रौढतां प्राप्तः पावकतुल्यस्त्वत्प्रतापः शत्रुकान्तानां तापमात्रं तनोतीति तत्समुचितमाश्चर्यं न किंचित्।

अत्रोक्तपद्ये विद्रुतारिनिःश्वसितेत्यारभ्य शत्रुकान्तानां तापमात्रं तनोतीति यदुक्तं तत् समुचितमुचितमेव, नाश्चर्यं न विस्मयजनकं किंचित् किमपि। अर्थात् वह्नेर्दाहकत्वं स्वाभाविकमेव, तदकरणमेवानुचितम्, अत एवात्र प्रतापस्य सर्वथाग्नितुल्यतया तत्कर्तृकसन्तापरूपकर्मणो प्यानुषङ्गिकत्वमेवेति तद्वर्णनेन न किमपि वैशिष्ट्यमुद्भासितमिति सिद्धं कर्मपदानौचित्यमिति बोध्यम्।

इस पद्य में राजा के प्रताप की महिमा को बढ़ाने के लिए ऐसे-ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है जिससे आग के साथ उसकी पूरी समता सिद्ध हो जाती है फिर उस प्रतापाग्नि के द्वारा मारित राजाओं की पत्नियों को सन्ताप प्रदान कर समता की शेष कमी की भी पूर्ति की गयी है, इस तरह पद्य बहुत ही सुन्दर प्रतीत होता है, परन्तु औचित्यवाद की कसौटी पर कसने से ज्ञात होता हैं कि इसमें का कर्मपद उचित हुआ, क्योंकि ताप देना अग्नि का स्वाभाविक गुण है, न देना ही अनुचित होता। अतएव यहाँ पर राजा का प्रताप जब अग्नितुल्य सिद्ध हो गया हैं तब उसका भी संतापमात्र प्रदान करना एक साधारण बात हुई, कुछ विशेष नहीं। ऐसी स्थिति में इस वर्णन से सहृदयों के हृदय में आनन्द-विशेष का संचार न होकर एक उपेक्षणीयता का ही भाग जग जाता है. जो कि सत्काव्य के लिए एक भारी कलंक है। इसलिए यह कर्मपदानौचित्य का उदाहरण हुआ है।

करणौचित्यं यथा गौडकुम्भकारस्य—

लाङ्गूलेन गभस्तिमान्वलयितः प्रोतः शशी मौलिना,
व्याधूता जलदाः सटाभिरुडवो दंष्ट्राभिरुत्तम्भिताः।
प्रोत्तीर्णो जलधिर्दृशैव हरिणा स्वैराट्टहासोर्मिभि-
र्लङ्केशस्य च लङ्घितो दिशि दिशि प्राज्यः प्रतापानलः॥

कर्मपदौचित्यानौचित्ये प्रदर्श्य सम्प्रति करणपदौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा गौडेति। लाङ्गूलेनेति। रामकार्यार्थं प्रस्थितस्य हनुमतो वर्णनमिदम्। हरिणा हनुमता, लाङ्गूलेन पुच्छेन, गभस्तिमान्सूर्यो वलयितो वेष्टितः, मौलिना मस्तकप्रान्तेन शशी चन्द्रः प्रोतो व्याप्तः, सटाभिः स्कन्धस्थरोमसङ्घैर्जलदा मेघा व्याधूता इतस्ततो विक्षिप्ताः निर्जिता इति भावः, दंष्ट्राभिः दन्तैरुडवस्तारा उत्तम्भिता आयासिताः, दृशैव दृष्ट्यैव, जलधिः समुद्रः प्रोत्तीर्णो लङ्घितस्तथा स्वैरस्य स्वेच्छया कृतस्याप्रतिहतस्येति भावः, अट्टहासस्याट्टाट्टहासस्योर्मिभिस्तरङ्गैः दिशि दिशि दिक्षु, प्राज्यः प्रचुरो लङ्केशस्य रावणस्य, प्रतापानलः प्रभाववह्निर्लङ्घितः शमितः।

कर्म पद का औचित्यानौचित्य दिखाकर अभी करणपदौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा गौडेति। लाङ्गूलेनेति। हनुमान् के वर्णन-प्रसंग में यह श्लोक कहा गया है। भगवान् राम के कार्य से महावीर हनुमान् आकाशमार्ग से समुद्र-लंघन कर रहे हैं, इनके पूँछ की चमक से सूर्य, मस्तक की कान्ति से चन्द्रमा, सटा (पीठ पर के वाल) की भयंकरता से मेघ, दाँतों की द्युति से तारे अप्रतिभ हो रहे हैं, मालूम होता है जैसे दृष्टि से ही समुद्र फाँद गये हों। इतना ही नहीं अपने अप्रतिहत अट्टाट्टहास के तरंग से दिशाओं में व्याप्त रावण के प्रतापानल को क्षणमात्र में शान्त कर दिया हो।

अत्र हरिणा हनुमता जलनिधितरणे तरणिर्लाङ्गूलेन वलयितः, किरीटप्रान्तेन शशी प्रोतः, सटाभिर्मेघा व्याधूतास्तारा दंष्ट्राभिरायासितास्तीर्णोऽब्धिर्दृष्ट्यैवाट्टहासतरङ्गैर्लङ्केशस्य विस्तीर्णः प्रतापाग्निः शमित इति बहुभिः करणपदैरुत्साहाधिवासितैर्विस्मयशिखरारोहणसोपानैरिव रघुपतिप्रभावारम्भविजयध्वजायमानस्य पवनसूनोरौचित्यातिशयः प्रकाशितः।

अत्र पूर्वपद्ये हनुमता जलनिधितरणे लाङ्गूलेन सूर्यो वेष्टितः, किरीटप्रान्तेन चन्द्रः प्रोतः, स्कन्धस्थरोमराजिभिर्मेघा व्याधूताः, दंष्ट्राभिस्तारा

आयासिताः, दृशैवाब्धिस्तीर्णोऽट्टहासतरङ्गैर्लङ्केशस्य चतुर्दिक्षु प्रसरितः प्रतापाग्निः शमित इत्येवंप्रकारेण उत्साहाधिवासितैरुत्साहव्यञ्जकैर्विस्मय-शिखरारोहणसोपानैरिवाऽऽश्चर्यशृङ्गारोहणसोपानस्वरूपैरिव बहुभिरनेकैः करणपदैः करणकारकबोधकपदैः तत्तत्कर्मणां सयुक्तिकत्वबोधनायप्रयुक्ता-नेककरणपदैरिति भावः, रघुपतेः रामचन्द्रस्य, प्रभावस्य प्रतापस्यारम्भे प्रारम्भे, विजयध्वजायमानस्य विजयपताकावदाचरतः, पवनसूनोर्महा-वीरस्य हनुमतः, औचित्यातिशयो निरतिशयौचित्यं प्रकाशितो व्यक्तीकृतः ।

इस पद्य में समुद्र-तरण करते समय पुच्छ से सूर्य को, मस्तक की ज्योति से चन्द्रमा को कन्धे के बालों से मेघ को, दन्तच्छवि से तारों को अप्रतिभ बनाते हुये समुद्र को मानो दृष्टि से ही पार कर लिया हो तथा अपने अट्टहास के तरंगों से सर्वत्र व्याप्त रावण के प्रतापानल को शान्त कर दिया––इत्यादि उत्साहवर्धक तथा विस्मयजनक अनेक करणकारणबोधक पदों के प्रयोग से रामचन्द्र के प्रभावारम्भ में विजयध्वज के समान आचरण करने वाले पवनसुत हनुमान् का अत्यन्त औचित्य सिद्ध हो जाता है ।

जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो बिभित्सया यः क्षणलब्धलक्षया ।
दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्रपाटलम् ।।

करणपदानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह––जयत्युपेन्द्र इति । स प्रसिद्धः, उपेन्द्रो भगवान्विष्णुर्नृसिंह इति यावत्, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यो नृसिंहो बिभित्सया विदारयितुमिच्छया, दूरतो दूरादेव, क्षणं निमेषमात्रं नत्वधिककालं यावदिति भावः, लक्षं प्राप्तं, लक्ष्यं शत्रुवक्षःस्थलं यया तया, तदुरःस्थले निपतन्त्येत्यर्थः, अत एव कोपेन क्रोधेनारुणया रक्तवर्णया, दृशैव दृष्ट्यैव, न तु नखद्वारा भेदनेनेत्यर्थ, रिपोः शत्रोर्हिरण्य-कशिपोरुरो वक्षःस्थलं, भयान्नृसिंहत्रासात्स्वयमात्मनैव, भिन्नं विदीर्ण-मिवास्रपाटलं स्वीयारुणलोचनरश्मिनिपातेन शोणितवद्रक्तश्वेतं चकार कृतवान् ।

करणपदानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है––जयत्युपेन्द्र इति । जिस (भगवान् नृसिंह) ने हिरण्यकशिपु के हृदय को विदीर्ण करने की इच्छा दूर से ही क्षण भर देख कर क्रोध से आरक्त अपनी आँखों के द्वारा मानो भय से स्वयमेव विदीर्ण शत्रु (हिरण्यकशिपु) के वक्षःस्थल को श्वेतरक्त बना दिया, वह जगद्-प्रसिद्ध (नृसिंहरूपधारी) भगवान् विष्णु जयी हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं ।

अत्र भगवतो नृसिंहस्य कोपरक्तया दृष्ट्यैव क्षणलब्धलक्षया हिरण्यकशिपोर्वक्षः स्वयं भयाद्भिन्नमिवेति यदुक्तं तन्महोत्साहपराक्रमस्य प्रतिनायकस्य रिपोः प्रधाननायकप्रतापोद्दीपनोपकरणीभूताधिकधैर्यस्य स्वयं विह्वलतया हृदयस्फुटनमित्युपचितमनौचित्यं "दृशैव" इति करणपदस्य शिरसि विश्रान्तम्।

अत्र पद्ये भगवतो नृसिंहस्य कोपारुणया क्षणमात्रलब्धलक्षया च दृष्ट्यैव हिरण्यकशिपोर्हृदयं स्वयमेव भयाद्भिन्नमिवेति यत्प्रतिपादितं तन्महोत्साहपराक्रमस्यात्युत्साहपराक्रमशीलस्य, प्रधाननायकस्य भगवतो नृसिंहस्य, प्रतापस्योद्दीपने उद्बोधे उपकरणीभूतं कारणीभूतं, यदधिकधैर्यं याऽधिको धैर्यातिशयस्तद्युक्तस्य, प्रतिनायकस्य प्रतिपक्षिणो रिपोः शत्रोर्हिरण्यकशिपोः स्वयं भयविह्वलतया स्वयमेव भयातुरत्वेन हृदयस्फुटनमिति यद्वर्णितं तेनोपचितं विवृद्धमनौचित्यमसमीचीनत्वं "दृशैव" इति करणपदस्य शिरस्युपरि विश्रान्तम्। अयमत्राभिप्रायः—प्रतिपक्षिनिष्ठचण्डत्वमेव प्रधाननायकस्य प्रतापोद्दीपने कारणं भवति, प्रकृते तु दृशैवेति करणपदप्रयोगे तद्व्याघातः समुत्पद्यते तेन प्रधाननायकस्य महिमापचितो भवति, यच्च न कवेर्न च पाठकानामेवाभिमतमित्यनुचिततमम्, सर्वमेतद्धि दृशैवेति करणपदजन्यमेव। तेन करणपदानौचित्यं स्पष्टमेवेति।

उक्त पद्य में "निमेषमात्र देखने का अवसर प्राप्त करनेवाली क्रोध से आरक्त, भगवान् नृसिंह की आँखों के द्वारा भय से खुद हो विदीर्ण हिरण्यकशिपु के वक्ष को" ऐसा जो कहा गया है वह अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि पराक्रमशील प्रतिनायक हिरण्यकशिपु का अधिक धैर्य ही प्रधान नायक नृसिंह के प्रताप का उद्दीपक हो सकता है न कि उसके हृदय का खुद-ब-खुद फट जाना। ऐसी स्थिति में कवि का ऐसा कथन कैसे उचित कहा जा सकता है? यह अनौचित्य "दृशैव" इसी करण पद के द्वारा ही उपस्थित हुआ है, इसलिए इसका उत्तरदायित्व उसी करणपद पर है।

सम्प्रदानौचित्यं यथा भट्ट प्रभाकरस्य—

> विङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते,
> सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत।
> विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो,
> यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम्॥

सम्प्रदानौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा भट्टेति । दिङ्मातङ्गेति । दिङ्मातङ्गानां दिग्गजानां या घटा संघस्तया विभक्ता विभज्य स्थापिताश्चत्वार आघाटा आवधिप्रदेशा यस्याः सा, दिग्गजचतुरस्रेति भावः, मही पृथ्वी, साध्यते स्वायत्तीक्रियते, सिद्धापि स्वायत्ती कृतापि सा विप्राय कस्मै अनुपकारिणे ब्राह्मणाय कश्यपायेति भावः, प्रतिपाद्यते प्रदीयते—इत्यनेन पूर्ववाक्यार्थः परामृश्यते । वदन्त एव कथयन्त एव, कथनसमकालमेव न तु कथनोत्तरमिति भावः, वयं सांसारिका लोका रोमाञ्चिताः सञ्जातरोमाञ्चाः स्म इति शेषः, पश्यतावलोकयत, रोमोद्गममिति भाव । एतेन रामाञ्चस्य दर्शनविषयत्वप्रतिपादनेन सत्यता सूच्यते, परशुरामकर्तृकैकानुपकारिब्राह्मणोद्देश्यककष्टलब्धसमग्रमहीदानरूपपरमौदार्यकृतविस्मयमयचमत्काररुचिरौचित्यास्वादप्रयुक्तरोमाञ्चोद्गमशालिनो वयं भवाम इति भावः । अपरं किम् ? अतः परं तन्महत्त्वं किं वर्णनीयमिति तात्पर्यम् । तस्मै विलक्षणत्यागजुषे, रामाय भार्गवाय (परशुरामाय) नमो नमस्कृतिरस्त्विति भावः । यस्मात् भार्गवादिदं कथाद्भुतमेतद्विलक्षणदानरूपं कथाश्चर्यमाविरभूदुत्पन्नं, यत्रैव यस्मिन्नेव चास्तं गतं विलयमुपगतम् ।

सम्प्रदानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा भट्टेति । दिङ्मातङ्गेति—मनुष्यों के लिए सतद्वीपा वसुमती की प्राप्ति बहुत बड़ी अभिलाषा का विषय है, परन्तु भगवान् भार्गव ने उसे भी सिद्ध कर लिया । इतना ही नहीं उस (ससागरा पृथ्वी) को तुच्छ वस्तु के समान केवल एक विप्र (अनुपकारी ब्राह्मण) को दान भी कर दिया, देखो यह बोलते हुए भी हम (साधारण मनुष्य) रोमाञ्चित हो रहे हैं, इससे अधिक आश्चर्यजनक महिमा किसी की क्या हो सकती है ? उस अपूर्वत्यागी भगवान् भार्गव को नमस्कार है । ऐसी लोकोत्तरदानशीलता की कथा जिससे उत्पन्न होकर फिर जिसमें ही विलीन हो गयी ।

अत्र दिग्गजचतुरस्रा भूः साध्यते, सा च सिद्धा हेलयैवान्नमुष्टिरिवैकस्मै विप्रमात्राय प्रतिपाद्यते इति निरतिशयौदार्श्चर्यचमत्काररुचिरौचित्यचर्वणया वयं रोमाञ्चिताः पश्यत रोमाञ्चस्य प्रत्यक्षपरिदृश्यमानत्वात्, किमपरमपूर्वत्यागिने भार्गवाय तस्मै नम इति विप्रायेति सम्प्रदानपदगत एवोत्कर्षविशेषः प्रकाशते ।

अत्र पद्ये, "दिग्गजचतुरस्रा सप्तद्वीपा ससागरा च मही साध्यते, सिद्धा च सा समग्रा मही लीलयैव मुष्टिपरिमितमन्नमिवैकस्मै न तु बहुभ्यो

विप्रायानुपकारिणे न तु स्वार्थसाधकाय प्रतिपाद्यते" इति कथनक्षणेऽत्यन्तोदारतोपपन्नाश्चर्यमिश्रितचमत्कारसुन्दरौचित्याऽऽस्वादनेन वयं (साधारणा लोकाः) सञ्जातरोमाञ्चाः स्म इति पश्यत, रोमाञ्चस्य प्रत्यक्षपरिदृश्यमानत्वेन न मिथ्याशङ्केति भावः। किमपरगतः परं महत्त्वं किं भवेदिति तात्पर्यम्। अपूर्वत्यागिने विलक्षणत्यागशीलाय भार्गवाय तस्मै नम इत्यत्र "विप्रायेति" सम्प्रदानपदगत एवोत्कर्षविशेषो वैशिष्ट्यं प्रकाशते बुद्धिगोचरीभवति।

उक्त पद्य में "ससागरा पृथ्वी की प्राप्ति ही असम्भव है लेकिन वह भी सम्भव हुई, परन्तु मुट्ठीभर अन्न की तरह एकमात्र ब्राह्मण (कश्यप) को उसका दान कर देना तो और भी आश्चर्यजनक है, इस बात की चर्चा करने पर भी उस दानकर्ता की उदारता के औचित्य की चर्वणा से हम साधारण मनुष्य रोमाञ्चित हो रहे हैं। देख लो, और इससे अधिक कोई क्या कर सकता है? ऐसे अपूर्वदानी महामुनि भार्गव को नमस्कार है" इस तरह के कथन में जो विलक्षणता दृष्टिगोचर हो रही है वह केवल "विप्राय" इस सम्प्रदानकारक बोधक पद की ही महिमा है। इसलिए सम्प्रदानगतौचित्य का यह पद्य ज्वलन्त निदर्शन है।

न तु यथा राजशेखरस्य—

> पौलस्त्यः प्रणयेन याचत इति श्रुत्वा मनो मोदते,
> देयो नैष हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति।
> तद्वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही,
> तुभ्यं ब्रूहि रसातलत्रिदिवयोर्निर्जित्य किंदीयताम्॥

सम्प्रदानगतानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—न तु यथा राजेति। पौलस्त्य इति। परशुयाचनाय रावणद्वारा प्रेषितं दूतं प्रति भार्गवस्योक्तिरियम्। (यद्यपि) पौलस्त्यः ऋषिपुलस्तिवंशोद्भवो रावणः, प्रणयेन प्रेम्णा, न तु बलात्कारेण, (परशुं) याचत इति (वचः) श्रुत्वाऽऽकर्ण्य, मनश्चित्तं, मोदत आनन्दमनुभवति, (परन्तु) एषोऽयं हरप्रसादपरशुः शिवप्रसादीकृतः (प्रसादरूपेण शिवद्वारा प्रदत्तः) देयो दातुं योग्यो न, अस्तीति शेषः, तेन हेतुनाऽधिकं बहु, ताम्यति क्लाम्यति, मन इति पूर्वोक्तं कर्तृपदमध्याहार्यम्, तत्तस्माद्धेतोः स दशाननो मम गिरा मद्वचसा, वाच्यः कथनीयः, (यत्) मही समग्रापि ससागरा वसुमती, (मया) द्विजेभ्यो

ब्राह्मणेभ्य आदरसूचकं बहुवचनं कश्यपायेति भावः, दत्ता वितीर्णा, (अत एव) रसातलत्रिदिवयोः पातालतलस्वर्लोकयोः, किं कतरत्, निर्जित्य जित्वा, तुभ्यं रावणाय, दीयतामिति ब्रूहि कथय। रावणः परशु याचते परन्तु स च देय एव नास्ति, पृथ्वी कश्यपायैव दत्तैवञ्च पाताल-स्वर्गाविव देयमध्येऽवशिष्येते, तयोः किं तुभ्यं दीयतामिति तात्पर्यम्। एतेन स्वर्गाद्यपेक्षयापि परशोर्महत्त्वमधिकमिति ध्वनितम्।

सम्प्रदानगत अनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथा राजेति। फरसा माँगने के लिए रावण के द्वारा भेजे हुए दूत के प्रति परशुराम की यह उक्ति है—पौलस्त्य इति। ऋषि पुलस्ति के पवित्र वंश में उत्पन्न होनेवाला प्रतापी रावण प्रेम से (न कि बलात्कार से) फरसा माँग रहा है—यह सुन कर मन प्रसन्न हो रहा है, परन्तु महादेव के प्रसाद रूप में प्राप्त यह फरसा दिया नहीं जा सकता, इससे मन क्लान्त हो रहा है। इसलिए हे दूत! तुम मेरी वाणी में रावण से कहना कि पृथ्वी तो मैंने ब्राह्मणों को दान कर दी है अब स्वर्ग और पाताल में से क्या जीत कर तुम्हारी माँग पूर्ण करूँ, यह बोलो।

अत्र रावणदूतेन परशुं याचितो भार्गवो ब्रूते—नैष हरप्रसादलब्धः परशुर्दानयोग्यः। तत्तस्मान्मद्वचसा स दशग्रीवो वाच्यः—पृथ्वी मया कश्यपाय प्रतिपादिता, तुभ्यं पातालत्रिदिवयोर्मध्यात्किं निर्जित्य दीयताम् इत्यनुचितं मुनेर्लोकहितप्रवृत्तस्य त्रैलोक्यकण्टकभूताय राक्षसाय भुवनप्रतिपादनम्।

अत्रोक्तश्लोके रावणदूतेन परशुं याचितः परशुरामः कथयति—शिव-प्रसादरूपेण प्राप्त एष परशुर्दानयोग्यो नास्ति। तस्माद्धेतोर्मदुक्त्या स रावणः कथयितव्यः—मया समग्रापि भूः कश्यपाय दत्ता, पातालस्वर्ग-योर्मध्याज्जित्वा तुभ्यं साम्प्रतं किं दीयताम् इत्येवंरूपेण—लोकहितप्रवृ-त्तस्य जगत्कल्याणनिरतस्य मुनेर्भार्गवस्य, त्रैलोक्यकण्टकभूताय जगत्त्रय-घातकाय, राक्षसाय रावणाय, भुवनप्रतिपादनं स्वर्गपातालयोरन्यतरप्रदा-नोक्तिरनुचितमयुक्तमिति।

उक्त पद्य में रावण के दूत के द्वारा फरसा माँगने पर भगवान् परशुराम कह रहे हैं कि "शिवप्रसादलब्ध यह फरसा देने योग्य नहीं है। इसलिए मेरी ओर से उस दशकंठ से कहना कि पृथ्वी तो मैंने पहले ही महामुनि कश्यप को दे दी है, अब स्वर्ग और पाताल में से जीतकर क्या तुम्हें दूँ, यह बोलो" ऐसा

कहना लोकहितकारी महर्षि भार्गव के लिए उचित नहीं हुआ, क्योंकि जो रावण उस समय तीनों लोकों के लिए कंटक-सा हो रहा था, उसको पूरा का पूरा एक लोक ही जीतकर दे देना अन्याय को बढ़ावा देना ही तो कहा जा सकता है, इसलिए यहाँ सम्प्रदानकारक का अनौचित्य अत्यन्त स्पष्ट है।

अपादानौचित्यं यथा मालवरुद्रस्य—

> एतस्माज्जलधेर्मिताम्बुकणिकाः काश्चिद् गृहीत्वा ततः,
> पाथोदाः परिपूरयन्ति जगतीं रुद्धाम्बरा वारिभिः।
> भ्राम्यन्मन्दरकूटकोटिघटनाभीतिभ्रमत्तारकां,
> प्राप्यैकां जलमानुषीं त्रिभुवने श्रीमानभूदच्युतः॥

सम्प्रदानौचित्य-प्रदर्शनानन्तरमपादानौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मालवेति। एतस्मादिति। एतस्मात्पुरोवर्तमानाज्जलधेः समुद्रात्काश्चित्कियत्यो मिताम्बुकणिकाः परिमिता एव जलकणिकाः, गृहीत्वाऽऽदाय, पाथोदा मेघास्ततस्तत्पश्चाद्रुद्धमम्बरं यैरेवंभूताः सन्तो वारिभिर्जलैर्जगतीं भुवनतलं परिपूरयन्ति प्लावितां विदधते, (तथा) तत एव भ्राम्यत इतस्ततो गच्छतो मन्दरस्य तन्नामकपर्वतविशेषस्य, कूटस्य शृङ्गस्य, कोटेरग्रभागस्य, घटनया योगेन, या भीतिर्भयं, तया भ्राम्यन्तौ चञ्चले तारके कनीनिके यस्या एवंभूतामेकां, जलमानुषीं जलजां लक्ष्मीमिति भावः, प्राप्य लब्ध्वाऽच्युतो भगवान्विष्णुस्त्रिभुवने लोकत्रये, श्रीमान् लक्ष्मीपतिरभूत्।

सम्प्रदानौचित्य का उदाहरण दिखाकर अभी अपादानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा जा रहा है—यथा मालवेति। एतस्मादिति—इसी समुद्र से जल के कुछ ही कणों को लेकर मेघ समग्र पृथ्वी को जलाप्लावित कर देते हैं तथा घूमते हुए मन्दराचल के शृंगों के छोर से छू जाने के कारण उत्पन्न-भय से चञ्चल नेत्रकनीनिका वाली एक जलपरी को प्राप्त कर भगवान् विष्णु तीनों लोकों में श्रीमान् (लक्ष्मीपति अथ च धनी) हो गये हैं।

अत्र यदुक्तमेतस्मान्महोदधेः परिमिताम्बुकणिकाः प्राप्य जलदा जगत्पूरयन्ति, तथा भ्रमन्मन्दरकूटकोटिसंघट्टत्रासतरलतारकामेकां जलमानुषीं श्रियं प्राप्य श्रीमानच्युतोऽभूदिति तेन सागरगतनिरतिशयोत्कर्षविशेषः प्रदर्शितः। तत्र एतस्माज्जलधेरित्येतत्पदमौचित्यस्य मूलभूमिः।

अस्मिन्पद्ये, पुरोवर्तमानादस्मात्समुद्रात्परिमिताम्बुकणानासाद्य मेघाः

संसारं जलाप्लावितं कुर्वन्ति, तथा सञ्चलन्मन्दरशृङ्गकोटिसंघर्षभय-सञ्चलन्नेत्रकनीनिकामेकां जलजां श्रियं प्राप्य भगवानच्युतः श्रीमान् (धनाढ्यो लक्ष्मीपतिर्वा) संयात इति यत्प्रतिपादितं तेन सागरगतः समुद्रनिष्ठोऽतिशयोत्कर्षविशेष उत्कर्षाधिक्यं प्रदर्शितः। तत्रोत्कर्षप्रत्यये "एतस्माज्जलधे" रित्येतत्पदमपादानकारकबोधकं जलधिपदमेवौचित्यस्य परमौचित्यानुप्राणितसौष्ठवस्य मूलभूमिराधारशिला।

इस पद्य में "इसी समुद्र से थोड़े से जलकणों को प्राप्तकर मेघ पृथ्वी को परिपूर्ण कर देते हैं, तथा इसी से लक्ष्मी प्राप्तकर भगवान् विष्णु श्रीमान् हुए" इस कथन से बहुत बड़ी महत्ता प्रदर्शित हो जाती है और इस महत्ता की आधार-शिला "एतस्माज्जलधेः" यह अपादानकारकबोधक पद ही है। इसलिए अपादानगतौचित्य का यहाँ विलक्षण समावेश दृष्टिगोचर होता है।

न तु यथा भट्टेन्दुराजस्य—

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं नाम साधितमनेन महार्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालमूलकुहरे विनिवेशितं च॥

अपादानानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु भट्टेन्दुराजस्येति। आदायेति। परेषामाहारमाहृत्य धनसञ्चयकर्तुः—निन्दासूचकान्योक्तिरियम्। सरितां नदीनां मुखेभ्य आननेभ्यो धाराभ्य इति यावत्, परितः सर्वतः, वारि जलमादाय गृहीत्वा, महार्णवेन समुद्रेण किं नाम साधितं, न किमपि महत्त्वमयं कार्यं सम्पादितमपि तु दुरुपयोग एव कृतः। तथाहि तज्जलं, वडवादहने वडवानले हुतं प्रक्षिप्तं, क्षारीकृतं क्षारद्रव्यवल्लवणमयमपेयमिति यावद्विहितं पातालं मूलं यस्यैवंभूते कुहरे बिले विनिवेशितश्च संस्थापितश्च। अन्यायोपार्जितस्यापि वित्तस्य न तेन सदुपयोगः कृत इति भावः।

अपादानानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथेति। आदायेति—अन्यायपूर्वक धनसञ्चय करने वाले किसी व्यक्तिविशेष के प्रति अन्योक्तिरूप से कहा गया है। नदियों के मुख से (उसके आहारस्वरूप) जल को छीन कर समुद्र ने क्या बना लिया? पहले (जब तक ऊपर रहा तब तक)

उसको क्षार(नमकीन) बनाकर अपेय किया। उसके बाद (कुछ नीचे जाने पर) वड़वाग्नि की ज्वाला में उसे जलाया और अन्त में पाताल में ले जाकर रख छोड़ा यही तो। तात्पर्य यह है कि अन्यायोपार्जित वित्त का भी यदि सदुपयोग किया जाय तो एक बात भी है पर यदि उसका सर्वथा दुरुपयोग ही किया जाय तब तो यह अत्यन्त ही अनुचित है।

अत्र महार्णवव्यपदेशेनान्यायोपार्जितद्रविणदुर्व्ययकारिणः सत्संविभागविमुखस्य कस्यचिदुच्यते। सरितां मुखेभ्यः समन्तात्तोयमादायापात्रेभ्यः प्रतिपादितं दूषितम्। यत्त्वत्र सरिद्भ्यः समादायेति वक्तव्ये सरिन्मुखेभ्य इत्युक्तं तेन मुखशब्दस्य नैरर्थक्यादत्रानौचित्यमेव पर्यवस्यति।

अत्र पद्ये, समुद्रच्छलेनान्यायपूर्वकोपार्जितधनापव्ययकारिणः सत्कार्यविनियोगपराङ्मुखस्य कस्यचिज्जनस्य कृते उच्यते। नदीनामाननेभ्यः समन्ताज्जलरूपाहारमपहृत्यायोग्येभ्यो वितरितमति निरतिशयनिन्दायोग्यम्। अत्र सरिद्भ्य इत्येतावन्मात्रं प्रतिपादयितव्ये छन्दःपूर्त्यर्थं सरिन्मुखेभ्य इति यदुक्तं तेनात्रानौचित्यमेव पर्यवस्यति–यतो हि मुखशब्दोपादानं निरर्थकमेव। अतोऽपादानानौचित्यमिति बोध्यम्। वस्तुतस्तु मुखशब्दोपादानेन जलस्याहाररूपताप्रतीत्या प्रस्तुतपक्षे दीनजनग्रासहरणप्रतीतिश्चमत्कारिणी संपद्यत इति नानौचित्यलेश इति मे प्रतिभाति।

इस पद्य में समुद्रान्योक्ति के द्वारा अन्यायोपार्जित धन का अपव्यय करने वाले समुचितव्ययविमुख किसी व्यक्तिविशेष के प्रति कहा जा रहा है—नदियों के मुख से (आहारस्वरूप) जल छीन कर अपात्र (वड़वाग्नि और पातालकुहर) को समर्पित करना निन्दित है। यहाँ "सरिताओं से जल लेकर" ऐसा कहने के स्थान में "सरिताओं के मुख से" ऐसा जो कहा गया है उसमें मुख पद की उक्ति सर्वथा निरर्थक है। इस तरह अपादानकारकबोधक पद की निरर्थकता से तद्गत (अपादानगत) अनौचित्य स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि यहाँ मुखपद निरर्थक नहीं है, क्योंकि उससे प्रस्तुत पक्ष में दीन जनों के मुखों से ग्रास का छीनना अवगत होता है, जो कि पूर्ण चमत्कारी है। इसलिये यहाँ अनौचित्य नहीं कहा जा सकता है।

अधिकरणौचित्यं यथा कुन्तेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

> इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
> मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।

इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥

कारकौचित्यप्रदर्शनक्रमेऽधिकरणौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा कालिदासस्येति । इह निवसतीति । महाराजस्य विक्रमादित्यस्य दूतः कुन्तेश्वरसभामण्डपे समुचितं स्थानमनासाद्य भूमावेवोपविशन्स्वोत्कर्षं प्रकटयति । इहात्रैव पृथ्वीतले, क्षमाधराणां पर्वतानां, शेखरोऽग्रणीर्मेरुर्निवसति, इहास्मिन्नेव च पृथ्वीतले, विनिहितभाराः प्रक्षिप्तनिजभाराः, सप्तसागराः सप्तसंख्याका अप्यब्धयोऽन्ये चोपसागरादयो निवसन्तीति शेषः, अहिपतेः शेषस्य, भोगरूपे कृष्णात्मके स्तम्भे, विभ्राजमानं शोभमानमिदमेतत्पुरोवर्तिधरणीतलं पृथ्वीतलमस्तीति शेषोऽस्मद्विधानां मादृशानां दूतानां महामहिमशालिनामिति व्यज्यते, इहैव पृथ्वीतले स्थानमुचितमिति भावः ।

कारकौचित्य के प्रदर्शन के क्रम में अधिकरणौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा कालिदासस्येति । इह निवसतीति—महाराज विक्रमादित्य का दूत कुन्तेश्वर की सभा में आदरपूर्ण स्थान नहीं पाने पर भूमि पर ही बैठता हुआ अपना उत्कर्ष व्यक्त कर रहा है—कि इसी पृथ्वी पर पर्वतों का शिरोमणि मेरु निवास करता है, इसी पर सातों महासागर और उपसागर रहते हैं यह पृथ्वी शेषनाग के फणरूप खूंटे पर शोभित हो रही है, अतः इस पृथ्वी तल पर ही मेरे समानजनों का बैठना उचित है ।

अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्हमासनमनासाद्य कार्यवशेन भूमावेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणैवं ब्रूते—यथाऽस्मद्विधानां वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भप्राग्भारनिष्कम्पे धरासने स्थानं युक्तं यस्मादिहैव मेरुरचलचक्रवर्ती समुपविष्टः सप्तसागरा अब्धयश्च, तत्तुल्यतैवास्माकमित्यौचित्यमधिकरणपदसम्बद्धमेव ।

अत्र पद्ये महाराजदूतोऽपि विक्रमादित्यप्रेषितदूतोऽप्यपिनाऽत्यादरयोग्यता सूच्यते, सामन्तास्थाने कुन्तेश्वरसभामण्डपे स्वप्रभोर्निजस्वामिनः समुचितं योग्यं यद् गौरवं महत्त्वं, तस्य यत्पूजाऽऽदरस्तदर्हं तदुपयुक्तमासनमनासाद्याप्राप्य, कार्यवशेन प्रयोजनवशाद्, भूमावेव पृथ्व्यामेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येण गम्भीरप्रौढतया, ब्रूते कथयति—यथा मादृशानां महामहिमशालिनामिति भावः, वसुधातल एव, भुजगपतेः शेषनागस्य भोगः

फण एव स्तम्भस्तस्य प्राग्भारेण बलेन निष्कम्पे, धरासने बसुधातलासकासने, स्थानमुपवेशनं युक्तमुचितं, यत इहैव बसुधातले पर्वताधिपतिर्मेरुः समुपविष्टः, सप्तमहासमुद्रा अपि, उपविष्टा इति भावः- तत्तुल्यतैव तत्समानगरिष्ठतैवास्माकमित्यौचित्यमधिकरणकारकबोधकपदप्रयोज्यमेवेति ।

इस पद्य में महाराज कुन्तेश्वर का दूत सामन्त की सभा में अपने राजा की प्रतिष्ठा के अनुरूप आदरपूर्ण आसन नहीं पाकर अपने कार्यवश भूमि पर ही बैठ गया और अपनी गम्भीर प्रौढ़ता से बोल रहा है—हमारे जैसे गरिमा शालियों के लिए शेषनाग के सबल फणस्तम्भ पर स्थिर होने से निष्कम्पमय रह सकनेवाली इस भूमि पर ही बैठना उचित है, क्योंकि इसी पृथ्वी पर पर्वतों के राजा मेरु और सातों महासागर टिके हुए हैं, इससे व्यक्त होता है कि मेरी भी महत्ता इन्हीं मेरु और महासागरों की जैसी लोकोत्तर है जिसे भूमि छोड़कर और कोई वहन नहीं कर सकता, क्योंकि यह सर्वसहा है। इससे एक अपूर्व औचित्य का आभास मिलता है, और यह औचित्य "इहैव" इस अधिकरण पद से सम्बद्ध है। इसलिए अधिकरणौचित्य का यह एक अच्छा उदाहरण सिद्ध होता है।

न तु यथा परिमलस्य—

तत्र स्थितं स्थितिमतां वर देव ! दैवाद्
भृत्येन ते चकितचित्तमियन्त्यहानि ।
उत्कम्पिनि स्तनतटे हरिणेक्षणानां
हारान्प्रवर्तयति यत्र भवत्प्रतापः ॥

अधिकरणानौचित्यं प्रदर्शयति—न तु यथेत्यादिना । तत्र स्थितमिति । हे स्थितिमतां वर मर्यादाशालिनां श्रेष्ठ ! देव राजन् ते तव, भृत्येन दासेन मयेति भावः, चकितचित्तं विस्मितहृदयं यथा स्यात्तथा, दैवात्संयोगात्तत्र तस्मिन्देशे, इयन्त्येतावन्त्यहानि दिनानि, यावदिति भावः, स्थितं वासः कृतो, यत्र यस्मिन्प्रदेशे, भवत्प्रतापः श्रीमत्प्रभावः, हरिणेक्षणानां मृगलोचनीनां कामिनीनामिति भावः, उत्कम्पिनि भयवशात्कम्पनशीले स्तनतटे कुचस्थाने, हारान्मौक्तिकानि माल्यानि, प्रवर्तयति तरलीकरोति ।

अधिकरण कारण के अनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथेति । तत्रस्थितमिति—हे मर्यादाशालियों में सर्वश्रेष्ठ ! (राजन् !) आपका किंकर मैं संयोग से इतने दिनों तक आश्चर्य से चकित होकर उस प्रदेश

में रहा, जहाँ आपका प्रताप कामिनियों के कंपनशील स्तनतट पर हार को उलट-पलट रहा है। अर्थात् आपका प्रभाव लोगों के हृदय में एक आतंक-सा मचाये हुए है।

अत्र त्वद्भृत्येन मया तत्र तस्मिन्देशे स्थितं यत्र भवत्प्रतापः कम्पतरलस्तनतटे हरिणदृशां हारान्प्रवर्तयतीति यदुक्तं तेन शौर्यशृङ्गारगुणोत्कर्षस्तुतौ सर्वतो दिग्गमनाविच्छिन्नप्रसरः प्रतापः पारिमित्यं प्राप्तः। एकत्र परिच्छिन्ने देशे मया तत्र स्थितं यत्र त्वत्प्रतापस्तरुणीस्तनतटेषु हारतरलनं करोत्यन्यदेशे विलक्षणमुपलक्षणम्। सर्वगतश्चेत्प्रतापस्तत्सर्वत्रैव मया स्थितमिति वक्तव्ये तत्रेत्येकदेशाभिधायि पदं नोपपद्यते, दस्युमात्रस्याप्येकदेशे जृम्भमाणप्रतापत्वात्। तदत्राधिकरणपदगतमनौचित्यमुपलभ्यते। तत्र तत्र मया स्थितं यत्र यत्र भवत्प्रताप इत्येव स्तुत्युचितं युक्तयुक्तं स्यात्॥ २०॥

अत्र पद्ये, तवानुजीविना मया, तत्र तस्मिन्नेव देशे, केवलं स्थितं यत्र त्वत्प्रतापः मृगलोचनानां कम्पनाञ्चितकुचतटे हारान्प्रवर्तयतीत्येवंभूतं यत्प्रतिपादितं, तेन शौर्यशृङ्गारयोर्गुणोत्कर्षस्य स्तुतौ प्रशंसायामभीष्टायां सत्यां, सर्वतो दिग्गमनाविच्छिन्नप्रसरः सर्वदिग्व्यापित्वेऽप्रतिहतावसरः प्रतापः पारिमित्यं प्राप्तः स्वल्पतामुपगतम्। ननु एकत्र परिछिन्ने देशे मया तत्र स्थितं यत्र त्वत्प्रतापस्तरुणीस्तनतटेषु—हारतरलनं करोतीत्युक्तिर्देशान्तरस्याप्युपलक्षणविधया बोधिकेति चेत्? हन्त! विलक्षणमिदमुपलक्षणमदृष्टश्रुतपूर्वम्। नैवंविधोपलक्ष्योपलक्षणभावो युक्त इत्याशयः। चेद्यदि, प्रतापः सर्वगतः सर्वव्यापी, तत्तदा सर्वत्रैव सर्वेष्वेव देशेषु मया स्थितमिति वक्तव्ये तत्रेत्येकदेशाभिधायिपदं तत्रेत्यस्य स्वभावतो देशविशेषबोधकतया पद्ये तत्प्रयोगो नोपपद्यते न संघटते, यत एकदेशे प्रतापस्य वर्तमानत्वेऽपि न राज्ञो वैशिष्ट्यस्योपपत्तिर्दस्युमात्रस्यापि केवलस्य लुण्ठकस्याप्येकदेशे जृम्भमाणप्रतापत्वात्प्रतापबाहुल्यदर्शनादिति भावः। तत्तस्माद्धेतोरत्र पद्येऽधिकरणपदगतमधिकरणबोधकतत्रेतिपदनिष्ठमनौचित्यमुपलभ्यते। तत्र तत्र मया स्थितं यत्र यत्र भवत्प्रताप इत्येवैतद्रूपेणैव स्तुत्युचितं प्रशंसानुकूलमुक्तं कथितं युक्तमनुरूपं स्यात्। तदन्यथा प्रतिपादनेनात्राधिकरणपदगतानौचित्यं स्यादेवेति भावः॥२०॥

इस पद्य में आपका सेवक (मैं) उस देश में रहा है जहां आपका प्रताप

कामिनियों के धड़कते कुचतट पर हार को सहला रहा हूँ, ऐसे कथन से उनके प्रताप की सर्वव्यापकता समाप्त हो जाती है, वह एकदेश मात्र में फैल कर रह जाता है, फिर ज़िस उद्देश्य से उनके शौर्य और शृङ्गार की गाथा गायी गयी है वह प्रशंसा न होकर एक तरह से निन्दा ही हो जाती है, क्योंकि उस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मैं था वहाँ तो आपका प्रताप वैसा कर रहा है परन्तु अन्य देश में ऐसी बात नहीं है, और एक देश मात्र में राजा का प्रताप फैला भी है तो यह कोई खास बड़प्पन की बात नहीं है, क्योंकि एक देश में तो डाकू या लुटेरा का भी प्रताप फैलता देखा गया है। इसके परिहार के लिए यदि सब जगह मैं रहा हूँ ऐसा ही अभिप्राय उक्त वाक्य का माना जाय तो वह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि "तत्र" से स्वभावतः किसी खास स्थान का ही बोध होता है। इसलिए यहाँ अधिकरणपदगत अनौचित्य स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। मैं वहाँ सब जगह था जहाँ-जहाँ आपका प्रताप फैल रहा है—ऐसा यदि कहा जाता तो पूर्ण प्रशंसा के अनुकूल होता और अचित्य का व्याघात भी नहीं होता ॥ २० ॥

लिङ्गौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितेनैव लिङ्गेन काव्यमायाति भव्यताम् ।
साम्राज्यसूचकेनेव शरीरं शुभलक्ष्मणा ॥ १२ ॥

प्रस्तुतार्थोचितेन लिङ्गेन काव्यं भव्यतामुपयाति राजलक्षणेनेव शरीरम् ।

कारकौचित्यं प्रदर्श्य क्रमोपगतं नवमं लिङ्गौचित्यं दर्शयितुमाह—उचितेनैवेति। उचितेनैवानुरूपेणैव, लिङ्गेन स्त्रीपुंनपुंसकरूपेण, काव्यं, साम्राज्यसूचकेन साम्राज्यव्यञ्जकेन, शुभलक्ष्मणा शुभकारकलक्षणेन, शरीरं वपुरिव, भव्यतां स्पृहणीयतामायति प्राप्नोति ।

कारिकार्थं विवृणोति—प्रस्तुतार्थेनेति । प्रस्तुतार्थोचितेन वर्णनीयार्थानुरूपेण लिङ्गेनलिङ्गनिर्देशेनेति भावः, काव्यं कविकर्म, राजलक्षणेन राजचिह्नेन शरीरमिव भव्यतां सुन्दरतामुपयाति समुपगच्छति ।

कारकौचित्य के उदाहरण प्रत्युदाहरण दिखलाकर अब अवसरप्राप्त नवें लिङ्गौचित्य की विवेचना करने के लिये कहा गया है—उचितेनैवेति—जैसे राज्य सूचक शुभ लक्षण से शरीर शोभित होता है उसी तरह स्त्रीलिंग पुलिंग आदि के समुचित प्रयोग से काव्य स्पृहणीय हो जाता है ।

इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है—प्रस्तुतार्थोचितेनेति—वर्णनीय अर्थ के अनुरूप लिंग के प्रयोग से काव्य उसी तरह चमक उठता है जैसे राजचिह्न से शरीर।

यथा मम ललितरत्नमालायाम्—

> निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचिद्
> दीर्घां वेत्ति कथां व्यथां न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
> तेनाराधयता गुणस्तव जपध्यानेन रत्नावलीं,
> निःसङ्गेन पराङ्गनापरिगतं नामापि नो सह्यते॥

लिङ्गौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा ममेति। रत्नावलीवियोगेन विकलस्य वत्सेश्वरस्य वर्णनमिदम्—निद्रामिति। निद्रां स्वापं, न स्पृशति रत्नावलीवियोगविधुरोऽसौ रात्रौ निद्रां नाप्नातीति भावः? धृतिं धैर्यमपि त्यजति जहाति, क्वचित्कुत्रापि स्थितिं न धत्ते कुत्राप्येकत्र स्थातुं न पारयतीतस्ततो विक्षिप्तवद् भ्रमतीति भावः, दीर्घां महतीं, कथां कामपि वार्तां, व्यथामाधिमिव वेत्ति जानाति, सर्वात्मना सर्वतोभावेन निर्वृतिं शान्तिं न भजते रत्नावल्या गुणस्य दाक्षिण्यादेः स्तवेनोच्चैःकीर्तनेन, जपेनान्तर्मुखोच्चारणेन ध्यानेनाधिमनश्चिन्तनेन च गुणस्तवद्वारेति भावः, रत्नावलीं लङ्केशकुमारीमाराधयता पूजयता, निःसङ्गेन त्यक्तविषयाभिलाषेण, तेन वत्सराजेन, पराङ्गनापरिगतमन्यस्त्रीसमाधृतं नामापि किमुत सम्पर्को नो सह्यते।

लिङ्गौचित्य का उदाहरण दिखाया जा रहा है—यथा ममेति। निद्रामिति। रत्नावली के वियोग में वत्सराज उदयन इतने उद्विग्न हो गये हैं कि उन्हें निद्रा नहीं आती, धैर्य छूट रहा है, किसी एक जगह ठहर नहीं सकते हैं, विक्षिप्त के समान इधर-उधर छटपटाते फिर रहे हैं, किसी तरह की लम्बी बातचीत उन्हें व्यथादायक होती है। कहीं भी शान्ति नहीं मिल पाती। कहाँ तक बताया जाय, रत्नावली के अभाव में उसके स्तवन, जप और ध्यान के द्वारा उसकी आराधना करते हुए जनसंपर्क से दूर रहने वाले उदयन किसी दूसरी स्त्री का नाम भी सुनना नहीं चाहते हैं।

अत्र वत्सेश्वरस्य रत्नावलीविरहविधुरचेतसः स्मरावस्थासमुचितं विदूषकेण सुसङ्गतायै यदभिहितम्—निद्रां न स्पृशति, धृतिं त्यजति, स्थितिं न धत्ते, दीर्घां कथां व्यथामिव वेत्ति, निर्वृतिं न भजते, तां विना तेन तद्गुणजापिना तद्ध्याननिरतेन जनसङ्गत्यागिनाऽन्या-

सामङ्गनानां नामापि न सह्यते। तत्र स्थितिधृतिकथानिर्वृतीनां स्त्रीलिङ्गाभिधानेनाङ्गनात्वाध्यारोपेण परमौचित्यं प्रतिपादितम्।

अत्रोक्तपद्ये रत्नावलीविरहविधुरचेतसो रत्नावलीवियोगक्लान्तचित्तस्य, वत्सेश्वरस्योदयनस्य, स्मरावस्थासमुचितं कामविकारोचितं, विदूषकेण, सुसङ्गतायै तन्नामकनारीविशेषाय "निद्रां न स्पृशति, धृतिं त्यजति, स्थितिं न धत्ते, दीर्घां कथां व्यथामिव वेत्ति, निर्वृतिं न भजते, तां रत्नावलीं विना तद्गुणजापिना तद्गुणजपकारिणा, तद्ध्याननिरतेन तद्ध्यानलीनेन, जनसङ्गत्यागिना तेन वत्सराजेनान्यासामङ्गनानां नामापि न सह्यते, इति यदुक्तम् तत्र स्त्रीलिङ्गाभिधानेन स्त्रीलिङ्गकथनेन स्थितिधृतिकथानिर्वृतादीनामङ्गनात्वाध्यारोपेण स्त्रीत्वारोपेण परमौचित्यं प्रतिपादितम्। पराङ्गनापरिगतनाममात्रासहनशीलोदयनद्वाराऽऽरोपितस्त्रीत्वविशिष्टनिद्रादित्यागोक्तिर्नितरां विच्छित्तिकरी। तत्र च विच्छित्तौ निद्रादीनां स्त्रीत्वमेव मूलमिति सिद्धमौचित्यं लिङ्गनिर्देशस्येति भावः।

उक्त पद्य में रत्नावली के वियोग से व्यथित वत्सराज उदयन की कामावस्था के अनुरूप विदूषक ने सुसङ्गतानामक किसी नारी के प्रति "निद्रा नहीं आती है, धृति (धैर्य) नहीं धर पाते हैं, एक जगह स्थिर नहीं रह सकते, लम्बी बातें व्यथा पहुँचाती हैं, तथा शान्ति नहीं मिलती, उसके बिना उसके गुणों का स्मरण करते हुए, उसके ध्यान में लीन, जनसंपर्क से अलग होकर अन्य स्त्रियों का नाम भी सुनना नहीं चाहते" ऐसा जो कहा गया है उसमें स्थिति, धृति, कथा और निर्वृति आदि पदों के स्त्रीलिंग बोधक होने के कारण उनमें स्त्रीत्व के आरोप से अत्यधिक औचित्यका प्रतिपादन किया गया है, यह औचित्य लिंग के समुचित प्रयोग से ही संभव हुआ है, इसलिये इसे लिंगौचित्य के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है जो कि अत्यन्त समीचीन है।

न तु यथा मम नीतिलतायाम्—

> वरुणरणसमर्थास्वर्गभङ्गैः कृतार्था,
>
> यमनियमनशक्ता मारुतोन्माथसक्ता।
>
> धनदनिधनसध्या लज्जते मर्त्ययुद्धे
>
> दहनदलनचण्डा मण्डली मद्भुजानाम्॥

लिङ्गानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु यथा ममेति। वरुणेति। रावणो मानवेन सह युद्धे निजहीनतामनुभवन्स्वोत्कर्षं प्रकटयति—वरुणेन सह

यद्रणं युद्धं तत्र समर्था कुशला, स्वर्गभङ्गैस्त्रिदशालयविनाशैः, कृतार्था कृतकृत्या, यमस्यान्तकस्य, नियमने बन्धने समर्था, मारुतस्य वायोरुन्माथे विलोडने, सक्ता लीना, धनदस्य कुबेरस्य, निधने मृत्यौ, सज्जा तत्परा, दहनस्याग्नेर्दलने पराभवे, चण्डा भयङ्करी, मद्भुजानां मद्बाहूनां, रावणस्य विंशतिबाहुमत्त्वेन प्रसिद्धतया बहुवचनस्यौचित्यमिति भावः मण्डली समूहः, मर्त्ययुद्धे मानवीयसंग्रामे, लज्जते त्रपामनुभवति।

लिंगगत अनौचित्य को दिखाने के लिए कहा गया है--न तु यथा ममेति। वरुणेति--मनुष्यों के साथ युद्ध करने में अपनी हेठी समझता हुआ रावण अपना उत्कर्ष प्रगट कर रहा है। मेरी ये बीसों भुजायें—जो कि वरुण के साथ युद्ध करने में समर्थ हैं, स्वर्ग को नष्ट-भ्रष्ट करके कृत-कृत्य हो चुकी हैं, प्रचंड वेगशाली वायु को भी तबाह कर चुकी हैं, सर्वदा कुबेर की मृत्यु की ताक में लगी रहती हैं तथा अग्नि को भी विनष्ट करने के लिए पूरा उत्साह दिखा रही हैं—मनुष्य के साथ युद्ध करने में लज्जा का अनुभव कर रही हैं।

अत्र रावणः कपिनिकरामर्षविषमविकाराविष्कारोचितं ब्रूते—वरुणादिलोकपालविशालबलावलेपविप्लवकारिणी मर्त्यमात्रयुद्धे लज्जते प्रचण्डा मद्भुजमण्डलीति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशस्त्रैलोक्यविजयोचितस्य प्रतापस्य कठोरतामपहरन्ननौचित्यं सूचयति॥ २१॥

अत्र पद्ये, रावणः, कपिनिकरेषु वानरसमूहेषु, योऽमर्षः क्रोधस्तस्य यो विषमो विचित्रो विकारस्तस्य य आविष्कारः प्रकटनं तदुचितं ब्रूते कथयति—"वरुणादीनां लोकपालानां, विशालानां महतां, बलावलेपानां बलगर्वाणां, विप्लवकारिणी विनाशकारिणी, प्रचण्डा घोरा, मद्भुजमण्डली मर्त्यमात्रयुद्धे तुच्छमानवमात्रसंग्रामे लज्जते" इत्यत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशो मद्भुजमण्डलीतिस्त्रीलिङ्गोक्तिस्त्रैलोक्यविजयोचितस्य त्रैलोक्यविजयानुरूपस्य, प्रतापस्य, कठोरतां प्रचण्डतामपहरन्नौचित्यं सूचयति। जगत्त्रयविजये या कठोरताऽपेक्ष्यते तस्याः सद्भावः पुंस्येव संभवोऽस्ति, स्त्रियस्तु स्वभावकोमलतया न तदाधारभूमिरित्यनौचित्यबीजं बोध्यम्॥ २१॥

उक्त पद्य में रावण वानरों के ऊपर क्रोध प्रगट करता हुआ क्रोधमिश्रित वाणी में कह रहा है कि--वरुणादि दिक्पालों के बलदर्प को विनष्ट करने वाली, यह मेरी भयानक बाहुमण्डली मनुष्यमात्र के साथ युद्ध करने में लजाती है, इस तरह बाहुसमूह कहने के अभिप्राय से बाहुमण्डली कह कर जो स्त्रीलिंग का

निर्देश किया गया है वह अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि त्रैलोक्य-विजय-रूप साहसिक कार्यकारिता किसी पुरुष में ही सम्भव है स्त्री में नहीं, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः कोमल हुआ करती हैं। फिर इसका विचार न करके स्त्रीलिंग का निर्देश करना लिंगगत अनौचित्य को ही व्यक्त करता है ॥ २१ ॥

वचनौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितैरेव वचनैः काव्यमायाति चारुताम् ।
अदैन्यधन्यमनसां वदनं विदुषामिव ॥ २२ ॥

लिङ्गौचित्यदर्शनात्परमवसरप्राप्तं दशमं वचनौचित्यं विवेचयितुमाह—उचितैरेवेति। उचितैरभिधेयार्थानुरूपैरेव, वचनैरेकवचनद्विवचनबहुवचनरूपैः, काव्यं कविकृतिरदैन्येन धन्यानि कृतकृत्यानि मनांसि येषां तेषामयाच्ञाहविरचेतसामिति भावः, विदुषां सुधियां वदनमाननमिव, चारुतां रुचिरतामायाति प्राप्नोति।

लिङ्गौचित्य के प्रदर्शन के बाद अवसर प्राप्त होने पर दशम वचनौचित्य की विवेचना करने के लिये कहा गया है—उचितैरेवेति। अभिधेयार्थ के अनुरूप एकवचन द्विवचनादि के प्रयोग से काव्य उसी तरह सौन्दर्य को प्राप्त करता है जिस तरह दैन्यरहित अत एव धन्यमन वाले विद्वानों का मुख चारुता को प्राप्त करता है।

उचितैरेकवचनद्विवचनबहुवचनैः काव्यं चारुतामायाति अदैन्योदारचेतसां विदुषामिव वदनमयाच्ञाचारुचिरौचित्यचारुभिर्वचोभिः ।

उक्तकारिकार्थमेव विशदयति—उचितैरिति। उचितैः समनुरूपैरेकवचनद्विवचनबहुवचनैः काव्यं चारुतां सौन्दर्यमायाति समासादयति। अदैन्योदारचेतसां दीनतारहितोदात्तचित्तानां विदुषां, वदनं यथाऽयाच्ञया यच्चारु रमणीयं, चिरौचित्यं चिरकालिकौचित्यं, तेन चारुभिः सुन्दरैर्वचोभिर्वचनैः, सौन्दर्यमासादयतीति भावः।

पूर्वोक्त कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—उचितैरिति। एक वचन, द्विवचन आदि के समुचित विन्यास से काव्य स्पृहणीयता को प्राप्त कर जाता है, जैसे विद्वानों का मुख याचनारहित उदार वाणी से (स्पृहणीयता को प्राप्त करता है)।

यथा मम नीतिलतायाम्—

त्रैलोक्याक्रमणैर्वराहविजयैर्निःसंख्यरत्नाप्तिभिः,
प्रख्यातः स्वरसस्वयंवरशतैर्युद्धाब्धिमध्ये श्रियः ।

साश्चर्यैर्बलिबन्धनैश्च बहुभिर्नित्यं हसत्युत्थितः
पौलस्त्यः सकृदुद्यमश्रमवशाद्व्यासक्तनिद्रं हरिम् ॥

वचनौचित्यमुदाहर्तुमाह— यथा ममेतीति । त्रैलोक्येति । शुकसारणौ रघुपतेरग्रे रावणोत्कर्षं प्रकटयतः । त्रैलोक्याक्रमणैरसकृल्लोकत्रयाभिभवैः, बहुवचनबलादसकृदित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धो बोध्यः, वराहविजयैर्वराहविजयकारिणां कियतां सुभटानां विजयैर्निःसंख्यरत्नाप्तिभिर्गणनातीतरत्नोपलब्धिभिर्युद्धानि संग्रामा एवाब्धयः समुद्रास्तेषां मध्ये श्रियो विजयलक्ष्म्याः, स्वरसस्य स्वाभिनिविष्टस्य, स्वयंवरस्य शतैर्बलिनां वरुणादिलोकपालानां, बन्धनैः स्वायत्तीकरणैरेवंविधैर्बहुभिरसंख्यैः साश्चर्यैराश्चर्योद्भावकैः कृत्यैरिति भावः, प्रख्यातः प्रसिद्धस्तथा नित्यं सदोत्थितः समृद्धोत्साहः पौलस्त्यो रावणः. सकृदुद्यमश्रमवशाद् व्यासक्तनिद्रं, त्रैलोक्याक्रमणकौस्तुभावाप्तिलक्ष्मीस्वयंवरणादिकर्मणि वारमेकमेवोद्यमे प्राप्त्युद्योगे यः श्रमस्तद्वशाद् गाढनिद्रासक्तं, हरिं विष्णुं, हसति स्वापेक्षया तुच्छं मत्वोपहसतीत्यर्थः । अयं भावो भगवान्विष्णुर्वारमेकमेव वामनरूपेण त्रैलोक्याक्रमणं, वराहरूपेणासुरनिपातनमेकमात्रकौस्तुभोपलब्धिमेकवारमात्रं समुद्रमध्ये लक्ष्म्याः स्वयंवरणं, बलिबन्धनञ्च कृतवानथापि तज्जन्यश्रमेण विशिथिलसर्वाङ्गो गाढनिद्रामवाप्य शेषे शेतेऽहं तु कतिधा तदाचरणैरपि वर्द्धितोत्साह एवेति मत्समक्षे हास्यास्पदोऽसौ हरिरिति भावः ।

वचनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति । त्रैलोक्यमिति–शुकसारणों के द्वारा रामचन्द्र के आगे रावण की महिमा गायी जा रही है । अनेकों बार तीनों लोकों के आक्रमणों से, वराह विजय करने वाले अगणित वीरों को परास्त कर देने से, असंख्य रत्नों की प्राप्ति कर लेने से, युद्धरूप सागर के बीच सैकड़ों बार विजयलक्ष्मी के स्वयंवरणों से, वरुणादि लोकपालों की विजय से तथा इसी तरह के अनेकों आश्चर्यजनक कार्यों के करने से, प्रसिद्ध तथा सोत्साह रहने वाला रावण भगवान् विष्णु का उपहास कर रहा है, क्योंकि उन्होंने वामनरूप से एक बार ही त्रैलोक्य का आक्रमण किया था, वराहरूप से एक बार ही असुर का संहार किया, उन्हें एकमात्र कौस्तुभमणि की प्राप्ति हुयी थी, एक ही बार लक्ष्मी ने उनका स्वयंवरण किया था, एक बार ही उन्हें बलि को बाँधने का कष्ट उठाना पड़ा था, फिर भी वे इसके श्रम से इतने श्रान्त हुए कि गाढ़ी निद्रा में आजतक शेषनाग पर शयन कर रहे हैं ।

अत्र शुकसारणाभ्यां रघुपतेरग्रे दशग्रीवपराक्रमेऽभिधीयमाने यदुक्तं पौलस्त्यः शेषशायिनं हरिमेकवारोद्योगश्रमवशेन संसक्तालस्यनिद्रमनेकत्रैलोक्याक्रमणैर्वराहविजयिनां सुभटानां जयैरनेकरत्नप्राप्तिभिः समरसमुद्रमध्ये बहुवारविहितैः श्रियः स्वयंवरशतैर्बलिनां च लोकपालानां बन्धनैः प्रख्यातः सदोत्थितः सोत्साहः सततं हसतीति बहुवचनैरेव हरिवैलक्षण्यलक्षणमुपचितमौचित्यमुदञ्चितम् ।

अत्रोक्तपद्ये शुकसारणाभ्यां रामचन्द्रस्याग्रे दशाननप्रतापे कथ्यमाने- "रावणः एकवारोद्योगश्रमवशेनाङ्गीकृतगाढस्वापं शेषशायिनं हरिमनेकवारकृतत्रैलोक्याक्रमणैर्दुर्दान्तशूकरानपातनसमर्थानां सुभटानां जयैरनेकरत्नावाप्तिभिर्युद्धाब्धिमध्येऽसकृत्संपादितैः श्रिया विजयलक्ष्म्याः स्वयंवरशतैर्बलिनां बलवतां लोकपालानां वरुणादीनां, बन्धनैश्च प्रसिद्धः कदाचिदपि परिश्रमानभिज्ञः सोत्साह इत्यभिप्रायः सततं हसतीत्येवंरूपेण यत्प्रतिपादितं तत्र बहुवचनैरेव तत्तत्पदेषु बहुवचनोपादानैरेव हरिवैलक्षण्यलक्षणं विष्णुव्यतिरेकरूपमुचितं समृद्धमौचित्यमुदञ्चितमुद्भावितम्। अत्रोपहासयोग्यता बहुवचनपदोपादानैरेव सम्पन्नेति वचनौचित्यमिति भावः ।

इस पद्य में शुक-सारणों के द्वारा श्रीरामचन्द्र के आगे रावण के पराक्रमोपाख्यान के क्रम में—"रावण—एक बार के श्रम से ही निद्रामंथर शेषशायी भगवान् विष्णु का, अपने अनेक बार के त्रैलोक्याक्रमण, वराहविजयी वीरों की विजय, अनेक रत्नों की प्राप्ति, समरसमुद्र के बीच विजयलक्ष्मी के सैकड़ों बार के स्वयंवरण, दिक्पालों को बाँधना इत्यादि आश्चर्यजनक अनेकों कार्य करने पर भी एकदम अश्रान्त, प्रत्युत सर्वदा उत्साहित होकर उपहास कर रहा है" ऐसा जो कहा गया है उसमें बहुवचन के प्रयोग से ही विष्णु की अपेक्षा अधिक विलक्षणता रावण में आ पाती है, इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग अत्यन्त समीचीन है ।

न तु यथा मातृगुप्तस्य—

> नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः,
> कीरीकपोलतलकान्ततनुः शशाङ्कः ।
> आभाति नाथ ! तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-
> पिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम् ।।

वचनानौचित्यमुदाहर्तुमाह---न तु यथा मातृगुप्तस्येति। नायमिति। नाथ! हे राजन्! अय प्रत्यक्षो निशाया रात्रमुंखमारम्भः प्रदोषकाल इति यावत, अथवा निशानायिकाया मुखमाननं तदेव सरोरुहं कमलं तत्र राजहंसो मरालस्वरूपः, कीर्याः शुक्याः कपोलतलवद् गण्डस्थलवत्कान्ता रमणीया तनुः शरीरं स्वरूपमिति यावत्, यस्यैवंभूतः शशाङ्कश्चन्द्रो न, वर्तत इति शेषः, (अपितु) इदमेतद्दृश्यमानमण्डलं, दुग्धसिन्धोर्दुग्धाब्धेर्डिण्डीरस्य फेनस्य, पिण्डवद् गोलकमिव, परिपाण्डु धवलवर्णं, त्वदीयं भवदीयं, तत्प्रसिद्धं, यशः कीर्तिर्दिव्याकाश आभाति प्रकाशते।

वचनगत अनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है---न तु यथेति। नायमिति---हे राजन्! निशानायिका के मुखरूप सरोज पर रहने वाला राजहंसस्वरूप, शुकी के गंडस्थल के समान पाण्डुर, यह चन्द्र नहीं है। यह तो क्षीर-समुद्र के फेनपिंड के समान धवल तुम्हारा लोकोत्तर यश ही आकाश में चमक रहा है।

अत्र नायं शशी त्वदीयं दुग्धाब्धिफेनपिण्डपाण्डुरं यश इति यदभिहितं तदविच्छिन्नप्रसराणां यशसां बहुवचनेन वर्णनायां समुचितायामेकवचनोपन्यासश्चन्द्रबिम्बाकारेण पिण्डमात्रपरिच्छिन्नतया सङ्कोचरूपमनौचित्यमुद्भावयति।

अत्र पद्ये 'अयं दिवि भासमानश्चन्द्रो नास्ति (अपि तु) क्षीरसागरफेनगोलकवद् धवलं त्वदीयं यश' इति यत्प्रतिपादितं, तदविच्छिन्नप्रसराणामनवरुद्धप्रसराणां यशसां, बहुवचनेन बहुवचनान्तप्रयोगेण वर्णनायां समुचितायां सत्यामेकवचनोपन्यासो यश इत्येकवचनान्तत्वेन प्रयोगश्चन्द्रबिम्बाकारेणेन्दुमण्डलस्वरूपेण, पिण्डमात्रपरिच्छिन्नतया पिण्डप्रमाणमात्रेण परिमिततया, सङ्कोचरूपं यशःसङ्कोचस्वरूपमनौचित्यमुद्भावयत्युत्पादयति ॥ २२ ॥

इस पद्य में 'यह चन्द्र नहीं है अपितु इन्दुमण्डल के रूप में क्षीरसागर के फेन के समान धवल तुम्हारा यश है" ऐसा जो कहा गया है वह अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि चारों ओर फैले हुए यशों के लिये "यशांसि" ऐसा बहुवचनान्त का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु यहाँ तो "यशो" इस रूप से एकवचनान्त का ही प्रयोग किया गया है जिससे वह यश पिण्डमात्र प्रमाण वाले चन्द्र

कार में सीमित हो गया है। इसीलिये वचनानौचित्य के रूप में यह पद्य उद्धृत किया गया है ॥ २२ ॥

विशेषणौचित्यं दर्शयितुमाह—

विशेषणैः समुचितैर्विशेष्योऽर्थः प्रकाशते ।
गुणाधिकैर्गुणोदारः सुहृद्भिरिव सज्जनः ॥ २३ ॥

वचनौचित्यप्रदर्शनात्परं क्रमप्राप्तमेकादशतमं विशेषणौचित्यं विवेचयितुमाह—विशेषणैरिति । समुचितैरभिधेयार्थानुरूपैर्विशेषणैर्विशेष्यभूतोऽर्थो गुणाधिकैर्निरतिशयगुणशालिभिः, सुहृद्भिर्मित्रैर्गुणोदारो गुणैर्दाक्षिण्यादिभिरुदार उदात्तः सज्जनः साधुपुरुष इव प्रकाशते चमत्कृतिमवाप्नोति।

वचनौचित्य के प्रदर्शन के वाद क्रमानुसार ग्यारहवें विशेषणौचित्य की मीमांसा की जा रही है—विशेषणैरिति । अभिधेय अर्थ के अनुरूप विशेषण के प्रयोग से विशेष्यभूत अर्थ उसी तरह चमत्कृत होता है जैसे गुणवान् मित्रों के द्वारा गुणी सज्जन पुरुष ।

काव्ये विशेष्योऽर्थः समुचितैरेव विशेषणैः शोभां लभते, गुणोदारः साधुर्यथाऽभ्यधिकगुणैः सुहृद्भिः ।

कारिकार्थमेव विशदयति—काव्य इति । काव्यरसाभिव्यञ्जककविकर्मणि, विशेष्यभूतोऽर्थः समुचितैरनुरूपैरेव विशेषणैः शोभां सौन्दर्यं, लभते प्राप्नोति, यथा गुणोदार उदात्तगुणशाली, साधुः सज्जनोऽभ्योधिकगुणवद्भिः सुहृद्भिर्मित्रैः ।

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—काव्य में विशेष्यभूत अर्थ अनुरूप विशेषणों से ही सुशोभित होता है, जैसे गुणवान् सज्जन अधिक गुणशाली मित्रों से (सुशोभित होता है) ।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

चैत्रे सूत्रितयौवनान्युपवनान्यामोदिनी पद्मिनी,
ज्योत्स्नाप्रावरणानि रत्नवलभीहर्म्याणि रम्याः स्त्रियः ।
सर्वं चारुतरं न कस्य दयितं यस्मिंस्तु तद्भुज्यते,
तन्मृन्निर्मितमामभाजनमिव क्षिप्रक्षयं जीवितम् ॥

विशेषणौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम मुनीति । चैत्र इति । चैत्रे मधौ, सूत्रितयौवनान्युपचिततारुण्यान्युपवनानि लीलोद्यानानि, आमोदिनी हृष्टुगन्धवती, पद्मिनी कमलिनी, ज्योत्स्नाप्रावरणानि कौमुदीरूपावरक-

युक्तानि, रत्नस्य वलभी गोपानसी येष्वेवंभूतानि हर्म्याणि प्रासादतलानि, रम्या मनोरमाः, स्त्रियो रमण्यश्च, सर्वं पूर्वोक्तं सकलं, चारुतरं नितरां सुन्दरं, कस्य न दयितं कस्य नाभिमतम् ? अपि तु सर्वस्याप्यभिमतमेव। तु किन्तु तत्सर्वं यस्मिन् (जीवने) भुज्यते भोगविषयीक्रियते तज्जीवितं जीवनं मृन्निर्मितं मृत्तिकया रचितमामभाजनमपरिपक्वपात्रमिव, क्षिप्रक्षयं शीघ्रविनाशशीलमचिरस्थायीति भावः, अस्तीति शेषः।

विशेषणौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा ममेति। चैत्र इति। वसन्त में गदराये यौवन की बगिया, सुगन्ध से मदमत्त कर देनेवाली कमलिनी, चान्दनी की चादर लपेटे रत्नों की छज्जा वाली बड़ी-बड़ी अट्टालिकायें, रमणीय रमणियाँ, स्वभावसुन्दर, ये सब किसे अभिमत नहीं ? परन्तु जिस (जीवन) में इनका उपभोग किया जाता है वह जीवन ही मिट्टी से बने कच्चे बर्तन के समान अचिरस्थायी है।

अत्र युधिष्ठिरस्यासादितमहाविभूतेर्मयनिर्मितमणिमयसभाभिमानिनो विभवप्रभावे वर्ण्यमाने सकलभावाभावस्वरूपभाववादोपदेशिनो महामुनेराशयविचारावसरे यदुक्तं कुसुमसमयसमुचितयौवनान्युपवनानि मकरन्दामोदसुन्दरारविन्दिनी ज्योत्स्नापटप्रावृतानि रत्नवलभीहर्म्याणि रमणीया रमण्यश्चेति सर्वमेतच्चारुतरं सर्वस्याभिमतम् किन्तु यस्मिन्भुज्यते तज्जीवितमाममृत्पात्रनिःसारं क्षिप्रक्षयमिति तद्विशेष्यपदोत्कर्षकारिविशेषणपदोदितसौन्दर्येण पर्यन्तनिःसारतानिर्वेद संवादि स्फुरदौचित्यमातनोति।

अत्रास्मिन् पद्ये, आसादितमहाविभूतेः प्राप्तमहैश्वर्यस्य, मयदानवरचितमणिमयसभाया अभिमानिनो गर्विणो युधिष्ठिरस्य, विभवप्रभावे ऐश्वर्यमाहात्म्ये वर्ण्यमाने, सकलानां निःशेषाणां भावानां भवन्त्युत्पद्यन्ते इति भावास्तेषामर्थात्सम्पूर्णभौतिकवस्तूनामभावस्वरूपभाववादस्याभावस्वरूपतया वादस्य दृश्यमानसकलवस्त्वनस्तित्वसिद्धान्तस्येति यावत्, उपदेशिनः प्रतिपादनशीलस्य, महामुनेर्भगवतो बुद्धस्याशयविचारावसरे तात्पर्यपर्यालोचनकाले "पुष्पसमयसमृद्धतारुण्यान्युपवनानि, मकरन्दमाधुरीपूरिता कमलिनी, चन्द्रिकापटावृतानि रत्नगोपानसीपरिलसत्प्रासादतलानि, रमणीया रमण्यश्चेति सर्वमेतच्चारुतरं, सर्वस्य प्राणिनोऽभीष्टतमं किन्तु यस्मिन् (जीवने) भुज्यते, तज्जीवितमपरिपक्वमृद्भाजनमिव

साररहितं क्षिप्रक्षयमिति" यदुक्तं तज्जीवनरूपविशेष्यपदार्थोत्कर्षकारकक्षिप्रक्षयादिविशेषणपदोत्पादितचमत्कारेण पर्यन्ते चरमांशे, परिणाम इति यावत्, निःसारतयाऽसारतया सारतावुद्ध्येति भावः जनितस्य निर्वेदस्य वैराग्यस्य संवादि समर्थकं स्फुरद्देदीप्यमानमौचित्यमातनोति विस्तारयति ।

इस पद्य में अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, मयनिर्मितमणिमयसभा के अभिमान से युक्त, युधिष्ठिर के वैभव वर्णन-प्रसंग में भौतिक पदार्थों के अभाववादी महामुनि भगवान् बुद्ध के तात्पर्यपर्यालोचन करते समय "वसन्तागम से तरुणित-उपवन, मकरन्दामोद से युक्त पद्मिनी, चान्दनी की चादर लपेटे बड़ी-बड़ी अट्टालिकायें, कमनीय कान्तायें किसे प्रिय नहीं ? परन्तु इनका उपभोग जिस (जीवन) में किया जाता है वह जीवन ही कच्ची मिट्टी से बने कमजोर बर्तन के समान शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है" ऐसा जो कहा गया है उसमें जीवनरूप विशेष्य की उत्कृष्टता सिद्ध करनेवाले क्षिप्रक्षयादि विशेषण पद से उत्पन्न सौन्दर्य के कारण वह उज्ज्वल औचित्य विस्तार पा रहा है जो पार्यन्तिक असारतावुद्धिजनित वैराग्य का संवादी (समर्थक) है ।

न तु यथा भट्टलट्टनस्य—

> ग्रीष्मं द्विषन्तु जलदागममर्थयन्तां
> ते सङ्कटप्रकृतयो विकटास्तडागाः ।
> अब्धेस्तु मुग्धशफरीचटुलाचलेन्द्र-
> निष्कम्पकुक्षिपयसो द्वयमप्यचिन्त्यम् ।।

विशेषणानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—न तु यथा भट्टेति । ग्रीष्ममिति । सङ्कटाः सङ्कुचिताः, प्रकृतयः स्वभावा येषामेवंभूताः, विकटा विस्तृतास्ते वर्णनीयास्तडागाः कासाराः, ग्रीष्मं जलशोषकं ग्रीष्मर्तुं, द्विषन्तु निन्दन्तु, जलदस्य मेघस्यागमं वर्षर्तुसमागममभ्यर्थयन्तां प्रार्थयन्तु, तु किन्तु, मुग्धशफरीवद् बालप्रोष्ठीवच्चटुलेन चञ्चलेनाचलेन्द्रेण मन्दराचलेनापि, निष्कम्पमचलं, कुक्षेरुदरस्याभ्यन्तरस्येति यावत्, पयो जलं, यस्यैवंभूतस्याब्धेः समुद्रस्य, द्वयमपि पूर्वोक्तं ग्रीष्मनिन्दनं मेघागमाभ्यर्थनञ्चेति द्वयमप्यचिन्त्यमविचार्यमिति भावः ।

विशेषणानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथेति । ग्रीष्ममिति—स्वभावतः संकुचित तथाकथित बड़े-बड़े तालाब ग्रीष्म की निन्दा

और वर्षा की अभ्यर्थना भले ही करें परन्तु भोली मछलियों के समान चंचल मन्दराचल से भी स्थिर आभ्यन्तरिक जलवाले समुद्र के लिए तो दोनों ही (ग्रीष्म की निन्दा और मेघ की अभ्यर्थना) कल्पनातीत हैं।

अत्र ग्रीष्मं द्विषन्तु मेघागमं सङ्कटस्वभावा विकटा विस्तीर्णाश्च तटाकाः प्रार्थयन्ताम्, महाब्धेस्तु बालशफरीलोलाचलेन्द्रनिश्चलकुक्षिपयसो ग्रीष्मघनागमावप्यगणनीयाविति यदुक्तम्, तत्र तडागविशेषणयोः सङ्कट-विकटपदयोः परस्परविरुद्धार्थयोरनौचित्यं स्पष्टमवभासते, सङ्कटस्वभाव-स्य हि विकटत्वं विस्तीर्णत्वं नोपपद्यते। अथ स्वभावे सङ्कटत्वमाकारे विक-टत्वम्, तदपि तटाकस्य निश्चेतनस्य स्वभावाभावादनुपपन्नमेव ।। २३ ।।

अत्र पद्ये, "सङ्कटस्वभावाः सङ्कुचितप्रकृतयो विकटा विस्तीर्णा-स्तटाकाः कासाराः, ग्रीष्मं द्विषन्तु, मेघागमं प्रार्थयन्ताम्, शिशु-प्रोष्ठीव-चञ्चलमन्दराचलशान्ताभ्यन्तरिकजलस्य महाब्धेर्ग्रीष्ममेघागमावुभावप्य-गणनीयावेवेति" यत्प्रतिपादितं तत्र परस्परविरुद्धार्थयोस्तडागविशेषण-भूतयोः सङ्कटस्वभावस्य सङ्कुचितप्रकृतेर्विकटत्वं विस्तीर्णत्वं, नोपपद्यते न युक्तियुक्तं भवति। अथ यदि स्वभावे संङ्कटत्वमाकारे विकटत्वमित्यु-च्येत तर्हि तदपि निश्चेतनस्याप्राणिनस्तटाकस्य स्वभावाभावात्स्वभावस्य प्राणिवृत्तित्वेनाचेतने कासारे तदभावादिति भावः, अनुपपन्नमेव ॥२३॥

इस पद्य में 'संकटस्वभाव वाले और विस्तीर्ण तड़ाग ग्रीष्म की निन्दा और वर्षा की अभ्यर्थना भले ही करें परन्तु छोटी (पोठिया) मछलियों के समान चंचल मन्दराचल से भी निश्चल आभ्यन्तरिक जलवाले समुद्र के लिए दोनों ही कल्पनायें भावशून्य हैं" ऐसा जो कहा गया है उसमें परस्पर विरुद्ध अर्थवाले तड़ाग के विशेषणभूत संकट और विकट पद का अनौचित्य स्पष्ट अवभासित होता है, क्योंकि संकट (संकुचित) स्वभाववालों के लिए विकटता (विस्तीर्णता) पूर्णतः अनुपयुक्त है। यदि स्वभाव में संकटता और आकार में विकटता ऐसा कहकर अर्थ की संगति लगायी जाय तो भी स्वभाव के प्राणिवृत्ती-धर्म होने के कारण अचेतन तड़ाग के लिए वह अयुक्त ही कहा जायगा ॥ २३ ॥

उपसर्गौचित्यं दर्शयितुमाह—

योग्योपसर्गसंसर्गैर्निरर्गलगुणोचिता।
सूक्तिर्विवर्धते सम्पत्सन्मार्गगमनैरिव ।। २४ ।।

उचितैः प्रादिभिरुपसर्गैः सूक्तिरुन्नतिमासादयति, विभूतिरिव सन्मार्गगमनैः ।

विशेषणौचित्यानौचित्य प्रदर्शनानन्तरं क्रमागतं द्वादशतममुपसर्गौचित्यं विवेचयितुमाह—योग्येति ।

निरर्गलगुणोचिता निर्बाधगुणसंयुक्ता, सूक्तिः काव्यरूपं सत्कथनं, योग्योपसर्गसंसर्गैरनुरूपोपसर्गसंपर्कैः, सन्मार्गगमनैः सन्मार्गविनियोगैः, सम्पत्संपत्तिरिव विवर्धतेऽतितरां वृद्धिमाप्नोति ।

कारिकार्थमेव विवृणोति—उचितैरिति । उचितैरनुरूपैः, प्रादिभिः प्रपरादिरूपैरुपसर्गैः, सूक्तिः सत्काव्योक्तिरुन्नतिं वृद्धिमासादयति लभते, सन्मार्गगमनैः सत्कर्मविनियोगैर्विभूतिरैश्वर्यमिव ।

विशेषणौचित्य के प्रदर्शन के बाद अवसर प्राप्त होने पर बारहवें उपसर्गगत औचित्य की विवेचना करने के लिये कहा गया है—योग्येति । उचित गुणों से युक्त सूक्ति प्र-परा आदि उपसर्गों के संपर्क से उसी तरह वृद्धि को प्राप्त करती है जैसे सत्कर्म में व्यय होने से संपत्ति ।

इसी की व्याख्या की जा रही है—उचितैरिति । प्र-परा आदि उचित उपसर्गों के प्रयोग से काव्य की महिमा उसी तरह बढ़ जाती है जैसे सत्कर्म में व्यय होने पर संपत्ति की ।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

आचारं भजते त्यजत्यपि मदं वैराग्यमालम्बते,
कर्तुं वाञ्छति सङ्गभङ्गगलितोत्तुङ्गाभिमानं तपः ।
दैवन्यस्तविपर्ययैः सुखशिखाभ्रष्टः प्रणष्टो जनः,
प्रायस्तापविलीनलोहसदृशीमायाति कर्मण्यताम् ॥

उपसर्गौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा ममेति । आचारमिति । गन्धर्वलब्धपराभवस्य दुर्योधनस्य तपःप्रवृत्तिमभिलक्ष्य वर्णनेयम् । दैवन्यस्तविपर्ययैर्भाग्यकृतवैपरीत्यैः, सुखस्यानन्दस्य, शिखायाः शिखरात् भ्रष्टः पतितः, प्रणष्टो नष्टसम्पत्तिकः, सर्वो जनः, आचारं सदाचरणं, भजते आलम्बते, सङ्गभङ्गेन विषयसम्पर्कत्यागेन, गलितं दूरीकृतमुत्तुङ्गमत्युच्छ्रितमभिमानं यत्र तथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणमेतत्) तपस्तपस्यां, कर्तुं विधातुं, वाञ्छतीच्छति, (समुचितमेवैतद्यतः) प्रायः सम्भवतस्ता-

दृशो जनस्तापविलीनलोहसदृशीमुष्णताद्रवीकृतलोहतुल्यां, कर्मण्यतां कार्यक्षमतामायाति प्राप्नोति।

उपसर्गगत औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। आचारमिति—गन्धर्वों के द्वारा पराजित दुर्योधन की तपःप्रवृत्ति को लक्ष्य करके कहा जा रहा है कि विधिविडम्बनावश सुख के शिखर से गिरी हुई सभी संपत्ति नष्ट हो जाने पर सदाचार का पालन, अभिमान का त्याग, वैराग्य का अवलम्बन और विषयसंपर्क का अवसर नष्ट हो जाने से अत्युत्कट अभिमान से मुक्त होकर तपस्या करने की इच्छा करता है। उचित ही है, क्योंकि वैसा व्यक्ति प्रायः तापविगलितलोहपिण्ड के समान कार्यक्षमता को भी प्राप्त कर जाता है।

अत्र दुर्योधनस्य घोषयात्रायां गन्धर्वबन्धपराभवभग्नाभिमानस्य प्राज्यसाम्राज्यमुत्सृज्य तपःप्रयत्नाभिनिविष्टस्य दुर्ग्रहे वर्ण्यमाने यदुक्तं—सर्वो जनः सुखभ्रष्टः प्रणष्टविभवः सदाचारं भजते, मदं त्यजति, वैराग्यमाश्रयति, सङ्गभङ्गेन विगलितोत्तुङ्गाभिमानं तपः कर्तुं वाञ्छति, प्रायो बाहुल्येन तापविगलितलोहपिण्डसदृशीं कर्मण्यतामायातीति, तत्रोत्पूर्वतया सोपसर्गस्य तुङ्गशब्दस्य स्वभावोन्नतिर्द्विगुणतामुपयाता दुर्मदाभिमानार्थौचित्यमुच्चैः करोति।

अत्र पूर्वोक्तपद्ये, घोषयात्रायां घोषगमनप्रसङ्गे गन्धर्वबन्धपराभवभग्नाभिमानस्य गन्धर्वकृतबन्धजन्यपराभवेन नष्टगर्वस्य, प्राज्यं प्रचुरं विस्तृतमिति यावत्, साम्राज्यमुत्सृज्य परित्यज्य, प्रयत्नाभिनिविष्टस्य तपोविषयकयत्नाग्रहशीलस्य, दुर्योधनस्य, दुर्ग्रहे दुराग्रहे, वर्ण्यमाने प्रतिपाद्यमाने—"सर्वोजनः सुखशिखरच्युतो विनष्टैश्वर्यः सदाचारं श्रयति, अभिमान जहाति, वैराग्यमाश्रयति, विषयसंसर्गप्रणाशेन विगलितोत्तुङ्गाभिमानं यथा स्यात्तथा तपः कर्तुमिच्छति, प्रायो बाहुल्येनोष्णतागलितलोहगोलकतुल्यां कार्यक्षमतामायातीति यदुक्तं, तत्र तत्कथने, उत्पूर्वतयोदित्यस्य प्राक्स्थित्या, सोपसर्गस्य तुङ्गशब्दस्य, स्वभावोन्नतिरुन्नतिरूपस्वाभाविकोऽर्थो द्विगुणतां द्वैगुण्यमुपयाता प्राप्ता सती, दुर्मदाभिमानार्थौचित्यं मदमत्तजनगर्वरूपार्थस्यानुकूलतामुच्चैः करोति वर्धयति।

इस पद्य में घोषयात्रा के प्रसंग में गन्धर्वों के द्वारा बँध जाने के कारण गर्व चूर्ण हो जाने पर विस्तृत साम्राज्य को छोड़कर तपस्या करने के प्रयत्न में लगे हुए दुर्योधन के दुराग्रह का वर्णन करते समय "सभी जन सुखसंपत्ति से हीन

हो जाने पर, सदाचार का आचरण, मद का त्याग और वैराग्य का आश्रयण करता हुआ विषय संपर्क के छूट जाने से विगलितोत्तुङ्गाभिमान (गलितगर्व) होकर तप करने की इच्छा करता है। ठीक है प्रायः अधिकतर लोक ताप से गले हुए लोहपिंड के समान कार्यक्षमता को प्राप्त कर जाता है" ऐसा जो कहा गया है उसमें उत् रूप उपसर्ग से युक्त होने के कारण तुङ्गशब्द का उन्नतिरूप वाच्य अर्थ द्विगुणित हो जाता है जिसस मदमत्तजनगत अभिमानरूप अर्थ का औचित्य अत्यन्त उच्छ्रित हो जाता है।

न तु यथा कुमारदासस्य—

अयि विजहीहि दृढोपगूहनं त्यज नवसङ्गमभीरु ! वल्लभम् ।
अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु ! सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः ॥

उपसर्गगतानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह--न तु यथेति। नव-संगम-संलग्नतया विस्मृतगमनां कामिनीं प्रातः सखी जागरयति--अयीति। अयि सखि ! दृढोपगूहनं गाढालिङ्गनं, विजहीहि त्यज, अयि नवसङ्गमभीरु ! नूतनप्रियसहवासकातरे ! वल्लभं कान्तं, त्यज, अयि वरतनु ! कोमलाङ्गि ! एष प्रत्यक्षदृश्योऽरुणकरोद्गमः सूर्यकिरणोदयो वर्तते, प्रभातकालोऽयमायात इति भावः, कुक्कुटास्ताम्रचूडाः, सम्प्रवदन्ति स्वाव्यक्तनादं प्रातःकालबोधकमिति भावः, कुर्वन्ति।

'उपसर्गगत अनौचित्य' का प्रदर्शन किया जा रहा है—न तु यथेति। नवसंगमकालीन प्रमोदों में लीन होनेके कारण। समयज्ञानशून्य नवयौवना को सखी प्रातःकालकी सूचना दे रही है—अयि विजहीहीति। अयि सखि ! अब गाढ़ालिंगन का त्याग करो, प्रियतम के संपर्क से निकल आओ। देखो न, सूर्य की सुनहरी किरणें झांक रही हैं, मुर्गे बांग दे रहे हैं, क्या अब भी केलि-मन्दिर में ही बनी रहना चाहती हो ?

अत्राभिनवानङ्गसङ्गमगाढालिङ्गननिश्चलाङ्गच्छन्नाङ्गनाप्रबोधने सख्या यदुक्तं मुञ्च वल्लभं प्रभातसंध्यायामरुणकिरणोद्गमो वर्तते, कुक्कुटाश्च सम्प्रवदन्तीति, तच्च सम्प्रोपसर्गशून्यशब्दापूरणमात्रेण निरर्थकत्वादनुचितमेव ॥ २४ ॥

अत्र पद्ये, अभिनवे नूतनेऽङ्गसङ्गमे कामसम्पर्के, यद् गाढं दृढतरमालिङ्गनं तेन निश्चलान्यलसानि यान्यङ्गान्यवयवास्तैश्छन्नाया युक्ताया अङ्गनायाः कामिन्याः प्रबोधने उद्बोधने सख्या वयस्यया, "वल्लभं मुञ्च,

प्रभातसंध्यायां प्रातःकालेऽरुणकिरणोद्गमः सूर्यरश्म्युदयो वर्तते, ताम्रचूडाश्च सम्प्रवदन्तीति" यदुक्तं, तत्प्रतिपादनं, सम्प्रोपसर्गशून्यशब्दापूरणमात्रेण सम्प्रेत्युपसर्गद्वयरहितेन, वदन्तीत्याकारकेण शब्देन केवलेनाभीष्टर्थापूर्त्या (हेतुना) निरर्थकत्वाद्वैयर्थ्यादनुचितमयुक्तमेव ॥२४॥

यहाँ पर अभिनव कामसंपर्कजन्य गाढ़ आलिंगन से आवद्ध नवयुवती को सावधान करने के लिये सखी के द्वारा "प्रियतम को छोड़ो, सूर्य की किरणें उग आयी हैं, मुर्गे भी बाँग देने लग गये हैं (सवेरा हो गया है)—ऐसा कहने के क्रम में "सम्प्रवदन्ति" का प्रयोग कर 'सम्' और 'प्र' रूप उपसर्ग का जो व्यवहार किया गया है वह कुछ अधिक अर्थ नहीं रखता, क्योंकि उसके बिना भी वक्तव्य अर्थ को पूर्ति हो जातो है, इसलिये उस उपसर्ग-द्वय का प्रयोग उपसर्ग-गत अनौचित्य को ही प्रगट करता है ॥ २४ ॥

निपातौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितस्थानविन्यस्तैर्निपातैरर्थसङ्गतिः ।
उपादेयैर्भवत्येव सचिवैरिव निश्चला ॥ २५ ॥

उपादेयैश्चादिभिर्निपातैरुचितपदविनिवेशितैः काव्यार्थस्य सङ्गतिरसन्दिग्धा सत्सहायैरिव भवति ।

उपसर्गगतौचित्यानौचित्ये प्रदर्श्य सम्प्रति क्रमप्राप्तं त्रयोदशतमं निपातौचित्यं विवेचयितुमाह—उचितेति । उचितस्थानविन्यस्तैः समुचितस्थाननियुक्तैरुपादेयैः संग्रहणीयैः, सचिवैर्मन्त्रिभिः सहायैरिति भावः, यथाऽर्थसङ्गतिर्धनसम्प्राप्तिर्निश्चला सुदृढा भवति, तथैव उचितस्थानविन्यस्तैः समुचितस्थलप्रयुक्तैरुपादेयैर्ग्राह्यैर्निपातैश्च वा-हेत्यादिरूपैरर्थसङ्गतिर्वाक्यार्थसामञ्जस्यं, निश्चलाऽसंदिग्धा भवत्येव ।

पूर्वकारिकार्थमेव व्याख्यातुमाह—उपादेयैरिति । उचितपदविनिवेशितैरुचितस्थानप्रयुक्तैरुपादेयैर्ग्राह्यैश्चादिभिश्च वा-हप्रभृतिभिर्निपातैः काव्यस्यार्थसङ्गतिरभिधेयार्थसामञ्जस्यम्, सत्सहृदयैः सन्मन्त्रिभिरिवासन्दिग्धा सन्देहरहिता भवति ।

उपसर्गगत औचित्यानौचित्य को दिखाकर अभी तेरहवें निपातगत औचित्य की मीमांसा की जा रही है—उचितेति । जैसे अच्छे मन्त्रियों की नियुक्ति से कोष अक्षय रहता है वैसे ही उचित स्थान पर च, वा, ह आदि निपातों के प्रयोग से अर्थसंगति निःसंदिग्ध होती है ।

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—उपादेयैरिति। उपादेय और उचित स्थान पर प्रयुक्त चादि निपातों के द्वारा सन्मन्त्रियों की नियुक्ति से अक्षय कोप के समान अर्थसंगति निःसंदिग्ध बनी रहती है।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

सर्वे स्वर्गसुखार्थिनः क्रतुशतैः प्राज्यैर्यजन्ते जडा-

स्तेषां नाकपुरे प्रयाति विपुलः कालः क्षणार्धं च तत्।

क्षीणे पुण्यधने स्थितिर्न तु यथा वेश्यागृहे कामिनां,

तस्मान्मोक्षसुखं समाश्रयत भोः! सत्यं च नित्यं च यत्॥

निपातगतौचित्यमुदाहर्तुमाह—**यथा ममेति। सर्वे इति।** स्वर्ग-सुखार्थिनः स्वर्गावासजन्यानन्दकामिनः, सर्वे, जडा मन्दमतयः, स्वर्ग-सुखस्य क्षणिकत्वेन तत्कामिनां मन्दबुद्धित्वव्यपदेशः समुचित एवेति भावः, प्राज्यैः प्रचुरैः, क्रतुशतैर्यागशतैर्यजन्ते देवमर्चयन्तीति भावः, तेषां तदर्थमिष्टवतां, विपुलः सुमहान्कालः समयः, नाकपुरे स्वर्गे प्रयाति व्यत्येति। तु किन्तु, पुण्यधने धर्नाविभवे, विपुलसम्पत्तौ च, क्षीणे तत्फल-भोगेनोपक्षीणशक्तौ, व्ययबाहुल्येन नष्टे च, वेश्यागृहे वेश्यालये, कामिनां कामुकानामिव, तत्क्षणार्धं च तन्निमेषमात्रमपि स्थितिरवस्थानं न भवितुं शक्नोतीति भावः। तस्माद्धेतोर्भोः! अरे मन्दबुद्धयः! मोक्ष-सुखं सायुज्यादिमोक्षानन्दं, समाश्रयत भजत, यच्च (मोक्षसुखम्) सत्यं भ्रमरहितं, नित्यमविनश्वरं चास्तीति शेषः।

निपातगत औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा ममेति। सर्व इति। स्वर्गसुख चाहनेवाले सभी मूर्ख सैकड़ों यज्ञ कर के स्वर्ग जाते हैं और बहुत दिनों तक वहाँ वास भी करते हैं, परन्तु पुण्य चुक जाने पर ठीक उसी तरह वहाँ से खदेड़ दिये जाते हैं जैसे धन समाप्त हो जाने पर वेश्या-गृहों से कामुक पुरुष। इसलिए ऐ मूढ़ो! मोक्षसुख की ही कामना करो, जो कि सत्य भी है और नित्य भी।

अत्र स्वर्गसुखस्य वेश्याभोगवदवसानविरसचपलतायां प्रतिपादितायां निश्चलमोक्षसुखस्य निःसन्देहनिश्चिता प्रतिपत्तिर्निपातपदोपबृंहिता वाक्यार्थौचित्यं जनयति।

अत्र पद्ये, स्वर्गसुखस्य, वेश्याभोगवद्वारवधूपभोगवदवसानेऽन्ते, विरसचपलतायां कटुक्षणिकत्वे, प्रतिपादितायां कथितायां सत्यां, निश्चल-

मोक्षसुखस्य सुस्थिरमोक्षावाप्तिरूपसुखस्य, निःसन्देहनिश्चिता सन्देहशून्य-स्थिरा, प्रतिपत्तिरवगमः, निपातरदोपबृंहिता च रूपनिपातवर्धिता (सती), वाक्यार्थौचित्यं वाक्याभिधेयगतौचित्यं, जनयत्युत्पादयति।

इस पद्य में स्वर्गसुख को वेश्या-भोग के समान अन्तविरस और क्षणिक बताया गया है, जिससे मोक्षसुख की स्थायिता और सत्यता का भान स्पष्टतः हो जाता है, जो कि "सत्यं च नित्यं च यत्" यहाँ पर प्रयुक्त च-रूप निपात से और अधिक बढ़ जाता है, इसलिए निपातगत औचित्य का सुन्दर समावेश यहाँ दृष्टिगोचर हो जाता है।

न तु यथा श्रीचक्रस्य—

> देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि ब्रूमहे नीतिनिष्ठं,
> सार्द्धं सन्धाय जालान्तरधरणिभुजा निर्वृतो बान्धवेन।
> म्लेच्छानुच्छिन्धि भिन्धि प्रतिदिनमयशो रुन्धि विश्वं यशोभिः,
> सोदन्वन्मेखलायां परिकलय करं किञ्च विश्वम्भरायाम्॥

निपातानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—न तु यथा श्रीचक्रस्येति। देव इति। कञ्चन नृपं प्रति कस्यचिद्धितचिन्तकस्योक्तिरियम्। यदपि यद्यपि, देवः स्वामी, भवानिति यावत्, सर्वं निखिलं, जानात्यवगच्छति, तदपि च तथापि च, नीतिनिष्ठं नीतिपूर्णं, ब्रूमहे कथयामो वयमिति शेषः। किमित्याकाङ्क्षायामाह—सार्द्धमिति। बान्धवेनात्मीयेन, जालान्तरधरणिभुजा जालन्धरनामख्यातप्रदेशाधिपतिना, सार्द्धं सह, सन्धाय सन्धि कृत्वा, निर्वृतः शान्तः आक्रमणशङ्कारहित इति यावत्, प्रतिदिनं प्रत्यहं, म्लेच्छान्धर्मध्वंसिनः, यवनानुच्छिन्धि घातय। अयशोऽकीर्तिं, भिन्धि नाशय, यशोभिरेतत्कर्मजन्यसमुज्ज्वलकीर्तिभिर्विश्वं जगत्, रुन्धि पूरय, किञ्चापि च, सोदन्वन्मेखलायां समुद्ररशनायां समग्रायामिति भावः, विश्वम्भरायां पृथिव्यां, करं राजग्राह्यमंशं, परिकलय गृहाण।

निपातानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथा श्रीचक्रस्येति। किसी राजा के प्रति उसके किसी हितचिन्तक की उक्ति है—देव इति। हे राजन्! यद्यपि आप खुद ही सब जानते हैं फिर भी हमलोग कुछ नीतिपूर्ण बातें श्रीमान् की सेवा में रख रहे हैं। बन्धुभूत जालंधरराज के साथ संधि करके शान्ति स्थापित कर लीजिये और फिर म्लेच्छों को मार भगाइये,

अपकीर्ति को दूर कीजिये, अपने यश से संसार को परिपूर्ण कीजिये, इतना ही नहीं समुद्रमेखलामंडित (सम्पूर्ण) पृथ्वी पर कर वसूल कीजिये।

अत्र क्षितिपतिस्तुतिप्रस्तावे "देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि" इति यदुक्तं तत्र पूर्वापरयोरसम्बद्धत्वेन निरर्थक एव निरुपयोगश्चकारः, प्रततोत्सवबहुजनभोजनपङ्क्तावपरिज्ञातः स्वयमिव मध्ये समुपविष्टः पश्चादभिव्यक्तः परं लज्जादुर्मना अनौचित्यं प्रतनोति ॥ २५ ॥

अत्रोक्तपद्ये राज्ञः स्तुतिप्रसङ्गे "देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि" इत्येवंरूपेण यदुक्तं तदुक्तौ पूर्वापरपदयोर्यदपितदपिरूपयोः पदयोस्तदर्थयोरिति भावः, असम्बद्धत्वेन समुच्चयायोग्यत्वेन, निरर्थको व्यर्थ एव, निरुपयोगो निष्प्रयोजनश्चकारः, प्रतते विस्तृते महतीति भावः, उत्सवे, बहूनां जनानां, भोजनस्य पङ्क्तावपरिज्ञातोऽपरिचितः, स्वयमनाहूतो मध्ये समुपविष्टः, पश्चादभिव्यक्तो विज्ञातः, लज्जादुर्मना लज्जाकुलचेता धृष्टजन इवेति भावः, परमत्यन्तमनौचित्यं प्रतनोति विस्तारयति ॥२५॥

इस पद्य में राजा की स्तुति के क्रम में "देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि" ऐसा जो कहा गया है उसमें यदपि और तदपि पद आपस में सम्बन्ध नहीं रखने के कारण समुच्चय के योग्य तो हैं ही नहीं, फिर उनके बीच में चकार का प्रयोग करना कैसे सार्थक हो सकता है ? इसलिए वह (चकार) उसी तरह अनौचित्य को विस्तृत करता है, जैसे भोज में निमंत्रित बहुत जनों के बीच छिप कर बैठा हुआ पीछे पहचाने जाने पर लज्जा से विनम्र होकर कोई धृष्ट जन अनौचित्य को व्यक्त करता है ॥ २५ ॥

कालौचित्यं दर्शयितुमाह—

कालौचित्येन यात्येव वाक्यमर्थेन चारुताम् ।
जनावर्जनरम्येण वेषेणेव सतां वपुः ॥ २६ ॥

कालकृतौचित्ययुक्तेनार्थेन वाक्यं चारुतामेति वेषपरिग्रहेणेव कालयोग्येन सतामवसरज्ञानां वपुः ।

निपातौचित्यं प्रदर्श्य साम्प्रतं चतुर्दशतमं कालौचित्यं विवेचयितुमाह—कालौचित्येनेति । कालस्यौचित्यं यत्र तेन भूतभविष्यदादिकालकृतौचित्ययुक्तेनेति भावः, अर्थेनाभिधेयेन, वाक्यं पदसमूहः काव्यरूप इति यावत् जनावर्जनरम्येण सभ्यजनानुरञ्जनेन हेतुना, सुन्दरेण साम-

यिकेनेति भावः, वेषेण वेषधारणेनेत्यभिप्रायः, सतां सज्जनानां, वपुः शरीरमिव, चारुतां सुन्दरतां, याति प्राप्नोत्येव।

कारिकार्थमेत्र विवृणोति—कालकृतेति। कालकृतौचित्ययुक्तेन भूत-भविष्यदादिकालकृतौचित्यसहितेनार्थेनाभिधयेन, वाक्यं, चारुतां रुचिरतामेति प्राप्नोति, कालयोग्येन समयोचितेन, वेषपरिग्रहेण वेषधारणेनावसरज्ञानामवसरज्ञानवतां, सतां सज्जनानां, वपुर्विग्रह इव।

उदाहरण-प्रत्युदाहरणों को दिखा कर निपातौचित्य को विवेचना के बाद क्रमानुसार चौदहवें कालौचित्य की मीमांसा करने के लिए कहा गया है—कालौचित्येनेति। भूत भविष्यत् आदि कालकृत औचित्य से युक्त अर्थ के प्रयोग से काव्यरूप वाक्य समयानुरूप वेषविन्यास से सज्जनों के शरीर की तरह अपूर्व कमनीयता को प्राप्त कर जाता है।

इसी अर्थ को विस्तृत रूप से समझाने के लिए कहा गया है—कालकृतौचित्येति। जैसे समयोचित वेशविन्यास से अवसरज्ञ सज्जनों का शरीर शोभित होता है उसी तरह कालकृत औचित्य से अनुप्राणित अर्थों के द्वारा काव्य अपूर्व सुन्दरता को प्राप्त करता है।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

योऽभूद् गोपशिशुः पयोदधिशिरश्चौरः करीषङ्कष-
स्तस्यैवाद्य जगत्पते खगपते शौरे मुरारे हरे।
श्रीवत्साङ्क! जडैरिति स्तुतिपदैः कर्णौ नृणां पूरितौ,
हो कालस्य विपर्ययप्रणयिनी पाकक्रियाश्चर्यभूः॥

कालकृतौचित्यस्योदाहरणं प्रदर्शयन्नाह—यथा मम मुनीति। शिशुपालद्वारा श्रीकृष्णनिन्दायां प्रयुक्तमिदं पद्यम्—योऽभूदिति। यो गोपशिशुर्गोपालबालः कृष्ण इति यावत्, पयसो दध्नश्च शिरश्चौरो मूर्धन्यः प्रधान इति यावदपहारकः, करीषं शुष्कगोमयं (करसीति लोके प्रसिद्धं) कषतीति करीषङ्कषोऽर्थाद् घोषे गोमयादिप्रोञ्छकोऽभूत्तस्यैव गोपसूनोरद्य सम्प्रति, जगत्पते, खगपते, शौरे, मुरारे, हरे, श्रीवत्साङ्क! इतीत्यादिकैः, स्तुतिपदैः प्रशंसाबोधकपदप्रयोगैर्नृणां लोकानां, कर्णौ श्रवणौ, जडैर्मूर्खैः, पूरितौ भरितौ, हीति खेदेन, कालस्य समयस्य, विपर्ययप्रणयिनी व्यतिक्रमकारिणी, पाकक्रिया परिणमनव्यापारः, आश्चर्यभूर्विस्मयस्थानम्।

कालकृत औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा मम

मुनीति। शिशुपाल के द्वारा श्रीकृष्ण की निन्दा में यह पद्य कहा गया है—योऽभू-दिति। जो ग्वाले का लड़का दूध-दही का प्रमुख चोर था और गोहाल में गोंत-गोबर साफ किया करता था, आज जगत्पते, लगपते, शौरे, मुरारे, हरे, श्रीवत्साङ्क आदि पदों के द्वारा उसी की स्तुति मूर्खजन कर रहे हैं——इन पदों से सभी के कान भर गये हैं, हा! विपर्ययप्रेमी समय-परिपाक आश्चर्यजनक है।

अत्रामर्षविषविषमाविष्कारमुमूर्षुणा शिशुपालेनाभिधीयमाने यत्किल गोपालबालः पयोदधिशिरश्चारः करीषङ्कषोऽभूत्तस्यैवाद्य जगन्नाथादिभिः स्तुतिपदैर्नृणां कर्णौ पूरितौ, ही बत कालस्य विपर्यकारिणी पाकक्रियाऽऽश्चर्यभूमिरिति वाक्येऽभूदिति भूतकालेनाश्चर्यपरिपोषरुचिरमारब्धाधिक्षेपलक्षणं वाक्यौचित्यं कृतम्।

अत्रोक्तपद्ये, अमर्षः क्रोध एव विषं गरलं, तस्य विषमो विचित्रो य आविष्कार उत्पत्तिस्तेन मुमूर्षुणा लोकद्वाराशङ्कितमरणेन, शिशुपालेनाभिधीयमाने कथ्यमाने "यत्किल गोपालबालः पयोदध्नोर्मुख्यापहारको गोमयादिप्रोञ्छकोऽभूत्तस्यैवेदानीं जगन्नाथादिभिः स्तुतिपदैर्नृणां कर्णौ पूरितौ, बतेति खेदे विपर्यासविधायिनी कालस्य पाकक्रियाऽऽश्चर्यभूमिः" इति वाक्ये "अभूत्" इति भूतकालेन भूतकालिकक्रियापदप्रयोगेणाश्चर्यपरिपोषरुचिरं विस्मयसंरक्षणसुभगमारब्धाधिक्षेपलक्षणं प्रारब्धनिन्दारूपं, वाक्यौचित्यं कृतं विहितम्।

इस पद्य में क्रोधरूप विष के आविष्कारसे मुमूर्षु शिशुपाल के द्वारा 'जो गोपपुत्र दूध-दही का विख्यात चोर और गोबर-करसी काढ़नेवाला था, आज उसी की जगन्नाथ आदि पदों के द्वारा की जा रही स्तुति से लोगों के कान भर गये हैं, समय-परिवर्तन का इससे अधिक आश्चर्यजनक स्थल और क्या हो सकता है?" इस तरह की उक्ति में "अभूत = था" ऐसा जो भूतकालिक प्रयोग किया गया है उससे की जा रही निन्दा के अनुरूप वाक्यौचित्य आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर जाता है।

यथा वा मालवकुवलयस्य—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमैरलसा द्रुमा,
मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुलन्ति मरीचयो,
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम्॥

कालौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमाह—**यथा वा माल-वेति।** शिशिरवसन्तयोः सन्धेर्वर्णनेयम्—**च्युतेति।** कुन्दाः शिशिर-विकासिपुष्पवृक्षविशेषाश्च्युतसुमनसः पतितकुसुमाः द्रुमाः किंशुकादिवृक्षाः, पुष्पोद्गमैः कुसुमकलिकोत्पत्तिभिरलसाः परिपूर्णा इति भावः, इमे पुरोवर्तिनः, कोलिकाः पिकाश्च, मनसि चित्ते, गिरं कूजनं, गृह्णन्त्याददते, परन्तु न किरन्ति बहिर्न निःसारयन्ति, अथानन्तरञ्च सवितुः सूर्यस्य, मरीचयो रश्मयः, शीतोल्लासं शीताधिक्यमिति भावः, लुनन्ति निवार-यन्ति, (किन्तु) क्लमादयदायिनीं खेदोत्पत्तिकारिकां, जरठतां कठोरतां, न चालम्बन्ते न आश्रयन्ति।

कालकृत औचित्य का दूसरा उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा वेति। च्युतेति—यह शिशिर और वसन्त की संधि का वर्णन है। कुन्द के वृक्ष फूलरहित हो गये हैं और पलाश आदि वृक्षों में कलियाँ निकल आयी हैं। कोयलें मन में स्वरों का संधान कर रही हैं परन्तु अभी कूकती नहीं, सूर्य की किरणें शीत की प्रबलता का तो विनाश कर रही हैं--परन्तु श्रान्त कर देनेवाली कठो-रता का आश्रयण नहीं कर रही हैं।

अत्र शिशुतरवसन्तकान्तोपवननवरसोल्लाससूच्यमानमनसिजोत्कण्ठा-वर्णनायामृतुसन्धिसमुचिताः कुन्दाः कुसमावसानशून्यतनवः, किंशुका-शोकाः कलिकोद्गमभरालसाः, मनसि कोकिलाः कलकूजितान्यनुसन्दधति, रवेर्मरीचयः शीतोल्लासमथ च निवारयन्ति न च सन्तापदायिनीं प्रौढता-मालम्बन्ते इत्युक्ते वर्तमानकालपदेष्वेव हृदयसंवादसुन्दरमौचित्यं किमप्यामोदते।

अत्रास्मिन्पद्ये, शिशुतरेण सद्यःसमागतेन, वसन्तेन मधुना, कान्तं कमनीयं, यदुपवनं, तस्य यो नवो नूतनः, रसोल्लासस्तेन सूच्यमाना-ऽभिव्यज्यमाना, या, मनसिजस्य कामस्योत्कण्ठा, तस्या वर्णनायामृतुसन्धेः शिशिरवसन्तयोः सन्धेः, समुचिताः अनुरूपाः, कुन्दाः पुष्पसमाप्तिरिक्त-शाखाः, किंशुकाशोकाः अङ्कुरोद्गमभरावनताः, कोकिलाः मनसि स्वा-व्यक्तमधुररवाननुसन्दधति, अथ च सूर्यस्य रश्मयः शीताधिक्यं निवार-यन्ति, न च सन्तापदायिकां प्रखरतामालम्बन्ते—इत्युक्ते वर्तमानकाल-पदेष्वेव तत्तत्स्थानप्रयुक्तवर्तमानकालिकक्रियापदेष्वेव, हृदयसंवादसुन्दरं हार्दिकभावनानुरूपकमनीयं, किमप्यपूर्वमौचित्यमामोदते प्रस्फुटति।

उक्त पद्य में सद्यः समागत वसंत से कमनीय उपवन की सरसता के द्वारा सूचित की जा रही कामवासना के वर्णनक्रम में ऋतुसंधि के अनुरूप "कुन्दवृक्ष फूल झड़ जाने से शून्य हो रहे हैं, पलाश आदि के वृक्ष नवनवोदित कुसुम-कलिका के भार से अवनत हो रहे हैं, कोयलें मन ही मन अपने स्वरों का सन्धान कर रही हैं, सूर्य की किरणें शीत की अधिकता का तो विनाश कर रही हैं, परन्तु कष्ट देनेवाली तीक्ष्णता को नहीं धारण कर रही हैं"। इस युक्ति में सब जगह वर्तमान काल का जो प्रयोग किया गया है उससे हृदय की मधुर भावना के अनुरूप एक अपूर्व ही औचित्य की सृष्टि हो रही है।

यथा वा भट्टभल्लटस्य—

मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं मूर्च्छद्विषाश्चेषवः,
शिक्षा सा विजितार्जुना प्रतिलय सर्वाङ्गलग्ना गतिः।
अन्तः क्रौर्यमहो शठस्य मधुनो हा हारि गीतं मुखे,
व्याधस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम्॥

कालौचित्यस्य तृतीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमाह—यथा वा भट्टेति। मृत्योरिति। मृत्योर्यमस्यास्यं मुखमिवायतं दीर्घमिदमेतद्धनुश्चापः, मूर्च्छत्प्रसरद्विषं येषु तथाभूता इषवो बाणाः, विजितो निर्जितोऽर्जुनो यया तादृशो शिक्षाऽभ्यासो लक्ष्यभेदकरणेऽर्जुनादत्यधिकपटुरिति भावः, प्रतिलयं लयं लयं प्रति प्रतिविनाशमित्यर्थः, सर्वाङ्गलग्ना सकलावयवसहकृता, गतिः, शठस्य विवेकशून्यमनसोऽस्य व्याधस्य लुब्धकस्य, अहो इति खेदेन, अन्तरभ्यन्तरे हृदय इति भावः, क्रौर्यं क्रूरता, मुखे आनने हा कष्टं, मधुनः क्षौद्रस्य, हारि विजित्वरं, गीतं गानं, तथास्ति यथा वनं काननं, निर्मृगं हरिणरहितं, भविष्यतीति मन्ये।

कालौचित्य का तृतीय उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—यथा वा भट्टेति। मृत्योरिति—करुणाकृपण इस व्याध के मृत्यु के मुख के समान विस्तृत धनुष, विष में बुझाये हुए बाण, लक्ष्य-भेद में निपुण अभ्यास, विनाश की ओर ले जाने वाली अप्रतिहत गति, हृदय में क्रूरता और मुख में मधु से भी मीठे गान—ये सब ऐसे हैं जिनसे मानो शीघ्र ही वन निर्मृग हो जायगा।

अत्र लुब्धकस्य धनुःसायकशिक्षातिगक्रौर्यगीतानि तथा यथा वनं निर्मृगं भविष्यतीति भविष्यत्कालः प्रकृतार्थपरिपोषेण हृदयसंवादौचित्यमादधाति।

अत्र पद्यं, लुब्धकस्य व्याधस्य, धनुःसायकशिक्षागतिक्रौर्यगीतानि चापबाणाभ्यासगतिक्रूरतागानानि, तथा (सन्ति) यथा वनं मृगरहितं भविष्यतीत्येवंविधोक्तो भविष्यत्कालो भविष्यतीति भविष्यत्कालिकक्रिया-पदप्रयोगः, प्रकृतार्थपरिपोषेण वर्णनीयाभीष्टार्थपोषणेन, हृदयसंवादौचित्यं हृदयसम्मतौचित्यमादधाति धारयति ।

इस पद्य में "व्याध के धनुष, बाण, अभ्यास, गति, क्रूरता और गान ऐसे हैं जिनसे जंगल मृगरहित हो जायगा" इस उक्ति में भविष्यत् काल का जो प्रयोग किया है उससे वर्णनीय अर्थ की पूर्णतः पुष्टि होने के कारण हृदयानुमोदित औचित्य का आभास अनायास हो जाता है ।

न तु यथा वराहमिहिरस्य—

क्षीणश्चन्द्रो विशति तरणेर्मण्डलं मासि मासि
लब्ध्वा काञ्चित्पुनरपि कलां दूरदूरानुवर्ती ।
सम्पूर्णश्चेत्कथमपि तदा स्पर्द्धयोदेति भानो-
र्नो दौर्जन्याद्विरमति जडो नापि दैन्याद्व्यरंसीत् ॥

कालकृतानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—न तु यथा वरामिहिरस्येति । क्षीण इति । क्षीणो दुर्बलः कलाभिर्विहीन इत्यर्थः, चन्द्र इन्दुर्मासि मासि प्रति-मासममावास्यायां सूर्यचन्द्रमसोरेककक्षास्थितिमत्त्वं प्रसिद्धमेवेति भावः, तरणेः सूर्यस्य, मण्डलं विशति प्रविशति, (ततः) काञ्चित्कियती, कलां, लब्ध्वा प्राप्य, पुनरपि भूयोऽपि, दूरदूरानुवर्ती सुदूरगामी भवतीति शेषः, कथमपि महता प्रयत्नेनापि, परिपूर्णः पूर्णमण्डलश्चेत्तदा भानोः सूर्यस्य, स्पर्द्धया साम्यवाञ्छयोदेत्युदयं गच्छति । पूर्णिमायां चन्द्रः सूर्यात्ससम-कक्षायां तिष्ठति तस्याश्च कक्षायाः समानान्तरत्वेन तयोः (सूर्यचन्द्रयोः) प्रतिस्पर्द्धेव प्रतिभातीति तात्पर्यम् । तत्र हेतुमाह—नो दौर्जन्यादिति । जडः परासादितशक्तिर्दौर्जन्यात्स्वदुर्जनतायाः, नो नहि, विरमति विराम-मेति, नापि न च, दैन्याद्दारिद्र्याद्याचनातः इत्यर्थः, व्यरंसीत् विश्रान्तो-ऽभूत् ।

कालकृत अनौचित्य का उदाहरण दिखाया जा रहा है—न तु यथेति । क्षीण इति—चन्द्रमा कलाओं से विहीन होकर प्रतिमास (अमावस्या को) सूर्यमण्डल में प्रवेश करता है और वहाँ से कुछ कलाओं को लेकर दूर से दूर निकलता चला जाता है, यदि किसी तरह (पूर्णिमा को) पूर्ण भी होता है तो सूर्य की

प्रतिस्पर्द्धा में ही (अर्थात् आमने-सामने ही) उगता है. इससे सिद्ध होता है कि जड़ (दूसरे कि शक्ति को लेकर चमकने वाला) न तो अपनी दुर्जनता से बाज आता है और याचना से ही विरत हुआ।

अत्र रवेर्मण्डलं क्षीणः शशी प्रतिमासं प्रविशति ततः काञ्चिदाप्यायिकां कलां प्राप्य दूरे दूरे भवति, परिपूर्णश्च तस्यैव स्पर्द्धयाऽभ्युदेति, दौर्जन्यान्न विरमति न च दैन्याद्व्यरंसीदित्येतद् "विरमति व्यरंसीत्" इति परस्परासङ्गतं कालपदद्वयं चन्द्रस्य सदृशयोर्दौर्जन्यदैन्ययोः सर्वकालमभिनिर्वृतयोर्यदुपन्यस्तं तत्र व्यरंसीदिति विरुद्धार्थत्वादनुचितमेव ॥ २६ ॥

अत्रास्मिन्पद्ये "कलाहीनश्चन्द्रः प्रतिमासं सौरमण्डलं प्रविशति, ततः सौरमण्डलात्कियतीमाह्लादिकां कलामासाद्य क्रमशो दूराद् दूरं व्रजति, कलाभिः परिपूर्णश्च तस्यैव सूर्यस्य प्रतिस्पर्द्धया समानान्तरमुदेति, दौर्जन्यान्न विराममेति न च दारिद्र्याद्व्यरंसीद् विराममगच्छ"दित्युक्तो चन्द्रस्य, सदृशयोः समानयोः, सर्वकालमभिनिर्वृतयोः सर्वदासम्पन्नयोदौर्जन्यदैन्ययोः सतोरिति भावः, एतद् "विरमति व्यरंसीत्" इति परस्परासङ्गतमन्योन्यायुक्तं कालपदद्वयं वर्तमान-भूत-कालबोधकपदयुगलं यदुपन्यस्तं यत्प्रतिपादितं तत्र विरुद्धार्थकत्वात्कालभेदेन विपरीतार्थकत्वाद्व्यरंसीदित्यनुचितमेवासमीचीनमेव ॥ २६ ॥

इस पद्य में "क्षीण चन्द्रमा प्रतिमास सौरमंडल में प्रवेश करता है और वहां से कुछ पूरक कलायें प्राप्त कर दूर निकलता चला जाता है, परिपूर्ण होकर उसी (सूर्य) को प्रतियोगिता में उगता है, न तो अपनी दुर्जनता ही छोड़ता है और न दीनता से ही विरत हुआ" इस कथन में "विरमति और व्यरंसीत्" इन परस्परविरुद्धकालबोधक पद-द्वय का प्रयोग चन्द्रमा के उस गुणद्वय (दुर्जनता और दीनता) के लिये किया गया है जो कि उसका सार्वकालिक गुण है। ऐसी स्थिति में व्यरंसीत् की जगह विरमति की तरह वर्तमानकालिक प्रयोग ही रहता तो उचित होता, ऐसा करके एक भूतकाल का जो प्रयोग कर दिया गया है वह अत्यन्त अनुचित है ॥ २६ ॥

देशौचित्य दर्शयितुमाह—

देशौचित्येन काव्यार्थः ससंवादेन शोभते।
परं परिचयाशंसी व्यवहारः सतामिव ॥ २७ ॥

देशविषयौचित्येन हृदयसंवादिना काव्यार्थः सतां व्यवहार इव परिचयसूचकः शोभते।

कालौचित्य विचार्य सम्प्रति क्रमोपगतं पञ्चदशतमं देशौचित्यं विवेचयितुमाह--देशौचित्येनेति। ससंवादेन हृदयसंवादिना, देशौचित्येन स्थानविशेषानुरूपवर्णनेनेत्यर्थः। काव्यार्थः सज्जनानां परिचयाशंसी परिचयसूचकः व्यवहार इव परमुत्कृष्टं यथा स्यात्तथा शोभते।

कारिकार्थमेव विवृणोति--देशेति। हृदयसंवादिना हार्दिकभावनानुरूपेण, देशविषयौचित्येन स्थानविशेषौचित्येन, काव्यार्थः, परिचयसूचकः पूर्वपरिचयान्वाख्यापकः, सतां सत्पुरुषाणां व्यवहार इव शोभते।

कालौचित्य का विचार समाप्त कर अब क्रमोपगत पंद्रहवें देशौचित्य की विवेचना करने के लिये कहा गया है--देशौचित्येनेति। हार्दिक भावना के अनुरूप देशौचित्य की महिमा से काव्यार्थ सज्जनों के परिचय-व्यवहार की तरह अत्यन्त सुशोभित होता है।

इसी अर्थ को विस्तृत करने के लिये कहा गया है--देशविषयेति। हृदयसंवादी देशविशेष के औचित्य से काव्यार्थ पूर्वपरिचयसूचक सज्जनों के व्यवहार के समान सुशोभित होता है।

यथा भट्टभवभूतेः--

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥

देशौचित्यमुदाहर्तुमाह--यथा भट्टभवभूतेरिति। शम्बूकवधप्रसङ्गेन पुनर्दण्डकारण्यं प्रविष्टवतो रामचन्द्रस्योक्तिरियम्--पुरा यत्रेति। पुरा वनवासकाले, यत्र यस्मिन्स्थाने सरितां नदीनां, स्रोतः प्रवाहः आसीदिति शेषः, अधुना सम्प्रति, तत्र स्थाने, पुलिनं जलादुत्थितं बालुकामयं तटं, सम्पन्नमिति शेषः, (तथा) क्षितिरुहां वृक्षाणां घनविरलभावः अधिकह्रासादिर्विपर्यासं वैपरीत्यं, यातः प्राप्तः, पूर्वं यत्र वृक्षा घना आसन् तत्रेदानीं विरलाः संयाताः, यत्र च विरला आसन् तत्राद्य घना अभूवन्निति भावः, (अत एव) बहोः कालात्प्रचुरसमयात् परिमिति शेषः, दृष्टमवलोकितमिदमेतद्वनमरण्यमपरं तद्भिन्नमिव मन्येऽनुभवामि। तत्प्रत्यभिज्ञाने

हेतुं दर्शयति—निवेशः शैलानामिति । शैलानां पर्वतानां, निवेशः यथा-पूर्वमवस्थानं, तदेवेदं वनमिति बुद्धिं मतिं, दृढयति ।

देशौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा भट्टभवभूते-रिति । शम्बूकवध के प्रसंग में पुनः दण्डकारण्य गये हुए रामचन्द्र की उक्ति है—पुरेति । पहले जहाँ नदियों का प्रवाह था आज वहाँ तट उग आये हैं तथा वृक्षों के घन-विरल भाव में परिवर्तन आ गया है अर्थात् जहाँ पहले छिटपुट पेड़ थे आज वहाँ सघन हो गये हैं और जहाँ सघन थे आज वहाँ छिटपुट हो गये हैं । ऐसा ज्ञात हो रहा है कि जैसे यह दूसरा ही वन हो, परन्तु पर्वतों की यथापूर्व स्थिति से ऐसा विश्वास बद्धमूल हो रहा है कि यह वही वन है ।

अत्र बहुभिर्वर्षैरतिक्रान्तैः शम्बूकवधप्रसङ्गेन दण्डकारण्यं रामः पूर्व-परिचितं पुनः प्रविष्टः समन्तादवलोक्यैवं ब्रूते—"पुरा यत्र नदीनां प्रवा-हस्तत्रेदानीं तटम् वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्ययश्चिराद् दृष्टं वनमिदम-पूर्वमिव मन्ये, पर्वतसन्निवेशस्तु तदेवैतदिति बुद्धिं स्थिरीकरोति" इत्युक्ते चिरकालविपर्ययपरिवृत्तसंस्थानकाननवर्णनया हृदयसंवादी देशस्वभावः परमौचित्यमुद्द्योतयति ।

अत्रास्मिन् पद्ये, बहुभिः कियद्भिर्वर्षैरतिक्रान्तैर्व्यतीतैः, शम्बूकवध-प्रसङ्गेन शम्बूकनाम्नः शूद्रर्षेर्हननक्रमेण, रामः, पूर्वपरिचितं सीतया सह वनवासकाले परिज्ञातं, दण्डकारण्यं दण्डकनामकं वनं, पुनर्भूयः, प्रविष्टः समुपेतः, समन्तात्परितोऽवलोक्य दृष्ट्वैवं ब्रूते कथयति—"पुरा वनवास-काले, यत्र नदीनां प्रवाह आसीत्तत्राद्य तटं वर्तते, वृक्षाणां घनविरलत्वे परिवर्तनं संवृत्तमस्ति, बहुकालानन्तरं दृष्टमिदं वनमदृष्टपूर्वमिव लगति, परन्तु पर्वतानां यथापूर्वस्थितिस्तदेवेदं वनमिति बुद्धिं स्थिरीकरोति" इत्युक्ते चिरकालस्य बहुसमयस्य, विपर्ययेण विपर्यासेन, परिवृत्तं परि-वर्तितं, संस्थानं संघटनं यस्यैवंभूतस्य काननस्य वनस्य वर्णनया वर्णनेन, हृदयसंवादी हृदयसंमतः, देशस्वभावः स्थानविशेषप्रकृतिः, परमौचित्य-मुद्द्योतयति ।

इस पद्य में कई (बारह) वर्ष बीत जाने पर शम्बूक नामक शूद्रमुनि के वध के क्रम में श्री रामचन्द्र पूर्वपरिचित दण्डकारण्य में पुनः प्रविष्ट होकर वहाँ की परिवर्तित स्थिति को देखते हुए कह रहे हैं—"पहले जहाँ नदियों की धारायें

थीं आज वहाँ तट बन गये हैं, जहाँ दो-चार वृक्ष थे वहाँ आज बहुत से वृक्ष उग आये हैं और जहाँ बहुत थे वहाँ थोड़े से बच रहे हैं, इस तरह यहाँ की स्थिति ही बदल गयी है। ज्ञात होता है कि जैसे यह वन ही दूसरा हो, केवल पर्वत आज भी अपने स्थान पर उसी तरह हैं जिससे यह वही वन है, ऐसी धारणा दृढ़ होती है—इस उक्ति के द्वारा चिरकालिक विपर्यय के कारण बदली हुई स्थिति वाले वन के वर्णन से स्थान-विशेष के स्वभाव का बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत हो जाता है, जिससे देशौचित्य की महिमा बढ़ जाती है।

न तु यथा राजशेखरस्य—

कर्णाटीदशनाङ्कितः सितमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः,
प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः,
सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति॥

देशानौचित्यमुद्घाटयितुमाह—न तु यथा राजशेखरस्येति। कर्णाट्यास्तद्देशस्थाया नायिकाया दशनेन दन्तेन तत्क्षतेनेति भावः, अङ्कितश्चिह्नितः, सिताया गौरवर्णायाः महाराष्ट्र्या महाराष्ट्रवनितायाः, कटाक्षेण दृग्भङ्ग्याऽऽहतः, प्रौढायाः परिपूर्णयौवनायाः, आन्ध्र्या आन्ध्रदेशस्त्रियाः, स्तनाभ्यां कुचाभ्यां पीडितः, आन्ध्र्याः पयोधरयोरुत्तुङ्गत्वं जगत्प्रसिद्धमेव, तेन तत्सम्पर्किणः पीडनं सुयुक्तमिति भावः, प्रणयिन्याः प्रेयस्याः, भ्रूभङ्गेन कटाक्षनिक्षेपणेन, वित्रासितः, लाट्या लाटदेशस्थिताया अङ्गनायाः, बाहुभ्यां भुजाभ्यां, विवेष्टित आलिङ्गित इति भावः, मलयस्त्रिया मलयकामिन्यास्तर्जन्याऽङ्गुलिविशेषेण, तर्जितस्त्रासितश्चाभूदिति शेषः, सोऽयं स एवायं, राजशेखरकविस्तन्नामककविविशेषः, सम्प्रतीदानीं जरावस्थायामिति यावत्, वाराणसी काशीं, वाञ्छति स्पृहयति गन्तुमिच्छतीति भावः।

देशानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है—न तु यथेति। कर्णाटीति—जो पहले कर्णाटक देश की वनिताओं के दन्तक्षतों से चिह्नित हुआ, फिर महाराष्ट्र की गोरी ललनाओं के कटाक्षनिक्षेप का शिकार हुआ, बाद में आन्ध्र की प्रौढ़ सुन्दरियों के स्तनों के भार से दब सा गया, फिर प्रेयसी की कुटिल भ्रुकुटी से भयभीत हुआ, बाद में लाट देश की कामिनियों के बाहुपाश में आबद्ध हुआ और मलयनितम्बिनी की तर्जनी से तर्जित भी हुआ, वही कवि-शिरोमणि राजशेखर आज काशी जाने की स्पृहा कर रहा है।

अत्र कर्णाटमहाराष्ट्रान्ध्रलाटमलयललनासम्भोगसुभगः कालेन गलितरागमोहः सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं गन्तुमिच्छतीत्युक्ते श्रृङ्गाररसतरङ्गितवराङ्गनाप्रसङ्गेऽनङ्गनिरर्गलदक्षिणापथदेशोद्देशमध्ये प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासित इति देशोपलक्षणविरहितकेवलप्रणयिनीपदेन देशौचित्यमुपचितमप्यनुचिततां नीतम् ॥ २७ ॥

अत्रोक्तपद्ये "कर्णाटकादिदेशाङ्गनारमणः कालक्रमेण विगतस्पृह इदानीं राजशेखरकविर्वाराणसीं गन्तुमिच्छतीत्युक्ते" श्रृङ्गाररसेन तरङ्गित आप्यायितो यो वराङ्गनाप्रसङ्गश्चारुनितम्बिनीसहवासस्तस्मिन्, अनङ्गनिरर्गलदक्षिणापथदेशोद्देशमध्ये निर्बाधकामक्रीडास्पदतया प्रसिद्धे दक्षिणापथे वक्तव्ये, "प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः" इत्याकारकेण देशोपलक्षणविरहितकेवलप्रणयिनीपदेन स्थानविशेषसूचनाहीनकेवलप्रणयिनीपदप्रयोगेण, उपचितमुच्छ्रितमपि, देशौचित्यमनुचिततामनौचित्यं नीतं प्राप्तम् ॥ २७ ॥

इस पद्य में पहले "कर्णाटकादि देशों की श्रेष्ठ सुन्दरियों के रमण में लीन पीछे वृद्धावस्था के कारण राग-मोहादि से मुक्त होकर अभी राजशेखर कवि काशी जाने की इच्छा कर रहा है" इस तरह के कथन में श्रृंगार रस से आप्लावित वरनारी-संभोग के प्रसंग में निर्बाध काम के लिए प्रसिद्ध दक्षिणापथ की चर्चा के बीच "प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः" इस तरह के देश विशेष की चर्चा से रहित केवल "प्रणयिनी" पद से वह देशौचित्य अनौचित्य के रूप में परिणत हो गया जो पहले समृद्ध था। तात्पर्य यह है कि उन उन देशों की स्त्रियों के प्रसंग में आन्ध्र देश की नारी की चर्चा के बाद कवि को दक्षिण-देशीय कामिनी की चर्चा भी अवश्य करनी चाहिए थी परन्तु वैसा नहीं करके केवल प्रणयिनी मात्र कह देने से पूर्वदेशौचित्य समाप्त हो गया। इसलिए इस देशानौचित्य से यह पद्य विरस सा हो गया है ॥ २७ ॥

कुलौचित्यं दर्शयितुमाह—

कुलोपचितमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम् ।
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम् ॥ २८ ॥

पुरुषस्येव काव्यस्य कुलोन्नतमौचित्यं सविशेषोत्कर्षजनकं प्रायेण बाहुल्येन सहृदयानामभिमतम् ।

देशौचित्यमालोच्य सम्प्रति क्रमानुसारं षोडशतमं कुलौचित्यं विवेचयितुमाह—कुलोपचितेति। पुरुषस्येव काव्यस्य, विशेषोत्कर्षकारणं विशेषेण महत्ताया निदानं, कुलोपचितं सद्वंशसमृद्धमौचित्यं, सचेतसां सहृदयानां, प्रायः प्रियमभिमतं भवतीति शेषः।

कारिकार्थमेव विशदयति—पुरुषस्येवेति। पुरुषस्य मानवस्य, सविशेषोत्कर्षजनकं सातिशयमहत्त्वकारकं, कुलोन्नतं वंशगतगरिमगरिष्ठमौचित्यं, यथा प्रियं भवति, तथैव काव्यस्यापि कुलौचित्यं, प्रायेण, सज्जनानामधिकतरमानन्ददायकं भवति।

देशौचित्य का प्रदर्शन करके अभी क्रमानुसार सोलहवें कुलौचित्य का विचार करने के लिए कहा गया है—कुलोपचितमिति। पुरुष की तरह काव्य का भी वैशिष्ट्य-विशेष के जनक, कुलमूलक उपचित औचित्य प्रायः सज्जनों को विशेष प्रिय होता है।

इसी अभिप्राय को विशेषतः व्यक्त करने के लिये कहा गया है—पुरुषस्येवेति। जैसे सद्वंश का सम्बन्ध मनुष्यों की बहुत बड़ी उत्कृष्टता का कारण और लोकप्रिय होता है, उसी तरह कुलमूलक औचित्य अर्थात् महाकुलानुरूप वर्णन काव्य की उत्कृष्टता का कारण और सहृदयहृदयाभिमत होता है।

यथा कालिदासस्य—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥

कुलौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा कालिदासस्येति। अथेति। अथानन्तरं, स राजा, विषयेभ्यः स्रक्चन्दनवनितादिभ्यो व्यावृत्तो निवृत्त आत्मा यस्यैवंभूतः सन् वृद्धो भूत्वेत्यर्थः, यूने युवावस्थापन्नाय, सूनवे पुत्राय, नृपतिककुदं राजचिह्नस्वरूपं, सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं, दत्त्वा समर्प्य, तया देव्या, राजमहिष्या सह, मुनिवनतरुच्छायां मुनिजनसेवितकाननवृक्षच्छत्रं, शिश्रिये आश्रितवान्। हि यतः, गलितवयसां वृद्धानामिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुकुलसंभूतानां राज्ञामिदं वृद्धावस्थायां पुत्राय राज्यं समर्प्य वानप्रस्थाश्रयणं, कुलव्रतं कौलिकनियमोऽस्तीति शेषः।

कुलौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है। यथा—कालिदास

स्येति। अथेति--इसके बाद वह राजा वृद्धावस्था में सभी विषयवासनादिक से चित्त हटाकर राजचिह्न छत्र-चामरादि यथाविधि अपने युवापुत्र को समर्पित करके स्वयं अपनी राजमहिषी के साथ मुनियों के समान वानप्रस्थ लेकर जंगल चले गये, क्योंकि इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न होने वाले राजाओं का वृद्धावस्था में ऐसा ही करने का नियम है।

अत्र "अथ स राजा वृद्धस्तरुणाय सूनवे राज्यं प्रतिपाद्य तया देव्या सह तपोवनं भेजे, विरक्तचेतसामिक्ष्वाकूणामन्ते हि कुलव्रतमिदमेव" इत्युक्ते भूतवर्तमानभाविनां तद्वंश्यानामौचित्यमुन्मीलितम्।

अत्रोक्तपद्ये "अनन्तरं स राजा वृद्धावस्थायां, युवकाय पुत्राय, राज्यं दत्वा, तया राजमहिष्या सह, तपोवनं गतवान्, यतो हि वैराग्ययुक्तचित्तानामिक्ष्वाकूणामन्ते एतावदेव कुलव्रतमस्ति" इति वक्तव्ये भूतवर्तमानभाविनां विगतसाम्प्रतिकभविष्यतां, तद्वंश्यानामिक्ष्वाकुकुलसंभूतानामौचित्यमानुरूप्यमुन्मीलितमुद्योतितम्।

इस पद्य में "इसके बाद वह राजा बूढ़ा हो जाने पर अपने युवा पुत्र को राज्य देकर स्वयं अपनी पत्नी के साथ जंगल चले गये, क्योंकि इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न राजाओं का अन्त में ऐसा ही कौलिक नियम है" इस कथन में भूत, वर्तमान और भविष्य में जन्म लेने वाले इक्ष्वाकुओं का औचित्य अत्यन्त समृद्ध हो जाता है।

न तु यथा यशोवर्मदेवस्य—

उत्पत्तिर्भण्डकुले यदभीष्टं तत्पदं समाक्रान्तम्।
भोगास्तथापि दैवात्सकृदपि भोक्तुं न लभ्यन्ते॥

कुलानौचित्यं दर्शयितुमाह—न तु यथा यशोवर्मेति। उत्पत्तिरिति। भण्डकुले "भांड" इति प्रसिद्धे वंशे, (मम) उत्पत्तिर्जन्म, अभूदिति शेषः, (अथापि) यत् (पदम्) अभीष्टमभिमतं, तत्पदं स्थानं समाक्रान्तं लब्धं, तथापि सर्वविधभोगसामग्रीसमुपस्थितावपि, दैवाद्विधिवशाद् भोगा भोज्यपदार्थाः, सकृदपि मनागपि, भोक्तुं, न लभ्यन्त आसाद्यन्ते।

कुलानौचित्य का उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है--न तु यथेति। उत्पत्तिरिति--भाँड के कुल में मेरा जन्म हुआ फिर भी जो अभीष्ट था उस पद की प्राप्ति मुझे हुई, परन्तु विधिविडम्बनावश कुछ भी सुख भोग करने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ।

अत्र ममोत्पत्तिर्भण्डकुले समीहितपदाक्रमणं च निष्पन्नं तथापि दैवार्पितप्रियावियोगाद्भोगा भोक्तुं न लब्धा इत्यभिहिते स्वसंवेद्यमेव भण्डकुलमन्यत्राप्रसिद्धं स्वयमेव निर्दिश्यमानमुत्कर्षविशेषणविरहितकेवल-पदोपादानेन निरर्थकतया निरौचित्यमेव। इक्ष्वाकुकुलस्य तु निर्विशेषणत्वमुपपद्यत एव, त्रिभुवनप्रसिद्धौचित्यचरित्रत्वात् ॥ २८ ॥

अत्रोक्तपद्ये "ममोत्पत्तिर्भण्डकुलेऽभूत्समीहितपदप्राप्तिरपि संयाता, तथापि दैवदुर्विपाकात्प्रेयसीवियोगेन सांसारिकभोगा भोक्तुं न प्राप्यन्त" इत्युक्तौ भण्डकुलं स्वसंवेद्यमेव स्वज्ञानविषयतापन्नमेवान्यत्र जनसमाजे-ऽप्रसिद्धमविज्ञातमेव, स्वयमेव स्वद्वारेणैव, निर्दिश्यमानं कथ्यमानं, तदुत्कर्षविशेषणविरहितकेवलपदोपादानेनोत्कर्षाधायकविशेषशून्यतया केव-लं तन्नाम्नैव कथनेन, निरर्थकतया प्रयोजनविशेषशून्यतया, निरौचित्य-मेवौचित्यरहितमेव, अर्थात् एवंभूतस्य लोकेऽप्रसिद्धस्य कुलस्याख्याने तत्रोत्कृष्टताधानाय तद्योग्यविशेषणोपाख्यानमुचितमिह तु तद्विपरीतमा-चरितमिति तत्कुलस्य महिमा नोपचीयतेऽपि तु सर्वथाऽपचीयत एवेति पूर्णतोऽत्रानौचित्यं कुलस्येति। यद्यपि एतत्पूर्वंप्रतिपादितपद्येऽपीक्ष्वाकु कुले न विशेषणं प्रदत्तमस्ति परन्तु तत्कुलस्य जगत्प्रसिद्धत्वेन स्व एवोदात्ततासिद्धिरिति बोध्यम् ॥ २८ ॥

इस पद्य में "मेरी उत्पत्ति भण्डकुल में हुई फिर भी स्वाभीष्ट पद की प्राप्ति संपन्न हुई, तथापि दैवेच्छावश प्रेयसी के वियोग के कारण कुछ भी सुख भोगने में समर्थ न हो सका" इस कथन में जिस भण्डकुल की चर्चा की गयी है उस कुल की जानकारी जनसाधारण को तो है नहीं, कहने वाला स्वयं ही जानता है, फिर भी उसने उसकी उदारता सिद्ध करने के लिये कोई ऐसा विशेषण उसमें नहीं लगाया, केवल नाममात्रतः उसका निर्देश कर दिया जो कि उचित नहीं हुआ। यद्यपि इसके पूर्व के पद्य में इक्ष्वाकुकुल के लिए भी कोई विशेषण प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु वहाँ वह पूर्णतः उचित है, क्योंकि इक्ष्वाकुकुल का औचित्यपूर्ण चरित्र तीनों लोकों में प्रसिद्ध है, यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। इसलिये कुलानौचित्य ही व्यक्त होता है ॥ २८ ॥

व्रतौचित्यं दर्शयितुमाह—

काव्यार्थः साधुवादार्हः सद्व्रतौचित्यगौरवात्।
सन्तोषनिर्भरं भक्त्या करोति जनमानसम् ॥ २९ ॥

काव्यार्थः समुचितव्रतगौरवात्साधुवादयोग्यः सन्तोषपूर्णं जनमनः करोति । भक्तिर्विच्छित्तिः ।

कुलौचित्यं प्रदर्श्य सम्प्रति सप्तदशतमं व्रतौचित्यं व्रतेऽनुगितुमाह—काव्यार्थ इति—सद्व्रतौचित्यस्य गौरवाद् गाम्भीर्यात्, साधुवादार्हः साधुवादप्रदानयोग्यः काव्यार्थो जनमानसं विज्ञजनचित्तं, भक्त्या विच्छित्तिविशेषोपलब्ध्या, सन्तोषनिर्भरं तुष्टिपूर्णं करोति विधत्ते ।

मूलार्थमेव विशदयति—काव्यार्थ इति । काव्यार्थः समुचितगौरवादनुरूपव्रताचरणमहिम्ना, साधुवादयोग्यः प्रशंसनीयः सन्, जनमनः सहृदयहृदयं, सन्तोषपूर्णं सन्तुष्टिपरिपूर्णं, करोति विदधाति । भक्तिपदार्थमाह—भक्तिर्विच्छित्तिरानन्द इति भावः ।

कुलौचित्य का प्रदर्शन करके अभी सत्रहवें व्रतौचित्य का विचार किया जा रहा है—काव्यार्थ इति । सद्व्रताचरण की गंभीरता से प्रशंसनीय काव्यार्थ विज्ञ जनों के चित्त को आनन्द से आप्लावित कर देता है ।

कारिका के अर्थ को ही विशद किया जा रहा है—अनुरूप व्रताचरण के वर्णन से काव्यार्थ प्रशंसनीय होता हुआ सहृदयों के मन को अपूर्व आह्लाद प्रदान करता है । भक्ति पद का अर्थ विच्छित्ति = आह्लाद-विशेष है ।

यथा मम मुक्तावलीकाव्ये—

अत्र वल्कलजुषः पलाशिनः पुष्परेणुभरभस्मभूषिताः ।
लोलभृङ्गवलयाक्षमालिकास्तापसा इव विभान्ति पादपाः ॥

व्रतौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम मुक्तावलीति । अत्रेति । अत्रास्मिन्वनैकदेशे, वल्कलजुषो वल्कलधारिणः पलाशिनः पत्रवन्तः, पलाशदण्डधारिणश्च पुष्पाणां कुसुमानां, रेणूनां परागाणां, भरोऽतिशय एव भस्म भसितं तेन भूषिता लिप्तसर्वाङ्गा, लोलानां चञ्चलानां, भृङ्गाणां भ्रमराणां, वलयं समूह एवाक्षमालिका जपमाला येषामेवंभूताश्च पादपास्तापसास्तपस्विन इव विभान्ति शोभन्ते । यथा तपस्विनो वल्कलजुषः पलाशदण्डधारिणो भस्मच्छुरितसर्वाङ्गा जपमालासनाथितकराश्च भवन्ति, तथैवेमे पादपा अपि त्वग्युक्ताः पत्रवन्तः पुष्परेणुविच्छुरिता भृङ्गसंघसुशोभिताश्चावलोक्यन्त इति भावः । अत्र पलं मांसमश्नन्तीति व्युत्पत्तियोगान्मांसभक्षणरूपव्रतविरुद्धार्थप्रत्यायकस्य पलाशिपदस्य प्रयोगो नोचित इति मादृशाः ।

व्रतौचित्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—यथा ममेति। अत्रेति—इस वनैकदेश में वृक्ष, वल्कल को धारण किये हुए तथा पत्तों से युक्त अन्यपक्ष में पलाशदंडधारी पुष्पपरागरूप भस्म से विभूषित तथा चञ्चल भ्रमरपंक्तिस्वरूप जपमाला-मंडित होने के कारण, तपस्वी के समान दिखाई पड़ते हैं। अर्थात् जैसे तपस्वी वल्कल, पलाश भस्म, और जपमाला से विभूषित रहते हैं उसी तरह ये वृक्ष भी उन वस्तुओं को धारण किये हुए हैं, अतः तपस्वी-से लग रहे हैं। मेरा विचार है कि इस पद्य में "पलाशिनः" पद का जो व्यवहार किया गया है वह उचित नहीं हुआ, क्योंकि "पलं = मांसम्, अश्नन्ति = खादन्ति" इस व्युत्पत्ति से "पलाशिनः" पद का "मांस भोजन करने वाले" यह अर्थ भी निकलता है जो कि व्रताचरण करने वालों के लिये पूर्णतः निषिद्ध है। फिर उस (व्रताचरण) प्रसंग में यह पद कैसे उपयुक्त कहा जा सकता है। वस्तु-तत्त्व क्या है, इसका विचार विद्वान स्वयं करेंगे।

अत्र तपोधनोचितव्रतव्यञ्जकवल्कलभस्माक्षसूत्रप्रणयिपादपवर्णनायामचेतनानामपि शमसमयविमलचित्तवृत्तिरौचित्यमुपजनयति।

अत्रोक्तपद्ये, तपस्विजनानुरूपव्रतसूचकवल्कलभस्मजपमालाप्रियवृक्षवर्णने अप्राणिनामपि वृक्षाणां शान्तिकालिकपवित्रमनोवृत्तिरौचित्यं व्रतौचित्यमिति भावः, जनयत्युत्पादयति।

इस पद्य में तपस्वियों के अनुरूप व्रत के सूचक वल्कल, भस्म और जपमाला से सुशोभित वृक्षों के वर्णन के द्वारा अचेतनों की भी जो शान्तिकालिक स्वच्छ चित्तवृत्ति का संकेत किया गया है उससे एक अपूर्व व्रतौचित्य का आभास मिलता है।

न तु यथा दीपकस्य—

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीकपाली-
मादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम्।
द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो,
मानी प्राणी सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः॥

व्रतानौचित्यमुदाहर्तुमाह-न तु यथा दीपकस्येति। पुण्ये ग्राम इति। पुण्य पवित्रे, ग्रामेऽथवा महति विशाले, वने कानने, सितपटेन स्वच्छवस्त्रेण, छन्नाऽऽच्छादिता पाली प्रान्तभागो यस्या एवंभूतां, कपालीं भिक्षापात्रविशेषमादाय गृहीत्वा, क्षुधार्तो बुभुक्षापीडितः, उदरमेव दरी गर्तं-

स्तस्याः परणाय भरणाय, न्यायगर्भैर्धर्ममयान्तःकरणैर्द्विजैर्ब्राह्मणैर्हुतस्तर्पितो यो हुतभुगग्निस्तस्य धूमेन धूम्रं कज्जलोहतमुपकण्ठं समीपदेशो यस्यैवंभूतं, द्वारं द्वारं प्रतिद्वारं (याचनाय) प्रवृत्तः, प्राणी मनुष्यो मान्यात्माभिमानशीलः, वरं श्रेष्ठः अनुदिनं प्रतिदिनं, तुल्यकुल्येषु समानकुलजन्मसु, सनाथः प्राप्तयाचितभिक्षो दीनो दरिद्रः, पुनर्न वरमिति शेषः।

व्रतानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथेति। पुण्य इति। भूख से विह्वल होकर किसी पुण्यग्राम में अथवा सघन कानन में श्वेतवस्त्र से ढके हुए भिक्षापात्र को लेकर पेट भरने के लिये ऐसे द्वारों जो कि धार्मिक ब्राह्मणों के द्वारा नियमानुसार किये गये होम के धूँयें से धूमिल हो रहे हैं पर याचना करने वाला आत्माभिमानी प्राणी—अच्छा है परन्तु अपने कुटुम्बियों से ही मांग-मांग कर सनाथ (संतुष्ट) होने वाला दरिद्र जन कथमपि अच्छा नहीं है।

अत्र वैराग्यनिरर्गलवर्णनायां भिक्षाकपालीमादाय क्षुत्क्षामः कुक्षिपूरणाय प्रवृत्तो मानी वरं द्वारं द्वारं यष्टिनिविष्टपाणिः परिभ्रान्तो, न पुनरनिशं तुल्यकुल्येषु दीन इत्युक्ते सहजप्रशमविमलमानसविश्रान्तिसन्तोषमुत्सृज्य तुल्यकुल्यद्वेषविजिगीषापरमेव वाक्यं भृशमनौचित्यमुद्भावयति। वरमेतत्तीव्रव्रतकष्टं न तु स्वजनदैन्ययाचनमिति संसारग्रन्थिबन्धाभिमानोपन्यासः ॥२९॥

अत्रोक्तपद्ये, वैराग्यस्य, निरर्गलवर्णनायां निर्बाधवर्णने, वैराग्यवर्णने कैश्चिन्नियामकैः प्रतिबन्धैर्भाव्यं, तद्रहितवैराग्यवर्णने इति यावत्। 'भिक्षापात्रं गृहीत्वा, क्षुधापीडितः, उदरपूर्तये याचने प्रवृत्तः स्वात्माभिमानी, प्रतिद्वारं, लगुडहस्तः पर्यटितो वरं, न पुनः प्रत्यहं समानवंशोद्भवेषु दीनः, इत्युक्ते, सहजप्रशमविमलमानसविश्रान्तिसन्तोषं स्वाभाविकशान्तिस्वच्छचित्तविश्रामोद्भवसन्तुष्टिमुत्सृज्य परित्यज्य, तुल्यकुल्यद्वेषविजिगीषापरं स्वजनोत्कर्षासहिष्णुतया तद्विजयेच्छाप्रतिपादकमेव वाक्यं भृशमत्यन्तमनौचित्यमुद्भावयति जनयति। एतत्तीव्रव्रतकष्टमयं कठिनव्रतजन्यक्लेशो वरं, न तु स्वजनदैन्ययाचनमित्यर्थोपन्यासः, संसारग्रन्थिबन्धाभिमानः सांसारिकभावनामूलक एवेति भावः। एवञ्च वैराग्यव्रतवर्णने पूर्वतनमनुचितमिति प्रासङ्गिकः सारांशो बोध्यः ॥ २९ ॥

इस पद्य में वैराग्य का उचित उपबन्ध से रहित वर्णन किया गया है, क्योंकि इसमें कहा गया है कि—"निदाना [illegible], भूख से व्याकुल, पेट को भरने के लिये संलग्न आत्माभिमानो जन लकड़ी टेकता हुआ द्वार-द्वार घूमता फिरे यह अच्छा है, परन्तु स्वजन के आगे रोज-रोज दीनता प्रगट करे यह अच्छा नहीं है।" इस कथन के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि स्वाभाविक शान्ति से पवित्र मानस का एक मात्र विश्रामस्थल संतोष का त्यागकर स्वजनगत द्वेषवश उसे जीतने की इच्छा से ही उक्त बात कही गयी है और "कठिन व्रत का कष्ट सहना अच्छा है, परन्तु स्वजन-याचना नहीं" इस तरह का कथन उसी का हो सकता है जिसे भवबंधन का अभिमान बना है अर्थात् सांसारिक रागद्वेष-युक्त व्यक्ति ही वैसा कह सकता है, पक्का वैरागी नहीं। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त भिक्षान्न का वर्णन पूर्णतः अनुचित है॥ २९॥

तत्त्वौचित्यं दर्शयितुमाह—

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्त्वोचिताभिमानेन यात्युपादेयतां कवेः॥ ३०॥

तत्त्वोचिताख्यानेन कवेः सूक्तं सत्यप्रत्ययस्थैर्यात्संवादि गृह्यतां याति।

व्रतौचित्यं प्रदर्श्य सम्प्रति क्रमोपगतमष्टादशतमं तत्त्वौचित्यं विवेचयितुमाह—**काव्यमिति**। तत्त्वोचिताभिधानेन यथास्थितवस्त्वनुरूपवर्णनेन, कवेः काव्यं, सत्यप्रत्ययनिश्चयादस्मात्काव्यात्सत्यस्य प्रतीतिर्भवतीत्याकारिकविश्वासाद्धृदयसंवादि हृदयसम्मतं सदुपादेयतां ग्राह्यतां याति। कारिकार्थमेव व्याख्यातुमाह—**तत्त्वोचितेति**। तत्त्वोचिताख्यानेन वस्तुतत्त्वानुरूपवर्णनेन, कवेः, सूक्तं काव्यरूपं, सत्यप्रत्ययस्थैर्यात्सत्यप्रतीतिस्थिरतया, संवादि हृदयसम्मतं सत् गृह्यतामुपादेयतां याति गच्छति।

व्रतौचित्य का प्रदर्शन करके अभी अठारहवें तत्त्वौचित्य की विवेचना करने के अभिप्राय से कहा जा रहा है—काव्यमिति। सत्यज्ञान के निर्णय से हृदयसंवादी, कवि का काव्य वस्त्वनुरूपकथन से उपादेयता को प्राप्त करता है।

कारिकार्थ की ही विवृति की जा रही है—तत्त्वेति। वस्तुतत्त्वानुरूप कथन से कवि की वाणी सत्यबोध की स्थिरता से हृदयसम्मत होकर ग्राह्य कोटि में आ जाती है।

यथा मम बौद्धावदानलतिकायाम्—

दिवि भुवि फणिलोके शैशवे यौवने वा
जरसि निधनकाले गर्भशय्याश्रये वा।
सहगमनसहिष्णोः सर्वथा देहभाजां
नहि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य ॥

तत्त्वौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम बौद्धेति। दिवीति। दिवि स्वर्गे, भुवि पृथ्व्यां, फणिलोक नागलोके पाताल इत्यर्थः, शैशवे बाल्यावस्थायां, यौवने युवावस्थायामथवा, जरसि वृद्धत्वे, निधनकाले मृत्युसमये, अथवा गर्भशय्याश्रये मातृगर्भस्थितिकाले, सर्वथा सर्वप्रकारेण, सहगमनसहिष्णोः रनुगमनक्षमस्य, देहभाजां शरीरिणां, प्राक्तनस्य पूर्वजन्मकृतस्य कर्मणो विनाशः क्षयो न भवति।

तत्त्वौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। दिवीति। स्वर्गलोक में रहे अथवा पातालमें, गर्भगत हो, बच्चा हो, बूढ़ा हो, अथवा मरणासन्न ही क्यों न हो, किसी भी स्थिति में साथ जाने की निश्चित क्षमता रखनेवाले मानवों के पूर्वोपार्जित कर्म का कभी विनाश नहीं हो सकता।

अत्र प्राक्तनस्य कर्मणस्त्रैलोक्ये शैशवयौवनवृद्धत्वावस्थासु देहिनां सहगमने समर्थत्वान्न विनाशोऽस्तीत्युक्ते निःसंशयसकलजनहृदयसंवादि-तत्त्वाख्यानमौचित्यं ख्यापयति।

अत्रोक्तपद्ये, "पूर्वोपार्जितस्य कर्मणस्त्रिलोक्यां बाल्य-तारुण्य-वार्धक्या-वस्थासु शरीरिणां सहगमने समर्थत्वान्न क्षयो भवति" इत्युक्ते निःसंशय-सकलजनहृदयसंवादित्त्वाख्यानं सन्देहरहितसम्पूर्णमानवमनोभावानुमो-दिततत्त्वाभिधानमौचित्यं ख्यापयति प्रकाशयति।

इस पद्यमें "तीनों लोकों में तथा शैशवादि सभी अवस्थाओं में प्राणियों के साथ जाने में समर्थ पूर्वोपार्जित कर्म का विनाश नहीं होता है।" इस कथन में निश्चित रूप से सकलजनमनोऽनुमोदित जिस वास्तविकता (वस्तुतत्त्व) का उद्घाटन हुआ है वह औचित्य को प्रशस्त करता है।

न तु यथा माघस्य—

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः ॥

तत्त्वानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु यथा माघस्येति। बुभुक्षितैरिति।

बुभुक्षितैर्भोजनेच्छावद्भिर्व्याकरणं पाणिनीयादिकं शब्दशास्त्रं, न भुज्यते खाद्यते, व्याकरणाध्ययनमुदराग्निप्रशमने न समर्थमिति भावः, (एवं) पिपासितैस्तृषार्तद्भिः, काव्यरसः शृङ्गारादिलक्षणः, न, पीयते, काव्यरसोऽपि जलतृष्णाशान्तये न क्षम इति भावः, (यथा) विद्यया विद्याध्ययनेनेति भावः, केनचित्केनापि, कुलं वंशः, उद्धृत, विद्याध्ययनमात्रेण वंशोद्धारो न केनापि संपादित इति भावः, (एवं प्रकारेण) कला वैदुष्यकवित्वादिका, निष्फला निष्प्रयोजना, अतः हिरण्यं सुवर्णमेवार्जय, क्षुत्पिपासादिनिवारणोपायभूतधनोपार्जनमेव विधेयं न वैदुष्योपार्जनमिति भावः ।

तत्त्वानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथा माघस्येति । बुभुक्षितैरिति । कहीं भूखे व्याकरण खाते देखे गये हैं ? अथवा प्यासों की प्यास शृंगारादि काव्यरसों से बुझ सकी है ? या कोई विद्याध्ययनमात्र से कुल की मर्यादा बढ़ा सका है ? नहीं, कभी नहीं । कालायें तो व्यर्थ की चीजें हैं, इन्हें छोड़ो, पैसे कमाने की चिन्ता करो । उन्हीं से सभी आवश्यकतायें पूरी होती हैं ।

अत्रायथार्थार्थितापरत्वेन धनमेवार्जय, क्षुधितैर्व्याकरणं न भुज्यते, न च काव्यरसः पिपासितैः पीयते, न च विद्यया कुलं केनचिदुद्धृतमित्युक्ते सर्वमेतद्दारिद्र्यदैन्यविद्रुतधैर्यकातरतया तत्त्वविरहितं विपरीतमुपन्यस्तमनौचित्यसंयुक्तमेव । विद्यानामेव सर्वसम्पत्प्रसविनीनां कुलोद्धारक्षमत्वं नान्यस्य ॥ ३० ॥

अत्रास्मिन्पद्येऽयथार्थाऽवास्तविकी याऽर्थिता धनलोलुपता, यत्परत्वेन तन्मयतया, "सम्पत्तिमेवोत्पादय, क्षुधाविह्वलैः शब्दशास्त्रं न खाद्यते, नापि तृषाकुलितचेतोभिः काव्यरसः पीयते, न च शास्त्राध्ययनेन केनापि वंश उज्ज्वलित" इत्युक्ते, एतत्सर्वं शास्त्राध्ययनादिनिषेधपूर्वकधनोपार्जनपरं वाक्यं, दारिद्र्यदैन्याभ्यां विद्रुतमुपप्लुतं यद्धैर्यं तेन कातरतयाऽधीरतया, तत्त्वविरहितं सत्यांशहीनमत एव विपरीतं विरुद्धमुपन्यस्तं प्रतिपादितम्—(अत एव) अनौचित्यसंयुक्तमेवास्तीति भावः । यतो हि, सर्वसम्पत्प्रसविनीनां सकलविभूतिजनयितॄणां, विद्यानां शास्त्राणामेव, कुलोद्धारक्षमत्वं वंशमर्यादासंवर्धनशीलत्वमस्ति नान्यस्य धनादेरिति सारांशः ॥ ३० ॥

इस पद्य में "अनुचित धनलोलुपता के कारण अर्थ का ही उपार्जन करो,

क्योंकि व्याकरण न भूख को मिटा सकता है, न काव्यरस प्यास को ही, शास्त्र पढ़ लेने मात्र से ही कहीं कोई अपने कुल का उद्धार करता हुआ भी नहीं देखा गया है" ऐसा जो कहा गया है वह दरिद्रता और दीनता के चलते अधैर्य की स्थिति में प्रगट होने के कारण सत्व से दूर और साथ ही विपरीत भी है, अतः पूर्णतः अनौचित्य से परिपूर्ण है। वस्तुतः सभी संपत्तियों की जननी विद्यायें ही कुलोद्धार की क्षमता रखती हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ३० ॥

सत्त्वौचित्यं दर्शयितुमाह—

चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वोचितं कवेः।
विचाररुचिरोदारचरितं सुमतेरिव ॥ ३१ ॥

सत्त्वोचितं कवेर्वचश्चमत्कारं करोति, सुमतेरिव विचार्यमाणं रुचिरमुदारचरितम् ।

तत्त्वौचित्यप्रतिपादनानन्तरं क्रमोपगतमेकोनविंशतितमं सत्त्वौचित्यं विवेचयितुमाह—चमत्कारमिति। सत्त्वोचितमन्तर्बलोपयुक्तं, कवेर्वचः काव्यं, सुमतेः सुधियः, विचारचरितोदारचरितं विवेकानुमोदितोदात्तचरित्रमिव, चमत्कारं विच्छित्तिविशेषं, करोति सम्पादयत्येव। कारिकार्थमेव विवृणोति—सत्त्वोचितमिति। सत्त्वमन्तर्वलं, तदुचितं तदनुरूपं कवेर्वचः काव्यं, चमत्कारं करोत्याह्लादं जनयति। विचार्यमाणे विचारे क्रियमाणे, रुचिरं मनोज्ञं, सुमतेर्विदुष उदारचरितमुदात्तचरित्रमिव।

उदाहरण-प्रत्युदाहरणादि के द्वारा तत्त्वौचित्य का प्रदर्शन करने के बाद उन्नीसवें सत्त्वौचित्य की विवेचना की जा रही है—चमत्कारमिति। किसी वस्तु के अन्तर्बल के अनुरूप कवियों की वाणी विवेकानुमोदित सुधीजनों के उदात्त चरित्र की तरह अपूर्व चमत्कृति प्रदान करती है। कारिका की ही व्याख्या करने के लिये कहा गया है–सत्त्वोचितमिति। सत्त्व के अनुरूप वर्णन से कवि की सूक्ति उसी तरह अपूर्व आनन्द प्रदान करती है जैसे विचार करने पर सुन्दर प्रतीत होने वाला सज्जनों का उदात्तचरित्र।

यथा मम चित्रभारते नाटके—

नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलापूरिततनुः,
स्फुरत्स्फीतज्वालानिविडवडवाग्निक्षतजलः।
न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति बहुसत्त्वः पतिरपा-
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम् ॥

सत्त्वौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम चित्रेति। नदीति। बहुसत्त्वः समुच्छ्रितान्तर्जलोऽगाधः पतिः समुद्रः नदीवृन्दस्य सरित्समूहस्योद्दाम उत्कटः, प्रसरः प्रसारो येषां तादृशैः सलिलैरापूरिता भरिता तनुः शरीरं यस्यैवंभूतः सन्, दर्पं गर्वं, न, स्पृशति प्राप्नोति, स्फुरन्तीभिर्देदीप्यमानाभिः, स्फोताभिरुज्ज्वलाभिर्ज्वालाभिः शिखाभिर्निबिडेन जटिलेन, वडवाग्निना, क्षतं शोषितं, जलं यस्यैवंभूतः सन्, दैन्यं दीनतां, वा, न, स्पृशत्याश्रयति। अवस्थानां परिस्थितीनां, भेदाद्विपर्ययान्महतां महाशयानां, विकृतिर्विकारः, नैव, भवति जायते

सत्त्वौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। नदीति। बड़े आदमियों के हृदय पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता, उनमें न वृद्धि से उच्छृंखलता आ पाती है न ह्रास से दीनता ही, वे किसी भी परिस्थिति में एकरूपता का त्याग नहीं करते। देखिये न, असंख्य नदियों के उद्दाम जलप्रवाह के द्वारा सर्वथा परिपूर्ण होने पर न तो समुद्र गर्व ही करता है और न वड़वानल की भयानक ज्वाला से शोषित होने पर दीनता ही प्रगट करता है। इससे सिद्ध है कि अवस्था के भेद से महाशयों में विकृति नहीं हुआ करती।

अत्र पयोधिव्यपदेशेन युधिष्ठिरस्य सत्त्वोत्कर्षेऽभिधीयमाने सरित्पूरप्रवर्धिततनुर्वडवाग्निनिष्पीतश्च नोत्सेकं न सङ्कोचमब्धिर्विपुलसत्त्वः स्पृशति, न ह्यवस्थानां भेदान्महाशयानां विकारो भवतीत्युक्ते गम्भीरधीरा सत्त्ववृत्तिरौचित्यमातनोति।

अत्र पद्ये, समुद्रव्याजेन युधिष्ठिरस्य सत्त्वाधिक्ये प्रतिपाद्यमाने, "बहुसत्त्वः समुद्रो नदीप्रवाहपरिपूर्णकलेवरो वडवानलशोषितश्च, नोच्छ्रायं, न वा दैन्यं, स्पृशति, परिस्थितिविपर्ययाद् बृहदाशयानां विकृतिर्न भवतीत्युक्ते" गम्भीरधीरा धैर्यगाम्भीर्यपरिपूर्णा, सत्त्ववृत्तिः—सात्त्विकव्यापारः, औचित्यमातनोति जनयति।

इस पद्य में "समुद्र के व्याज से महाराज युधिष्ठिर के सात्त्वाधिक्य के वर्णनक्रम में "विपुलसत्त्वशाली समुद्र नदियों के जल से परिपूर्ण –होने पर या बड़वानल के द्वारा शोषित होने पर न तो उच्छृंखल ही होता है और न दीनता ही व्यक्त करता है, परिस्थितिजन्य विकार का प्रभाव महाजनों के ऊपर नहीं पड़ता है।" इस तरह के कथन से धैर्यगाम्भीर्यशाली सात्त्विकवृत्ति का अपूर्व औचित्य उद्भासित हो रहा है।

न तु यथा भट्टेन्दुराजस्य--

> आश्चर्यं वडवानलः स भगवानाश्चर्यमम्भोनिधि-
> र्यत्कर्मातिशयं विचिन्त्य मनसः कम्पः समुत्पद्यते ।
> एकस्याशयघस्मरस्य पिबतस्तृप्तिर्न जाता जलै-
> रन्यस्यापि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जातः श्रमः ॥

सत्त्वानौचित्यमुदाहर्तुमाह--न तु यथा भट्टेन्दुराजस्येति । आश्चर्यं-मिति । वडवानलो वडवाग्निराश्चर्यं प्रथमत आश्चर्यविषय इति भावः, (द्वितीयतः) स प्रसिद्धो भगवान्महाशयो जलनिधिः समुद्रः, आश्चर्यं-माश्चर्यविषयः, यत्कर्म ययोः कार्यं, विचिन्त्य स्मृत्वापीत्यर्थः मनसश्चित्त स्यातिशयं यथा स्यात्तथा, कम्पः कम्पनं, समुत्पद्यते सञ्जायते । किं तदाश्चर्यकारणमित्युच्यते--एकस्येति । आशयघस्मरस्याश्रयविनाशकस्य पिबतः शोषयतः एकस्य वडवाग्नेरित्यर्थः, जलैरम्भोभिः तृप्तिः सन्तोषः, न, जाताऽभूत् । अद्यावधि तत्कर्मप्रवृत्त एवायमवलोक्यत इत्यतृप्तेरेव माहात्म्यमिति भावः, अन्यस्याप्यपरस्यापि समुद्रस्यापीत्यर्थः महात्मनः सज्जनस्य, वपुषि शरीरे, स्वल्पोऽपि मनागपि, श्रम आयासः न जातो नाभवत् । वडवाग्नेः शोषणेनापि न समुद्रशरीरे मनागप्यायासो दृग्गोचरी भवतीति तदुभयमाश्चर्यकारणमिति भावः ।

सत्त्वानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है-- न तु यथेति। आश्चर्यमिति । वड़वानल और समुद्र दोनों आश्चर्य के विषय हैं, इनके क्रिया-कलापों के स्मरणमात्र से हृदय में एक कंपन उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि एक तो (वड़वानल) शोषण के द्वारा अधिक से अधिक जल पी लेने पर भी तृप्त नहीं हुआ है (आज तक उस व्यवसाय में लगा ही हुआ है) और दूसरा (समुद्र) इतना ताप सहकर भी अपने शरीर पर कुछ भी क्लेश का अनुभव नहीं करता।

अत्र वडवानलसमुद्रयोः सत्त्वमहत्त्वे वक्ष्यमाणे नातिविपुलाशयत्वा-देकस्य पिबतः, पयोभिस्तृप्तिर्न जाता, द्वितीयस्य तदुपजीव्यमानस्य न मनागपि खेदः, तदेतदुभयमाश्चर्यमित्युक्ते निःसन्तोषतया सततया च कस्य न वडवाग्नेर्लज्जा न च जलनिधेराश्रितैकार्थिपूरणसामर्थ्यमित्यसत्त्वे सत्त्वस्तुतिरनौचित्यमावहति ॥ ३१ ॥

अत्रोक्तपद्ये, वडवानलसमुद्रयोः सत्त्वमाहात्म्येऽभिधास्यमाने, नाति-विपुलाशयत्वादाशयस्य जलाशयस्य समुद्रस्येति यावत्, वडवाग्नितृप्ति-

क्षमनैपुण्यविरहादिति भावः, पिबतः पानं कुर्वतः, शोषयत इति भावः, पयोधिजलैः सन्तोषो नाभूत्, अगाधसमुद्रजलपानादपि न तृप्त इति महाश्चर्यविषय इति भावः, तदुपजीव्यमानस्य तस्य वडवाग्नेर्जीवनहेतोरिति यावत्, द्वितीयस्य, (समुद्रस्य) न मनागपि स्वल्पोऽपि श्रमोऽभूत्, तस्मादिदमुभयमपि परमाश्चर्यजनकमित्युक्ते" सततया विस्तृतया, वडवाग्नेर्निःसन्तोषतयाऽतृप्तिकतया, कस्य लज्जा न जायते, अपि तु सर्वस्य लज्जा जायत एवेति भावः, न वा जलनिधेः समुद्रस्याश्रितैकार्थिपूरणसामर्थ्यं शरणागतैकमात्रयाचकजनयाचनापूर्तिक्षमतेत्यसत्त्वे द्वयोरपि सत्त्वाभावे सिद्धे सति, तयोः सत्त्वस्तुतिरनौचित्यं जनयति ॥ ३१ ॥

इस पद्य में वड़वानल और समुद्र के सत्त्वाधिक्य के वर्णन-क्रम में "समुद्र के बहुत जलाशय नहीं होने के कारण जल पीते हुए एक (वड़वानल) की तृप्ति नहीं हुई तथा दूसरे (समुद्र) को इस ताप से कुछ भी कष्ट नहीं हुआ, इसलिये ये दोनों (समुद्र और वडवानल) आश्चर्य के विषय हैं" इस तरह के कथन से विस्तृत तृष्णा के कारण वड़वानल असंतोषी के समान और एकमात्र शरणागत व्यक्ति की याचना को पूर्ण करने में असमर्थ होने के कारण समुद्र क्षुद्र जीव के समान ज्ञात होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों के सत्त्वाधिक्य की स्तुति अनौचित्य को ही व्यक्त करती है ॥ ३१ ॥

अभिप्रायौचित्यं दर्शयितुमाह—

> **अकदर्थनया सूक्तमभिप्रायसमर्थकम् ।**
> **चित्तमावर्जयत्येव सतां स्वस्थमिवार्जवम् ॥ ३२ ॥**

अक्लेशेनाभिप्रायसमर्थकं काव्यं हृदयमावर्जयति, सज्जनानां निर्मलमार्जवमिव ।

सत्त्वोचित्यविवेचनानन्तरमिदानीमवसरप्राप्तं विंशतितममभिप्रायौचित्यं परिभाषितुमाह—अकदर्थनयेति । अकदर्थनयाऽक्लेशेनाभिप्रायसमर्थकं तात्पर्यग्राहकं, सूक्तं सत्कथनं काव्यरूपमिति भावः, स्वस्थं समनुकूलमार्जवं विनय इव, सतां सज्जनानां, चित्तं चेत आवर्जयत्यनुरञ्जयत्येव ।

कारिकार्थमेव स्फारयति—अक्लेशेनेति । अक्लेशेन सरलतयाऽभिप्रायसमर्पकं तात्पर्यबोधकं काव्यं, निर्मलं विमलमार्जवं विनय इव, सज्जनानां सहृदयानां हृदयमावर्जयत्यानन्दयति ।

सत्वौचित्य की विवेचना कर चुकने के बाद अभी अवसर-प्राप्त बीसवें अभिप्रायौचित्य की मीमांसा करने अभिप्राय से कहा जा रहा है—अकदर्थन-येति। जैसे स्वस्थ = निर्मल, आजव = कोमलता, विनय, सज्जनों के चित्त को आवर्जित = आनन्दित करते हैं उसी तरह अक्लेशेन = सरलता से वक्तृतात्पर्य-बोधक-काव्य सहृदयों के मन को मुग्ध कर देता है।

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—अक्लेशेनेति। सरलता से अभि-प्रायबोधक काव्य निश्छल हृदय से किये गये विनय के सामने सज्जनों के हृदय को अपूर्व आनन्द प्रदान करता है।

यथा दीपकस्य—

श्येनाङ्घ्रिग्रहदारितोत्तरकरो ज्याङ्कप्रकोष्ठान्तर,
आताम्राधरपाणिपादनयनप्रान्त पृथूरःस्थलः।
मन्येऽयं द्विजमध्यगो नृपसुतः कोऽप्यम्ब! निःशम्बलः,
पुत्र्येवं यदि कोष्ठमेतु सुकृतैः प्राप्तो विशेषातिथिः॥

अभिप्रायौचित्यमुदाहर्तुमाह--यथा दीपकस्येति। श्येनेति। युवानं राजपुत्रमागतमवलोक्य कस्याश्चित्स्वैरविहारिण्याः तत्पुत्र्याश्चाक्तिप्रत्युक्ति-रूपेण प्रयुक्तमिदं पद्यम्। अम्ब! हे मातः! श्येनस्य तन्नामकपक्षिविशेष-स्याङ्घ्र्योश्चरणयोर्ग्रहेण ग्रहणेन, दारितः क्षतः, उत्तरकरः कराग्रभागो यस्य सः, ज्याङ्का मौर्वीगुणचिह्नं प्रकोष्ठान्तरे मणिबन्धमध्ये यस्य सः, आताम्रस्ताम्रवर्णो रक्त इति यावत्, अधरस्य, पाण्योर्हस्तयोः, पादयो-श्चरणयोर्नयनयोश्च, प्रान्तः प्रदेशो यस्य सः, पृथून्नतमुरःस्थलं हृदयं यस्य सः, द्विजमध्यगो भूसुरमध्यवर्ती निःशम्बलो निराश्रयः, कोऽपि नृपसुतो राजपुत्रोऽयं पुरोवर्तीति, मन्येऽनुमिनोम्यहमिति शेषः। एवमातिथेयितया स्वात्मानं प्रकटयन्त्याः पुत्र्या वचनमाकर्ण्य तन्मातोत्तरयति–पुत्रि! हे पुत्रि? यद्येवं यदि त्वदुक्तं सत्यं तर्हि, सुकृतैः पुण्यैः प्राप्तो लब्धो विशेषातिथिरसाधारणोऽभ्यागतः, कोष्ठं गृहाभ्यन्तरमेतु सादरं गृहमाया-त्विति भावः।

अभिप्रायोचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा दीप-कस्येति। श्येनेति। किसी सुन्दर युवक पथिक को देखकर कोई स्वैरविहारिणी अपनी माँ से कह रही है कि ऐ माँ! आश्रय की खोज में भटकता हुआ यह युवक पथिक कोई राजकुमार मालूम पड़ रहा है, क्योंकि पालित बाज (पक्षि-

विशेष) के चरणाघात से इसकी अँगुलियाँ क्षत हो गयी हैं, तथा धनुर्गुण के चिह्न पहुँचे पर स्पष्ट लक्षित हो रहे हैं, इतना ही नहीं इसके विशाल वक्षःस्थल, तथा हाथ पैर, ओठ एवं आँख की लालिमा भी इस बात की पुष्टि कर रही है। पुत्री का उसे आश्रय देने का यह अभिप्राय समझ कर उसकी माँ ने कहा कि हे बेटी! यदि ऐसी बात है तो आदरपूर्वक इसे घर ले आओ, क्योंकि विशिष्ट अतिथि की प्राप्ति बहुत बड़े शुभकर्म का फल है।

अत्र स्वैररमणी रमणीयं दिवसावसाने युवानं पथिकमालोक्याभिप्रायसूचकं जननीमेवं ब्रूते—"यदसौ राजपुत्राकृतिः श्येनग्रहनाराचपरिचयोचितः सायंसमये प्राप्तः इत्युक्ते मात्राप्यभिप्रायपूरकमभिहितम्—पुत्रि! यद्येवं तत्कोष्ठाङ्कं प्रविशतु सुकृतैर्विशेषोऽतिथिः प्राप्तः पूज्य इत्येतेन स्फुटाभिप्रायसूचकमौचित्यमुपचितमाचकास्ति।

अस्मिन्पद्ये स्वच्छन्दविहारिणी काचिद्रमणी सायंकाले मधुराकृतिं तरुणं पथिकमालोक्य स्वमातरमेवं प्रकारेण तात्पर्यव्यञ्जकं वाक्यं कथयति—"यदयं पुरो वर्तमानो राजकुमाराकारः, श्येनग्रहस्य नाराचस्य समग्रलौहनिर्मितबाणस्य च परिचयेन ज्ञानेनोचितो युक्तो दिनशेषे समुपस्थितः, पुत्र्या इति कथनानन्तरं तज्जनन्यापि रात्रिविश्रामप्रदानरूपकन्यकातात्पर्यसमर्थने कथितम्—"पुत्रि! यदि त्वदुक्तं वचः सत्यं तर्हि नूनमयं प्रकोष्ठाभ्यन्तरं प्रविशतु, यतो हि पुण्यैः प्राप्तोऽसाधारणोऽभ्यागतः पूज्य एव" एतत्कथनेन स्पष्टतात्पर्यव्यञ्जकमौचित्यमभिप्रायौचित्यमिति भावः, उपचितं समृद्धं यथा स्यात्तथा, चकास्ति विद्योतते।

इस पद्य में स्वैरविहारिणी कोई रमणी सायंकाल में सुन्दर तरुण पथिक को देखकर "इसका आतिथ्य करना चाहिए" इस अभिप्राय से अपनी माता को कह रही है कि यह पथिक राजकुमार जैसा लग रहा है, क्योंकि अँगुलियों में बाज के नखों के और पहुँचे पर धनुष की डोरी के चिह्न हैं, इस सायंकाल के समय यह प्रायः आश्रय की खोज कर रहा है। पुत्री की बात सुनकर उसके अभिप्राय के समर्थन में उसकी माता ने कहा कि बेटी! यदि एसी बात है तो शीघ्र इसे कोठरी में बैठाओ, क्योंकि ऐसा अतिथि भाग्य से ही मिलता है, इसका आदर करना ही चाहिए। इस कथन से यहाँ अभिप्रायौचित्य का बहुत ही सुन्दर चित्रण हुआ है।

न तु यथाऽस्यैव—

अयि विरहविचित्ते ! भर्तुरर्थे तथार्ता
सपदि, निपतिता त्वं पादयोश्चण्डिकायाः ।
स्वयमुपहितधूपस्थालकच्छत्रशृङ्गो-
द्दलितमपि ललाटं येन नैवाललक्षे ॥

अभिप्रायानौचित्यमुदाहर्तुमाह— न तु यथास्यैवेति । अयीति । परनायकसम्भोगजन्यनखक्षतादिगोपनं कुर्वत्या अविनयवत्या समर्थने तत्सख्या उक्तिरियम् । अयि विरहविचित्ते चिरवियोगविभ्रान्तचित्ते ! भर्तुः स्वामिनोऽर्थे, पत्ये इति भावः, आर्ता विह्वला, दूरस्थपतिकल्याणाशंसाव्यग्रेति यावत्, सपदि शीघ्रं, चण्डिकायाः भगवत्याः सर्वमङ्गलायाः, पादयोश्चरणयोस्तथा तेन प्रकारेण ससम्भ्रमेणेति यावत्, निपतिता प्राणिपातार्थमवनता, येन स्वयमात्मनोपहितं स्थापितं, यद्धूपस्थालकं धूपपात्रं, तस्य छत्रस्योर्ध्वभागस्य, शृङ्गेण कोट्योद्दलितं क्षतं, ललाटं मस्तकमपि नैवाललक्ष आलक्षितवती । कपालस्थितनखक्षतादिकं धूपस्थालजन्यमेवास्ति न तु परपुरुषसम्पर्कसम्भवमिति भावः ।

अभिप्रायानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथेति । अयीति । परनायक संभोगजन्य नखक्षत को व्याज से गोपन करती हुयी अविनयवती के प्रति उसी के समर्थन में उसकी सखी कह रही है कि—ऐ 'विरहोन्मत्ते ! तू स्वामी के लिये (विदेशस्थ प्रति के कल्याण के लिये) व्यग्र होकर शीघ्रतावश दुर्गाजी के पैर पर पछाड़ खाकर इस तरह गिरी, जिससे तुम्हें स्वयं स्थापित धूपस्थाल का भी ध्यान नहीं रहा, उसी पर गिर पड़ी और उसके अग्र भाग से तेरे ललाट आदि स्थलक्षत-विक्षत हो गये हैं । तात्पर्य यह है कि ये ललाटादिस्थित नखक्षत धूपथालीजन्य ही हैं, परपुरुष संभोगजन्य नहीं ।

अत्राविनयवत्याः सुचिरात्पत्यावागते ललाटनखोल्लेखापह्नववचने सख्या समुपदिश्यमाने हे विरहोन्मत्ते भर्तुरर्थे चण्डिकापादपतने स्वयंस्थापितधूपस्थालकोटिक्षतमपि न लक्षितं भवत्या ललाटमित्युक्तौ स्वैरापत्तवशिक्षामात्रमेवोपलक्ष्यते, न तु तस्याः सख्या वा कश्चिदभिप्रायविशेषः ॥ ३२ ॥

अस्मिन्पद्ये बहुदिनात्परं स्वामिन्युपागतेऽविनयवत्या व्यभिचारिण्या नायिकाया ललाटे कपाले यो नखोल्लेखः परपुरुषसम्पर्कजन्यनखच्छेद-

स्तस्यापह्नववचनेऽपलापवार्तायां, सख्या, समुपदिश्यमाने प्रतिपाद्यमाने, "अयि वियोगविक्षिप्तचित्ते ! स्वामिकल्याणकामनयाऽम्बिकाचरणोपनमने निजरक्षितधूपपात्राग्रभागकृतक्षतोऽपि भालदेशस्त्वया न परिज्ञातः" इत्युक्तौ स्वैरापह्नवशिक्षामात्रमेव स्वकृतकदाचारशिक्षणमात्रमेव विज्ञायते, न तु तस्यास्तत्सख्या वा कोऽपि नूतनोऽभिप्रायविशेषः परिज्ञायते इति शेषः। अतोऽत्राभिप्रायानौचित्यं स्पष्टमिति भावः ॥ ३२ ॥

इस पद्य में बहुत दिनों के बाद स्वामी के आने पर उसकी व्यभिचारिणी स्त्री के लिये ललाटादिस्थितनखक्षतगोपनयोग्य वचन का उपदेश देती हुयी उसकी सखी कह रही है कि "ऐ विरहोन्मत्ते ! पति की कल्याणभावना से आकुल होकर देवी-दुर्गा के पैर पर गिरने में तुमने स्वस्थापित धूपपात्र का भी ध्यान नहीं रखा, जिससे तुम्हारे ललाट क्षत-विक्षत हो गये हैं" इस तरह के कथन से स्वेच्छाचार को छिपाने की शिक्षा देना ही केवल अवगत होता है न कि उस स्वेच्छाचारिणी अथवा उसकी सखी का कोई विशिष्ट अभिप्राय। अतः यह पद्य अभिप्रायानौचित्य का उदाहरण होता है ॥ ३२ ॥

स्वभावौचित्यं दर्शयितुमाह—

स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीनां चारु भूषणम् ।
अकृत्रिममसामान्यं लावण्यमिव योषिताम् ॥ ३३ ॥

स्वभावोचितत्वं कविवाचामाभरणमाभाति, अकृत्रिममनन्यसामान्यं लावण्यमिव ललनानाम् ।

अभिप्रायौचित्यप्रदर्शनानन्तरं क्रमानुगतमेकविंशतितमं स्वभावौचित्यं विवेचयितुमाह—स्वभावौचित्यमिति। सूक्तीनां काव्यानां, चारु भूषणं सुन्दरमाभरणं, स्वभावौचित्यं प्रकृत्यनुरूपवर्णनम्, अकृत्रिमं स्वाभाविकम् असामान्यमनन्यसाधारणं, योषितां कामिनीनां, लावण्यं सौन्दर्यमिवाभाति सर्वतोभावेन शोभते।

कारिकामेव व्याख्यातुमाह—स्वभावोचितत्वमिति। स्वभावोचितत्वं प्रकृत्यानुरूप्यं, कविवाचां काव्यानामाभरणं भूषणं सत्, आभाति शोभते, अकृत्रिमं कृत्रिमतारहितमनन्यसामान्यमनन्यसाधारणं ललनानां सुन्दरीणां लावण्यं सौन्दर्यमिव।

अभिप्रायौचित्य के प्रदर्शन के बाद क्रमानुसार इक्कीसवें स्वभावौचित्य की विवेचना करने के लिये कहा गया है—स्वभावौचित्यमिति। काव्यों के लिये

सुन्दर आभरणस्वरूप स्वभावानुरूपवर्णन, स्त्रियों के अनन्यसाधारण अकृत्रिम सौन्दर्य की तरह अत्यधिक भूषित होता है।

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—स्वभावोचितत्वमिति। स्वभाव के अनुरूप वर्णन काव्यों का वैसा ही अलंकार है जैसा अकृत्रिम और अनन्यसामान्य लावण्य नायिका का।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्--

कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत्तोयक्षणासङ्गिना,
हारेणेव वृतस्तनी पुलकिता शीतेन सीत्कारिणी।
निर्धौताञ्जनशोणकोणनयना स्नानावसानेऽङ्गना,
प्रस्यन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य स्पृहार्द्रं मनः॥

स्वभावौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम मुनिमतेति। कर्णेति। कर्णाभ्यां श्रवणाभ्यां तन्मूलाभ्यामिति भावः, उत्तालितान्यूर्ध्वं क्षिप्तानि यानि कुन्तलान्यलकास्तेषामन्तेभ्यो निपतन्ति यानि तोयान्यम्बुकणास्तेषां क्षणं निमेषमात्रमासङ्गिना सम्पर्किणाऽत एव हारेण मौक्तिकेनेव, वृतस्तन्या-वृतकुचा हारविभ्रमकारिणा कुन्तलनिपतद्वारिव्रजसन्तानेन परिलसितेति भावः, शीतेन स्नानजन्यशीतानुभवेनेति यावत्, पुलकिता रोमाञ्चिता, सीत्कारिणी सीत्कारयुक्ता च, निर्धौतं प्रक्षालितमञ्जनं कज्जलं ययोरेवं-भूतेऽत एव शोणे रक्तवर्णे कोणे ययोस्तथाभूते नयने नेत्रे यस्याः सा, प्रस्यन्दत्कबरीभरा प्रस्रवन्मुक्तकेशकलापा, स्नानावसाने स्थिता सद्यः स्नातेति यावत्, अङ्गना ललना, कस्य पुरुषस्य, मनश्चित्तं, स्पृहार्द्रं कामना-कोमलं, न करोत्यपि तु करोत्येव।

स्वभावौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। कर्णेति। कान के पास से नीचे की ओर फेंके गये घुघराले बालों से गिरते हुए अम्बुकणों की पंक्ति से क्षणभर हार का भ्रम उत्पन्न कर देने वाले स्तनों से युक्त, शीत से रोमाञ्चित और सीत्कार करती हुयी, अञ्जन धुल जाने के कारण रक्ताभ नेत्रों वाली, तथा जलस्रावी अथ च उन्मुक्त, केशकलाप वाली, सद्यःस्नाता तरुणी किसके मन में लालसा नहीं जगा देती है।

अत्र "व्याससूनोः शुकस्य गाढवैराग्य निःसङ्गस्य, गगनगङ्गातीरे स्नातोत्तीर्णास्त्रिदशयोषितो विवसनास्तद्दर्शननिःसङ्कोचाः पश्यतः प्रशम-विमलमनसः स्मरव्यतिकरनिर्विकारतायां कर्णमूलोत्क्षिप्तालकपर्यन्तनि-

पतत्तोयकणसन्तानेन स्तनयोः कृतमुहूर्तहारविभ्रमा, शीतेन रोमाञ्च-सीत्कारिणी, धौताञ्जनारुण[illegible], [illegible]मुक्तकेशकलापा, स्नानोत्तीर्णा तरुणी कस्य स्पृहार्द्रं न मनः करोतीत्युक्ते" स्वयमार्द्रस्वभावः परमप्यार्द्रीकरोतीत्युचितमेतत् ।

अस्मिन्पद्ये, "वियद्गङ्गातीरे सद्यःस्नाता नग्नाः शुकदर्शनोत्तरमपि निर्लज्जा देवाङ्गना अवलोकयतो निर्वेदस्वच्छमनस उत्कटवैराग्यनिःस्पृहस्य व्यासपुत्रस्य शुकाचार्यस्य, स्मरव्यतिकरनिर्विकारतायां कामवासनाजन्यविकारशून्यतायां प्रतिपाद्यमानायां, श्रवणमूलोर्ध्वनिःक्षिप्तकेशपाशाग्रभागनिःस्यन्दमानाम्बुकणसमूहेन कुचयोर्विहितक्षणिकहारविलासा, स्नानकृतशैत्यानुभवेनाञ्चित्तरोमाञ्चा सीत्कारकारिणी च, प्रक्षालितकज्जलरक्ताभनेत्रप्रान्ता, वहज्जलोन्मुक्तचिकुरनिकुरा स्नानं कृत्वोपरि समायाता युवती कस्य पुंसश्चित्तं लालसार्द्रं न करोति ?" इत्युक्ते स्वयमार्द्रस्वभावः स्वयं सरसा प्रकृतिरन्यमपि सरसीकरोतीत्येतत्स्वभावानुरूपवर्णनमुचितं नितरामौचित्यपोषकम् ।

इस पद्य में स्वर्गंगा के किनारे सद्यःस्नाता, विवस्त्रा तथा शुकाचार्य को देखकर भी नहीं लजानेवाली, देवाङ्गनाओं को देखते हुए भी विकारशून्य तथा उत्कट वैराग्य से निःस्पृह व्यासपुत्र शुकाचार्य की कामवासनाजन्य विकारशून्यता के प्रतिपादन-क्रम में—कान के पास से फेंके गये घुंघराले बालों से चूते हुए जलकणों की परंपरा से स्तनों के ऊपर क्षणभर हार का भ्रम उत्पन्न कर देनेवाली, शीत से रोमाञ्चित और सीत्कार करने वाली, अंजन धुल जाने के कारण रक्ताभनेत्रप्रान्तों वाली, खुले हुए अथ च भीगे हुए केशों वाली, सद्यःस्नाता तरुणी किसके मन को स्पृहा से आर्द्र नहीं बना देती ?" ऐसा जो कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि खुद आर्द्र वस्तुस्वभाव दूसरों को भी आर्द्र बना देता है। यह एक औचित्यपूर्ण स्वभाव वर्णन है।

न तु यथा मम तत्रैव--

> भक्तिः कातरतां क्षमा सभयतां पूज्यस्तुतिर्दीनतां,
> धैर्यं दारुणतां मतिः कुटिलतां विद्याबलं क्षोभताम् ।
> ध्यानं वञ्चकतां तपः कुहकतां शीलव्रतं षण्ढतां,
> पैशुन्यव्रतिनां गिरां किमिव वा नायाति दोषार्द्रताम् ॥

स्वभावानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु यथा ममेति। भक्तिरिति। भक्तिरीश्वरादिसेवनं, कातरतामसहायतां, क्षमा सहनशक्तिः, सभयतां भययुक्ततां, पूज्यस्तुनिरादरणीयजनस्तवनं, दीनतां दरिद्रतां, धैर्यं धीरता, दारुणतां क्रूरतां, मतिर्बुद्धिः, कुटिलतां वक्रतां, विद्याबलं शास्त्राभ्यासः, क्षोभतां क्षोभयतीति क्षोभस्तत्तां-क्षोभकतां क्षोभकारितामिति यावत्। ध्यानं वञ्चकतां धूर्ततां, तपस्तपस्या, कुहकतां छलितामैन्द्रजालिकतां वा, शीलव्रतं सत्स्वभावरक्षणं, षण्ढतां नपुंसकतां यातीति शेषः, एवञ्चैतत्सिद्धं यत्—पैशुन्यव्रतिनां पैशुन्यैकव्यसनिनां या गिरो वाचस्तासां कृते इति शेषः, किं वा नु दोषार्द्रतां दोषभाजनत्वमिव, नायाति न प्राप्नोत्यपि तु सर्वमपि दोषार्द्रतामेवोपयाति, पिशुना गुणानपि स्ववाग्जालैर्दोषानेव विधत्त इति भावः।

स्वभावानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथेति। भक्तिरिति। पिशुनों की वाणी गुणों को भी दोष बना देती है। जैसे भक्ति को कातरता का, क्षमा को सभयता का, स्तुति को दीनता का, धैर्य को क्रूरता का, बुद्धि को कुटिलता का, विद्या को क्षोभकारिता का, ध्यान को वञ्चकता का, तप को छलिता का, और सत्स्वभाव को नपुंसकता का रूप (पिशुन वाणी) दे डालती हैं।

अत्र पिशुनस्वभावे वर्ण्यमाने भक्त्यादीनां गुणानां वैपरीत्ये प्रतिपादिते पिशुनानां वचसां किं वा दोषार्द्रता नायातीत्यभिहिते स्वयमनार्द्रस्वभावस्य परार्द्रीकरणमनुचितमेव ॥३३॥

अस्मिन्पद्ये पिशुनस्वभावे वर्ण्यमाने, भक्तिक्षमादीनां विशिष्टगुणानां विपर्यासे कथिते, "पिशुनवचसां कृते किं वा वस्तु दोषास्पदत्वं न प्राप्नोति" इति प्रतिपादिते स्वयमनार्द्रस्वभावस्य पिशुनवचसः परार्द्रीकरणं भक्त्यादीनां दोषार्द्रीकरणमनुचितं नितरामनौचित्यं वहतीति भावः ॥३३॥

इस पद्यमें पिशुन स्वभाव वर्णन-क्रम में भक्ति, क्षमा, स्तुति आदि गुणों की विपरीतता का वर्णन करने के बाद "पिशुनों की वाणी से संबद्ध होकर कौन-सी वस्तु दोषार्द्रता को नहीं प्राप्त कर जाती है" इस तरह के कथन से यह बात विरुद्ध मालूम पड़ने लग जाती है कि जो (पिशुनवाक्य) स्वयं अनार्द्र स्वभाव वाला है वह दूसरों (भक्ति आदि) को कैसे आर्द्र (दोषार्द्र) बना सकता है, इसलिये ऐसा कथन स्वभावगत अनौचित्य को व्यक्त करता है ॥ ३३ ॥

सारसङ्ग्रहौचित्यं दर्शयितुमाह—

सारसङ्ग्रहवाक्येन काव्यार्थः फलनिश्चितः।
अदीर्घसूत्रव्यापार इव कस्य न सम्मतः ॥३४॥

सारसंग्रहवाक्येन काव्यार्थः सुनिश्चितफलः शीघ्रकारिण इव व्यापारः कस्य नाभिमतः।

स्वभावौचित्यं प्रदर्श्य सम्प्रति द्वाविंशतितमं सारसंग्रहौचित्यं विवेचयितुमाह—सारसंग्रहवाक्येनेति। सारसंग्रहवाक्येन सारसंग्रहाव्याख्यापकेन वाक्येन, फलनिश्चितः सुनिश्चितफलः, काव्यार्थोऽदीर्घसूत्रव्यापार इव दीर्घसूत्रतारहितजनकृतिरिव, कस्य, न संमतोऽभिमतः? अपितु सर्वस्यैवाभिमत एवेत्यर्थः। कारिकार्थमेव विशदयति—सारेति। सारसंग्रहोचितेन वाक्येन, सुनिश्चितफलः काव्यार्थः शीघ्रकारिणः क्षिप्रसम्पादनशीलस्य व्यापार इव कस्य जनस्य नाभिमतो नाभिप्रेतः?

स्वभावौचित्य का विचार करके अभी बाइसवें सारसंग्रहौचित्य की विवेचना की जा रही है सारसंग्रहवाक्येनेति। सारसंग्रहपरक वाक्य से सुनिश्चित फलवाला काव्यार्थ अदीर्घसूत्री जन के द्वारा किये गये व्यापार के समान किसको अभीष्ट नहीं होता?

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—सारेति। सारसंग्रहोचित वाक्य के प्रयोग से सुनिश्चित फलशाली काव्यार्थ, शीघ्र संपन्न करनेवाले के व्यापार के समान किसे प्रिय नहीं? अपितु सभी को प्रिय होता ही है।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

विविधगहनगर्भग्रन्थसम्भारभारै-
र्मुनिभिरभिनिविष्टैस्तत्त्वमुक्तं न किञ्चित्।
कृतरुचिरविचारं सारमेतन्महर्षे-
रहमिति भवभूमिर्नाहमित्येव मोक्ष ॥

सारसंग्रहौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम मुनीति। विविधेति। विविधान्यनेकप्रकाराणि गहनानि कठिनानि दुर्ज्ञेयानाति यावत्, वस्तूनि, गर्भेऽभ्यन्तरे येषामेवंभूतानां ग्रन्थानां पुस्तकानां भारभूतैः, सम्भारैः समूहैस्तद्द्वारेति यावत्, अभिनिविष्टैराग्रहशीलैर्मुनिभिः किञ्चित्किमपि तत्त्वं नोक्तं न कथितम्। एवंस्थितौ महर्षेर्व्यासस्य, कृतरुचिरविचारं विहितचारुविवेकमेतदिदं सारमस्तीति शेषः। किं तदित्याह—अहमिति

बुद्धिरर्थादहङ्कारो भवभूमिः संसारबन्धमूलहेतुः, नाहमिति बुद्धिरेवार्था-दहङ्काराभाव एव मोक्षः, संसारबन्धविच्छेदकारणमिति सारांशः।

सारसंग्रहगत औचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति। विविधेति। अनेक प्रकार के दुर्ज्ञेय ग्रन्थों के समूह को बनाकर अभिनिविष्ट (आग्रही) मुनियों ने कुछ भी तत्त्व की बातें नहीं कही। ऐसी स्थिति में महामुनि व्यास का यह निश्चित मत है कि अहंकार ही सांसारिक बंधन का मूल और निरहंकारिता ही मोक्ष है।

अत्र भगवद्गीतार्थविचारे सारसंग्रहोऽभिहितः—यत्किल मुनिभिरनेकभेदभिन्नशास्त्रजडैरभिनिविष्टमतिभिस्तत्त्वमुपादेयं न किञ्चित्कथितम्। भगवतो महर्षेर्व्यासस्य सुमतेर्विमलविचारोत्तीर्णं निश्चितमेतदेव—यदहङ्कारः संसारमूलभूमिर्ममतापरित्याग एव मोक्ष इति तत्संक्षेपेण भयक्षयोपदेशः प्रकृतार्थस्य परममौचित्यं पुष्णाति।

अस्मिन्पद्ये भगवद्गीतायाः अर्थस्य पर्यालोचनकाले, सारसंग्रहस्तत्त्व-सञ्चयोऽभिहित उक्तः—यत किल, अनेकभेदभिन्नशास्त्रजडैर्नानाविधमत-भेदापन्नशास्त्रनिर्माणव्यक्तमौढ्यैः, अभिनिविष्टमतिभिर्दुराग्रहग्रस्तबुद्धि-भिर्मुनिभिः उपादेयं ग्राह्यं न किञ्चित् न किमपि, तत्त्वं सारभूतं वस्तु प्रतिपादितम्। सुमतेः परिस्फोटबुद्धेर्भगवतो महर्षेर्व्यासस्य, विमलविचारो-त्तीर्णं निर्मलविचारोद्भूतमेतदेवैतावदेव, निश्चितं निर्णयो यत्—अहङ्कारोऽहं कर्तेत्यादिबुद्धिः संसारमूलभूमिः ममतापरित्यागो ममैतदित्याकारकभावना-त्याग एव मोक्ष इतीत्याकारकस्तत्संक्षेपेण नानामुनिरचितनानाशास्त्रार्थं संक्षिप्येत्यर्थः, भयक्षयोपदेशो भयनिवारणोपदेशः, प्रकृतार्थस्य वर्णनीया-र्थस्यौचित्यं परममत्यन्तं पुष्णाति।

इस पद्य में भगवद्गीतार्थ के विचार-प्रसंग में यही सारसंग्रह किया गया कि अनेक मतभेद से आक्रान्त शास्त्रों के निर्माण करते-करते मूढबुद्धिवाले बड़े-बड़े मुनियों ने कुछ भी तत्त्व की बातें नहीं कही। भगवान् व्यास का, विमल विचारधारा से उत्पन्न यही निश्चित मत है कि अहंकार ही संसार का मूलकारण और ममता का त्याग ही मोक्ष है। महर्षि व्यास के द्वारा किया गया भवभय-विनाश का यह समस्त शास्त्र-संक्षिप्त उपदेश प्रस्तुत वक्तव्य के औचित्य को अत्यन्त पुष्ट करता है।

न तु यथा परिव्राजकस्य --

तपो न तप्तं वयमेव तप्ता भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।
जरा न जीर्णा वयमेव जीर्णास्तृष्णा न याता वयमेव याताः ॥

सारसंग्रहानौचित्यमुदाहर्तुमाह--**न तु यथा परिव्राजकस्येति** । तप इति । तपस्तपस्या न तप्तं, वयं सांसारिकप्राणिन एव तप्ताः, सन्तापमासादितवन्तः, भोगाः सांसारिकसुखभोगादिका, न भुक्ताः न भोगविषयीकृताः, अपितु वयमेव कालपुरुषेण भुक्ताः कवलीकृताः, जरा वार्धकं, न जीर्णा पुरातनतामासवती, अपितु वयं जीविन एव जीर्णा वृद्धत्वमुपगताः, तृष्णैषणा, न याता नापगता, वयमेव याता अन्तमुपगताः । सकलं निःसारमेवेति भावः ।

सारसंग्रहानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथेति । तप इति । तप नहीं तपा गया हम ही संतप्त हुए, सांसारिक नानाविध भोगों का उपभोग नहीं किया जा सका, हमारा ही उपभोग (काल पुरुष के द्वारा) कर लिया गया, बुढापा नहीं जीर्ण हुआ, हम ही बूढ़े हो गये, ऐहलौकिक या पारलौकिक विषयों की प्राप्त्येषणा नहीं समाप्त हो सकी, परन्तु हम समाप्त हो गये । कहने का तात्पर्य यह है कि ये सारे के सारे निरर्थक हैं इनसे कुछ भी साधन नहीं हो सकता ।

अत्र "वयमेव तप्ता, भुक्ता, जीर्णा, याता" इत्युक्ते निःसाराचारुवादपर्यवसितो वाक्यार्थः फलशून्यतया सारसंग्रहोचितं न किञ्चित्प्रतिपादयति ॥३४॥

अस्मिन्पद्ये "वयं सांसारिकप्राणिन एव, तप्ता भुक्ता जीर्णा याताः" इति कथने निःसाराचारुत्वात्संसारस्य सारहीनत्वाशोभनत्वमात्रप्रतिपादनात्, अपर्यवसितो निराकाङ्क्षबोधविषयताशून्यो वाक्यार्थः, फलशून्यतया निष्प्रयोजनतया, सारसंग्रहोचितं न किञ्चित्प्रतिपादितं भवति । अतः सारसंग्रहानौचित्यं स्पष्टमिति भावः ॥३४॥

इस पद्य में "हम ही तप्त हुए, भोगे गये, बूढ़े हुए, तथा समाप्त हो गये" इस कथन से केवल सांसारिक आचरणों की सारहीनता और अशोभनता ही प्रतिपादित हुयी, परन्तु सार क्या है इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ सका, इसलिये इस तरह का अपूर्व सारसंग्रह अनौचित्य का ही उदाहरण हो सकता है, औचित्य कानहीं ॥३४॥

प्रतिभौचित्यं दर्शयितुमाह—

प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः ।
निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम् ॥३५॥

प्रतिभालङ्कृतं कवेः काव्यमुचितं गुणवतः कुलमिव विमलं लक्ष्म्या प्रकाशितं शोभते ।

सारसंग्रहौचित्यप्रदर्शनान्तरं सम्प्रति प्राप्तावसरं त्रयोविंशतितमं प्रतिभौचित्यं विवेचयितुमाह—प्रतिभाभरणमिति । प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरेवाभरणमलङ्करणं यस्मिंस्तत्, उचितमनुरूपं, कवेः कविकर्मकुशलस्य काव्यं, सुगुणस्य सुगुणवतः, भूतिविभूषितमैश्वर्यसम्पन्नं, निर्मलं विमलं, कुलं वंश इव शोभते चकास्ति ।

कारिकार्थमेव विशदयति—प्रतिभालङ्कृतमिति । प्रतिभालङ्कृतमुचितमनुरूपं कवेः काव्यं, लक्ष्म्या प्रकाशितं सम्पत्त्या विद्योतितं, गुणवतो गुणशालिनः विमलं शुभ्रं, कुलं वंश इव शोभते ।

सारसंग्रहौचित्य का विचार कर लेने के बाद अभी अवसर प्राप्त होने पर तेईसवें प्रतिभौचित्य की विवेचना की जा रही है— प्रतिभाभरणमिति । प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि) से अलंकृत कवि का अनुरूप काव्य उसी तरह शोभित होता है जैसे गुणवान् मनुष्य का निर्मल कुल ऐश्वर्य से (विभूषित) होता है ।

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है — प्रतिभालङ्कृतमिति । प्रतिभौचित्य की महिमा से कवि का काव्य ऐश्वर्य से चमत्कृत गुणवानों के उज्ज्वल कुल के समान सुशोभित होता है ।

यथा मम लावण्यवत्याम्—

अदय ! दशसि किं त्वं बिम्बबुद्ध्याधरं मे
भव चपल निराशः पक्वजम्बूफलानाम् ।
इति दयितमवेत्य द्वारदेशाप्तमन्या
निगदति शुकमुच्चैः कान्तदन्तक्षतौष्ठी ॥

प्रतिभौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम लावण्येति । अदयेति । परपुरुषखण्डिताधरया कयाचित्पुंश्चल्या नायिकया द्वारदेशमुपगतं द्वितीयं कामुकं ज्ञात्वा तदागमनानाभिज्ञयेव शुकमुद्दिश्योच्यते—अयि अदय निर्दय ! त्वं, बिम्बबुद्ध्या बिम्बफलभ्रमेण, मे ममाधरं किं कथं, दशसि

खण्डयसि, अयि चपल चञ्चल ! पक्वजम्बूफलानां परिणतजम्बूफलावाप्ते-रिति भावः, निराशः आशारहितो, भव, चपलस्त्वं भ्रमेण मेऽधरं व्रणाङ्कितमकरोरनेनाऽपराधेन कुपिताहं तुभ्यं पक्वजम्बूफलानि न दास्यामीति तात्पर्यम् । इतीत्याकारकं वचनं, दयितं प्रियं किमपि पुरुषम्, एतेन पर-पुरुषासक्तिज्ञानप्रयुक्तं, तदीयं वैमुख्यं नाभिमतं नायिकाया इति व्यज्यते, द्वारदेशाप्तं द्वारदेशोपस्थितमवेत्य ज्ञात्वा, कान्तदन्तक्षतौष्ठी नायकेतर-दन्तक्षतव्रणिताधराऽन्या परकीया नायिका, शुकं प्रतीतिभावः, उच्चैस्तार-स्वरेण, यथा सोऽपि शृणुयात्तथेत्यर्थः, वदति कथयति ।

प्रतिभौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा ममेति । अदयेति । सुन्दरतम किसी पुरुष के दन्तक्षत से व्रणित ओठवाली कोई पुंश्चली नायिका दूसरे किसी प्रियतम को द्वार पर आया देखकर सुग्गे को उद्देश्य करके उच्चस्वर से कह रही है कि ऐ निर्दयी सुग्गे ! तुम बिम्बफल के भ्रम से मेरे अधर को क्यों काट रहे हो, तुम बड़े नटखट हो, इस अपराध के दंडस्वरूप मैं आज तुम्हें पके जामुन खाने के लिये नहीं दूँगी, तुम उससे निराश हो जाओ ।

अत्र कयापि द्वारदेशाप्तं प्रियं ज्ञात्वा अन्यकामुकदशनखण्डितौष्ठ्या सम्प्रति तदागमनानभिज्ञयेव शुकमुद्दिश्य यदुक्तं निर्दय कि ! त्वं बिम्बफल-लोभादधरं मम विदारयसि, पक्वानां जम्बूफलानामिदानीं चपल निराशो भव, कुपिता तुभ्यं नो दास्यामीति तेनोच्चैः प्रत्यायनापह्नवनवनवोन्मेष-प्रज्ञाचातुर्यचारुवचनसौचित्यचमत्कारं करोति । यदाह भट्टतौतः—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता" इति ।

अस्मिन्पद्ये द्वारदेशोपगतं प्रियं नायकमवगत्य नायकान्तरदन्तच्छेद-व्रणितोष्ठ्या कयापि पुंश्चल्या नायिकया तन्नायकागमनमजानन्त्येव शुकमुद्दिश्य यत्प्रतिपादितम् "अयि दयालेशरहित ! बिम्बफललालसाव-शान्ममाधरं कथं दशसि, रे चपल ! परिणतानां जम्बूफलानां तत्प्राप्तेरिति-भावः, निराशो भव, व्रणजातक्रोधाऽहं तुभ्यं नो दास्यामि दण्डरूपेणेत्यर्थः, इति तेन तत्कथनेन, प्रत्यायनापह्नवनवनवोन्मेषप्रज्ञाचातुर्यचारुवचनमसत्य-ज्ञापनसत्यापलापविषयकप्रतिभावैदग्ध्यसुन्दरवचनमौचित्यचमत्कारमुच्चै-रुन्नतं करोति सम्पादयति ।

प्रतिभाया नवनवोन्मेषशालिबुद्ध्यर्थकत्वे प्रमाणमुपस्थापयति—यदाह-

भट्टतौत इति। नवनवकल्पनाकारिणी बुद्धिरेव प्रतिभा मतेति भट्टतौत-मतमित्यर्थः।

इस पद्य में नये प्रेमी को द्वार पर उपस्थित जानकर नायकान्तर के द्वारा दष्ट अधरवाली अनभिज्ञ की जैसी किसी पुंश्चली नायिका ने शुक को उद्देश्य करके जो कहा है कि--"ऐ निर्दयी सुग्गे! बिम्बफलके भ्रम से तुम मेरे अधर को क्यों काट रहे हो, तुम बड़े चंचल हो, तुम्हें मैं इसके दंडस्वरूप पके जामुन आज खाने को नहीं दूँगो, तुम उससे निराश हो जाओ इत्यादि" इससे प्रतिभौचित्य का बड़ा ही सुन्दर आभास मिल रहा है, क्योंकि असत्य (शुक द्वारा अधरक्षति) के ज्ञापन और सत्य (नायक द्वारा अधरदंशन) के गोपन की नूतन कल्पना में बुद्धि का सुन्दर उपयोग किया है और इस तरह की नवीन कल्पना करने वाली बुद्धि को हा प्रतिभा कहते हैं, जैसा कि भट्टतौत ने कहा है।

न तु यथा मम तत्रैव—

निर्याते दयिते गृहे विशयने निर्माल्यमाल्ये कृते,
प्राप्ते प्रातरसह्यरागिणि परे वारावहारेऽन्यथा।
द्वारालीनविलोचना व्यसनिनी सुप्ताहमेकाकिनी-
त्युक्त्वा नीविविकर्षणैः सचरणाघातैरशोकीकृत ॥

प्रतिभानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु यथा मम तत्रैवेति। निर्यात इति। वारावहारकुपितं नायकं पुनरनुकूलयितुं कृतच्छद्मव्यवहाराया वेश्याया वर्णनमिदम्। दयिते नूतने प्रेमिणि, निर्याते निर्गते सति, निर्माल्यमाल्ये रात्रिकृतभोगानां माल्यकुसुमानां म्लानतया निर्माल्यरूपतामापन्ने माल्ये, कृते बहिर्निःसारिते, गृहे भवने, विशयने शेतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या शयनं शय्या तद्रहिते सम्पादिते, प्रातरुषसि, असह्यरागिण्येकान्तप्रेमिणि, वारावहारे वारस्य निश्चितदिनस्यापहरणे जाते, अन्यथेर्ष्याक्रोधादियुक्ते, परे पूर्वनायके प्राप्ते सति, द्वार आलीने त्वदागमनमार्गं द्रष्टुं संलग्ने, विलोचने नयने यस्यास्तथाभूता, व्यसनिनी त्वदालोकनं मे व्यसनं (दुरभ्यासः) सम्पन्नमस्तीति भावः, अहमेकाकिन्येकलैव न तु केनाप्यन्य पुरुषेण सहेति भावः, सुप्ता शयनमकार्षमित्युक्त्वेति, कथनोत्तरकाले, नीविविकर्षणैः विश्वासोत्पादकवचनश्रवणविगतमन्युना नायकेन तन्नी-विग्रन्थिविमोचने प्रवृत्तमिति तत्क्रोधैरित्यभिप्रायः, तया वेश्यया, चरणा-घातैः पादताडनैः स पूर्वनायकोऽशोकीकृतः शोकरहितः सम्पादितोऽथवा

तरुणीपादताडनेनाशोको नाम वृक्षो यथा विकसितो भवति तथैव सोऽपि नायकस्तच्चरणप्रहारेण सञ्जातरोमोद्गमो जात इत्यशोकतुल्यः कृत इत्यर्थः। वेश्ययेतिकर्तृपदमत्राहार्यमिति बोध्यम्।

प्रतिभागत अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है--न नु यथा ममेति। निर्यति इति। किसी नये प्रेमी के साथ रात बिताने की भावना से वेश्या ने अपने पूर्वप्रेमी को किसी अन्यहेतुक छल से एक दिन के लिये आने से रोक कर उस नये प्रेमी के साथ रात को रंगरेलियाँ मनायीं, सबेरे जब वह चला गया तब निर्माल्यरूप पुष्पमाला तथा बिछावन आदि को हटाकर घर साफ कर दिया और उस पूर्वप्रेमी को आया हुआ देखकर कहा कि मैं तुम्हें आने से रोककर स्वयं भी प्रसन्न नहीं हूँ, देखो न, रात भर अकेली भूमि पर लेटी हुयी द्वार पर टकटकी लगाये तुम्हारे आने की राह देखती रही हूँ। इस कथन से प्रभावित होकर नायक उसकी नीवि-ग्रन्थि को खींचने लगा जिससे कृत्रिम क्रोध करके उस वेश्या ने पदताड़न से उसको अशोक (शोकरहित) कर दिया। अथवा जैसे कामिनियों के पदताड़न से अशोक खिल उठता है वैसे ही वह भी उस पदताड़न से आनन्दित हो उठा, अतः अशोकीकृतः (अशोकतुल्य) बना दिया। ऐसा समझना चाहिये।

अत्र वेश्या व्यालग्नकामुकस्य वारावहारं विधाय नवकामुकेन सह क्षपायां नीतायां प्रभाते तन्निर्यति शय्याकुसुमादिसम्भोगलक्षणे निवारिते वारवञ्चनकुपिते गाढानुरागग्रहग्रस्तमतौ पूर्वकामुके प्राप्ते त्वदालोकनकांक्षिणी व्यसनिनी द्वारन्यस्तनयनाहमेकाकिनी सुप्तेति प्रत्यायनावचनविलीनमन्युसरभससरसनीविविकर्षणोद्यताकृतिकृतेर्ष्याकोपया चरणनलिनप्रहारैरशोकीकृतः शङ्काशल्योन्मूलनान्निःशोकः सम्पादितः सन्ततपुलकाङ्कुरत्वादशोकतरुतुल्यतां नीत इति वा वाक्यार्थः केवलसत्यविप्रलम्भप्रागल्भ्यमात्रमेव गणिकाया गाढरागमूलतां च प्रतिपादयति, न तु प्रतिभोद्भूतामौचित्यक्षणिकां सूचयति ॥ ३५ ॥

अस्मिन्पद्ये वाराङ्गना व्यालग्नकामुकस्य विशेषासक्तनायकविशेषस्य कस्यचिद् वारावहारं तद्दिनावधिकमेव तिरस्कारं कृत्वा नवागतेनापरेण कामिना सह रात्रौ व्यतीतायां, प्रातःकाले तस्मिन्नूतननायके प्रयाते, शय्याकुसुमादिसम्भोगलक्षणे शय्यापुष्पादिसम्भोगचिह्ने निवारितेऽपसारिते, वारवञ्चनकुपिते वारयञ्चनेन तद्दिनावधिकतिरस्कारेण कुपिते क्रोधयुक्ते, गाढानुरागग्रहग्रस्तमतौ सुदृढप्रेमजर्जरीकृतबुद्धौ, पूर्वकामुके

पूर्वप्रिये, प्राप्ते समायाते—'त्वदालोकनकांक्षिणी त्वद्दर्शनचेष्टाशालिनी, व्यसनिनी दुरभ्यासा, द्वारन्यस्तनयना द्वारदेशस्थिरीकृतनेत्राऽहमेकाकिन्येव लेव सुप्ता आसमिति शेषः, इत्येवंविधेन, प्रत्यायनावचनेन विश्वासोत्पादकवचनकथनेन, विलीनो नष्टो मन्युः क्रोधो यस्य तस्य नायकस्य, सरभसं सवेगं सरसं च यन्नीविविकर्षणं नीविग्रन्थिमोक्षणं, तस्मिन्नृद्धतया तत्परयाऽकृत्या कृत ईर्ष्या कोपो यस्यास्तया चरणनलिनप्रहारैश्चरणारविन्दाघातैरशोकीकृतः, शङ्काशल्योन्मूलनान्निःशोकः सम्पादितः, परपुरुषसम्पर्कजन्यशङ्कारूपशङ्कोरुन्मूलनात्प्रत्यायनावचनद्वारोत्पाटनान्निःशोको विगताखिलशोकः सम्पादितः। अथवा सन्ततपुलकाङ्कुरत्वादानन्दोद्रेकोपयातरोमाञ्चत्वादशोकतरुतुल्यतां नीत इति वाक्यार्थः, गणिकायाः केवलं सत्यो यो विप्रलम्भो वियोगस्तत्प्रयुक्तं यत् प्रागल्भ्यं दृढत्वं, तन्मात्रमेव, गाढरागमूलकतां दृढप्रेममूलकतामेव च प्रतिपादयति, न तु प्रतिभोद्भूतां प्रतिभाजन्यामौचित्यकणिकामौचित्यलेशं सूचयति ॥ ३५ ॥

इस पद्य में वेश्या ने अपने ऊपर विशेषासक्त किसी कामुक का उस दिनमात्र के लिये तिरस्कार करके किसी नये प्रेमी के साथ रात बितायी, फिर सबेरे उस नये प्रेमी के चले जाने के बाद संभोगव्यंजक मर्दित शय्या, तथा निर्माल्य पुष्पादिक को हटा दिया, एवं दुत्कार देने के कारण क्रोधयुक्त तथा एकान्तप्रेमी उस पूर्व प्रेमी के आने पर कहा कि मैं तो तेरे वियोग में व्याकुल होकर अकेली सोयी हुई बराबर द्वार पर आँखें बिछाये तुम्हारी ही राह देख रही थी, इस तरह की विश्वासोत्पादक बातें सुनकर जब उस नायक का क्रोध कुछ ठंडा पड़ गया और उसे जब चुहुलबाजी सूझने लगी, तब कृत्रिम क्रोध करके उस वेश्या ने उसे अपने चरणप्रहार से अशोक के समान खिला दिया, इस कथन से वेश्या के दृढ़ प्रेम का तथा वियोगदुःख की सत्यता का ही परिचय मिलता है, विलक्षण प्रतिभा का तो कुछ लेश भी नहीं मिलता। इसलिये इससे प्रतिभौचित्य का व्याघात ही होता है, उत्कर्ष नहीं ॥ ३५ ॥

अवस्थौचित्यं दर्शयितुमाह—

> अवस्थौचित्यमाधत्ते काव्यं जगति पूज्यताम्।
> विचार्यमाणरुचिरं कर्तव्यमिव धीमताम् ॥३६॥

अवस्थोचिततया काव्यं जगति श्लाघ्यतामायाति, मतिमतामिव कृत्यं विचारनिघर्षरुचिरम्।

प्रतिभौचित्यं विचार्य सम्प्रति क्रमप्राप्तं चतुर्विंशतितममवस्थौचित्यं विवेचयितुमाह—अवस्थौचित्यमिति। अवस्थौचित्यमवस्थाया वयःक्रमस्यौचित्यमनुरूपवर्णनं यस्मिंस्तादृशं काव्यं, जगति संसारे, विचार्यमाणरुचिरं विचार्यमाणं सत्सुन्दरं स्पृहणीयमिति यावत्, धीमतां बुद्धिमतां, कर्तव्यं करणीयं कार्यमिति यावत् इव, पूज्यतामादरणीयतां श्लाघ्यतामिति यावत्, आधत्ते प्राप्नोति।

कारकार्थमेव विशदयति—अवस्थोचिततयेति। अवस्थोचिततयावस्थाया आनुरूप्येण, काव्यं, जगति संसारे तथैव श्लाघ्यतां स्पृहणीयतामायाति गच्छति, यथा विचारस्य निर्घर्षेण रुचिरमर्थाद्विचारशाणोल्लीढं, मतिमतां बुद्धिमतां, कृत्यं कर्तव्यम्।

प्रतिभौचित्य का विचार कर चुकने के बाद क्रमिकरूप से चौबीसवें अवस्थौचित्य को विवेचना करने लिये कहा गया है—अवस्थौचित्यमिति। अवस्था के अनुरूप वर्णन से संसार में काव्य उसी तरह पूजित होता है जैसे विचार पूर्वक किया गया बुद्धिमानों का कार्य (पूजित होता है)।

कारिका की ही व्याख्या करने के लिये कहा गया है—अवस्थौचितयेति। अवस्था की अनुकूलता से काव्य, विचार की कसौटी पर कसाये गये बुद्धिमानों के कार्य के समान संसार में स्पृहणीयता को प्राप्त करता है।

यथा मम लावण्यवत्याम्—

> **मुक्तः कन्दुकविभ्रमस्तरलता त्यक्तैव बाल्योचिता,**
> **मौग्ध्यं निर्धुतमाश्रिता गजगतिर्भ्रूलास्यमभ्यस्यते।**
> **यन्नर्मोर्मिषु निर्मितं मृगदृशा वैदग्ध्यदिव्यं वच-**
> **स्तद्विद्मः सुभगाभिमानलटभाभावे निबद्धो भरः॥**

अवस्थौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम लावण्यवत्यामिति। मुक्त इति। कन्दुकविभ्रमः कन्दुकक्रीडाविलासः, मुक्तस्त्यक्तः, बाल्योचिता शैशवानुरूपा, तरलता चञ्चलता, त्यक्ता परिहृतैव, मौग्ध्यं मुग्धता, निरस्तं दूरीकृतं, गजगतिर्गजवत्सविलासगमनमाश्रिताऽङ्गीकृता, भ्रूलास्यं भ्रूनर्तनं कटाक्षनिःक्षेपणमिति यावत्, अभ्यस्यते, नर्मोर्मिषु परिहासतरङ्गेषु, वैदग्ध्यदिव्यं चातुरीपरिलसितं, वचो वचनं, यन्निर्मितमासूत्रितं, तत्तेन विद्मो जानीमहे वयमिति शेषः, (यत्) मृगदृशा हरिणलोचनया, सुभगेन सम्भोग-

क्षमावस्थाप्राप्तिगर्भेण सुन्दरेण, अभिमानेन गर्वेण लटभाया:[१] कमनीयकन्याया:, भावे कामव्यञ्जकचेष्टादौ, भरोऽतिशय: पूर्णता वा निबद्ध आविष्कृत: सम्पादितो वा ।

अवस्थौचित्य का उदाहरण दिखाया जा रहा है—यथा ममेति। मुक्त इति। बाला अब युवती बनने जा रही है, इसलिये इसने गेंद खेलना छोड़ दिया है, बाल्योचित चञ्चलता का त्याग कर दिया है, मुग्धता का कहीं पता तक नहीं रहा, हथिनी के समान मस्तानी चाल से चलना सीख गयी है. कटाक्ष-निःक्षेपण का अभ्यास कर रही है, तथा परिहास को तरंगित करने में वैदग्ध्यपूर्ण वचन-विन्यास आरंभ कर दिया है इससे ज्ञात होता है कि संभोगक्षम वयस् प्राप्त हो जाने के कारण स्वाभाविक सुन्दर गर्व से लटभाभाव (सुन्दरकन्योचित काम-व्यञ्जक चेष्टा) में पूर्णता प्राप्त कर ली है ।

अत्र यदुक्तं—कन्दुकक्रीडा त्यक्ता, बालचापल्यं परिहितम्, मौग्ध्यं निरस्तम्, गजगतिरङ्गीकृता, भ्रूलतालास्याभ्यासः क्रियते, नर्मोर्मिषु वचनवैचित्र्यमासूत्रितम्, तेन जानीमहे शैशवावस्थां समुत्सृजन्त्या प्रौढता-मनारूढयापि नवसम्भोगगौरवगर्भेण सुभगाभिमानेन लटभाभावे बालया भरो निबद्धः. इत्यभिहिते स्फुटधिया वयोवस्थामध्यसन्धिवर्णनायामौचित्यं स्फुरदिवावभासते ।

अस्मिन्पद्ये यदुक्तं—कन्दुकक्रीडा त्यक्ता, बालोचितचाञ्चल्यमुज्झि-

---

१—अयं शब्दः प्रायो देशोद्भवस्तेन कोशादिषु नोपलभ्यते, शब्दकल्पद्रुमोऽप्येतद्विषये मूक एव (१) गाथासप्तशत्याः प्रथमशतकस्य सप्तमपद्ये "लडह" इति प्राकृतं रूपमुपलभ्यते, तस्य च च्छायायां विदग्धेत्यर्थो विहितोऽस्ति । (२) वक्रोक्तिजीवितस्य १९ तमे पृष्ठे "नूतनतारुण्यतरङ्गितलावण्यलटभकान्तेः" इत्यत्राचार्यविश्वेश्वरेण लटभेत्यस्य सुन्दरोऽर्थः कृतोऽस्ति । तत्प्रमाणे च तत्रैव टिपण्याम् (i) "लटभललनाभोगसुलभः" (ii) "तस्याः पादनखश्रेणिः शोभते लटभभ्रुवः" (iii) "न कस्य लोभं लटभा तनोति" (iv) "केशबन्धविभवैर्लटभानाम्' इति पद्यांशचतुष्टयमुद्धृतम् । (३) "Monier Williams" नाम्नाः अंग्रेजो-संस्कृतकोशस्य ८९५ तमे पृष्ठे औचित्यविचारचर्चाया एवोद्धरणमुपस्थाप्य कन्येत्यर्थः कृतोऽस्ति । (४) लट बाल्ये (भ्वा. सं० २९८) इति धातोर्निष्पत्तिमुद्भाव्य व्युत्पत्तिमर्यादया कन्यापर्यायपक्ष एव ममापि हृदयसंवादीति प्रस्तुतपद्यव्याख्यानावसरे कन्यार्थ एव मया कृतः ॥

तम्, गजगामिता स्वीकृता, भ्रूनर्तनाभ्यासो विधीयते, परिहासप्रवाहेषूक्तिपाण्डित्यमुपलब्धम्, तेनावगच्छामो यत्—युत्रात्रस्थां प्राप्नुवन्त्या—अनासादितप्रौढतयापि, नवसंभोगगर्वपूर्णेन सुन्दराभिमानेन लटभाभावे कमनीयकन्योचितकामचेष्टादिषु बालया भरोऽतिशयः पूर्णता वा निबद्ध आविष्कृतः, इत्यत्र स्फुटधिया स्पष्टतया, वयोऽवस्थाया वयोदशायां मध्यसन्धेर्वर्णनायां वयःसन्धिवर्णन इति यावत्, औचित्यं स्फुरज्ज्वलदिवावभासते प्रतीयते ।

इस पद्य में जो कहा गया है कि "इसने गेंद खेलना छोड़ दिया, बालोचित चंचलता का संवरण कर लिया, गजगामिता को अङ्गीकृत कर लिया, भौंह नचाने का अभ्यास कर रही है, परिहास में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया, इससे ज्ञात हो रहा है कि यद्यपि यह अभी पूर्ण प्रौढ़ नहीं हुई है फिर भी बाल्यावस्था को छोड़ कर युवावस्था में पदार्पण कर रही है, इसलिये स्वाभाविक सुन्दर गर्व से कन्याभाव में इसने पूर्णता प्राप्त कर ली है, इस वयःसन्धि के वर्णन में औचित्य (अवस्थौचित्य) चमकता हुआ सा आभासित हो रहा है ।

न तु यथा राजशेखरस्य—

ज्यायान् धन्वी नवधृतधनुस्ताम्रहस्तोदरेण,
क्षत्रक्षोदव्यतिकरपटुस्ताटकाताडकेन ।
कर्णाभ्यर्णस्फुरितपलितः क्षीरकण्ठेन सार्धं,
योद्धुं वाञ्छन्न कथमधुना लज्जते जामदग्न्यः ॥

अवस्थानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु यथा राजशेखरस्येति । ज्यायानिति । ज्यायान् धन्वी श्रेष्ठधनुर्धारी, क्षत्राणां राजन्यानां, क्षोदव्यतिकरे पूर्णीकरणाधिक्ये विनाशबाहुल्य इति यावत्, पटुर्निपुणः, कर्णयोः श्रवणयोरभ्यर्णे समीपे, स्फुरितं भासमानं, पलितं पक्वकेशो यस्यैवंभूतो जामदग्न्यो भार्गवः, नवधृतेन नूतनगृहीतेन, धनुषा कार्मुकेण, कार्मुकसंघर्षणेनेति भावः, ताम्रं रक्तवर्णं, हस्तयोः पाण्योरुदरमभ्यन्तरं यस्य तेन ताटकाताडकेन ताडकामात्रैकस्त्रीविनाशकेन, क्षीरकण्ठेन मातृस्तन्यलिप्तकण्ठेन दुग्धादेनेव बालकेनेत्यर्थः, अमुना रामेण, सार्द्धम्, योद्धुं सङ्ग्रामं कर्तुं वाञ्छन्स्पृहयन्, कथं न लज्जते । अयमभिप्रायः—प्रख्यातधनुर्धारिणः सद्यःसमारब्धधनुर्ग्रहाभ्यासेन, साकल्येन क्षत्रियकुलविघातकस्य ताडकानामकैकस्त्रीमात्रविघातकेन, स्त्रीहत्या न पुरुषार्थ—

द्योतिनीति तत्कारकेणेति भावः, वृद्धवयसः दुग्धादेन शिशुना योद्धुं प्रयासो नितरां लज्जाप्रद इति।

अवस्थानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है--न तु यथा राजशेखरस्येति। ज्यायानिति। धनुर्धारियों में सर्वश्रेष्ठ, क्षत्रियों के विनाश करने में क्षम जिनके कानों के पास के केश पककर श्वेत हो रहे हैं, अर्थात् जो बुढ़ापे की ओर अग्रसर हो रहे हैं ऐसे महाबली परशुराम, नये-नये धनुष धारण करने के कारण जिनकी हथेली लाल हो रही है, जो ताड़का (एक स्त्री मात्र) का विनाश कर सके हैं, इतना ही नहीं जो कि अभी तक दुधपिव्वे कहे जा सकते हैं ऐसे रामचन्द्र के साथ युद्ध करने की इच्छा रखते हुए स्वयं ही लज्जित क्यों नहीं हो रहे हैं, अर्थात् प्रशस्तधन्वी का नवसिखुए के साथ, बड़े-बड़े क्षत्रिय राजाओं को मारनेवालों का एकमात्र स्त्रीघाती के साथ, तथा बूढ़े का दुधपिव्वे के साथ युद्ध की चर्चा भी लज्जाजनक है, फिर ऐसा करते हुए परशुराम को भी लाज आनी चाहिए।

"अत्र भार्गवः स्थविरावस्थास्थितः स्थिरतरपराक्रमकर्कशप्रौढो धनुर्धरः शिशुना रामेण धनुर्ग्रहणारुणितकोमलकरकमलतलेन क्षत्रियक्षय-संरम्भप्रगल्भस्ताटकाताडकेन स्फुरदाकर्णपलितः सम्भाव्यमानजननीस्त-नक्षीरकण्ठेनामुना युयुत्सुः कथं न लज्जत" इत्युक्ते पेशलतया राघवाव-स्थायां जामदग्न्यावस्थाविपरीततायां प्रतिपाद्यमानायां ताटकाताडकेनेति विरुद्धाधिवासोऽर्थः किमप्यनौचित्येन चेतसि सङ्कोचमादधाति ॥३६॥

"अस्मिन्पद्ये, वृद्धावस्थापन्नो निश्चितपराक्रमप्रगल्भो धनुर्धरः परशु-रामो धनुर्धारणारुणहस्ताब्जतलेन शिशुना रामेण, क्षत्रियविनाशारम्भ-सप्रतिभस्ताडकेतिनामकासुरदारिकाविनाशकेन, आकर्णपलितकेशशो-भितः, सम्भाव्यमानं जनन्या मातुः स्तनयोः क्षीरं दुग्धं कण्ठे यस्य तेनामुना रामेण युद्धं कर्तुमिच्छुः सन् कथं न लज्जत" इत्युक्ते पेशलतया कोमलतया, राघवावस्थायां रामचन्द्रवयसि, जामदग्न्यस्य परशुरामस्या-वस्थया वयसा विपरीतायां विरुद्धायां, प्रतिपाद्यमानायां कथ्यमानायां "ताटकाताडकेने"ति विरुद्धाधिवासोऽर्थो विरुद्धस्यार्थस्याधिवासो गन्धो यस्मिंस्तादृशोऽर्थः। इदमत्राकूतम्--राघवस्य ऋजुत्वमत्र कवेरभिमतमिति तत्कर्तृकताडकाताडनात्मकपरुषपुरुषोचितकर्मवर्णनमनुचितमिति। अत

एवानौचित्ये नावस्थानुरूपवर्णनाकरणेन चेतसि किमपि विचित्रं सङ्कोच-मादधात्युपस्थापयति ॥३६॥

इस पद्य में वृद्धावस्थापन्न तथा स्थिरपराक्रमशाली प्रसिद्ध धनुर्धर परशुराम, प्रथम-प्रथम धनुषधारण करने के कारण लाल तलहत्थीवाले, बच्चा. राम के साथ असंख्य क्षत्रियों के विनाश में पटु होकर एकमात्र ताडकाघाती के साथ, कान तक पके हुए केशवाले होकर दुधपीते के सा॰, युद्ध की इच्छा करते हुए उन्हें लज्जा क्यों नहीं आती ? इस कथन में कोमल होने के कारण राम की और भार्गव की अवस्था में असामञ्जस्य प्रतिपादित करने के क्रम में ''ताटकाताडकेन = ताड़का को मारने वाले के साथ'' ऐसा जो कहा गया है वह राम की अवस्था के विपरीत प्रतीत होता है, क्योंकि एक बच्चे के लिये (जिसे कि दुग्धाद की उपाधि से विभूषित किया गया है) ताडका जैसी दुर्दान्त राक्षसी का वध कैसे संभव हो सकता है ? इससे इसमें अवस्थागत अनौचित्य का समावेश हो गया है, जिससे पाठकों के हृदय में एक विचित्र सं॰ोच का उदय हो जाता है ॥ ३६ ॥

विचारौचित्यं दर्शयितुमाह—

उचितेन विचारेण चारुतां यान्ति सूक्तयः ।
वेद्यतत्त्वावबोधेन विद्या इव मनीषिणाम् ॥३७॥

विचारौचित्येन सूक्तयश्चारुतां यान्ति, ज्ञेयस्वरूपज्ञानेन विद्या इव विदुषाम् ।

अवस्थौचित्यविचारानन्तरं सम्प्रति प्राप्तपर्यायं पञ्चविंशतितमं विचारौचित्यं विवेचयितुमाह—**उचितेनेति** । उचितनानुरूपेण, विचारेण, सूक्तयः काव्यानि, वद्यतत्त्वावबोधेन ज्ञातव्यतत्त्वज्ञानन, मनोषिणां विदुषां, विद्याः शास्त्राणीव, चारुतां स्पृहणीयतां, यान्ति गच्छन्ति ।

कारिकार्थमेव स्फारयति—**विचारौचित्येनेति** । विचारौचित्येन विचारानुरूपवर्णनेन, सूक्तयस्तथैव चारुतां रमणीयतां, यान्ति प्राप्नुवन्ति, यथा ज्ञेयस्वरूपज्ञानेन ज्ञातव्यतत्त्वपरिज्ञानेन विदुषां कृतविद्यानां विद्याः स्पृहणीयतामासादयन्ति ।

अवस्थौचित्य का विचार कर लेने के वाद अभी अवसर प्राप्त होने पर पचीसवें विचारौचित्य की विवेचना की जा रही है---उचितेनेति । अनुरूप विचार के द्वारा कवियों की कृतियाँ, ज्ञेयत्त्व के ज्ञान स मनीषियों की विद्याओं की तरह स्पृहणीयता को प्राप्त कर जाती हैं ।

कारिका की ही व्याख्या करने के लिये कहा गया है--विचारौचित्येनेति। विचारौचित्य के द्वारा सूक्तियाँ उसी तरह चारुता को प्राप्त करती हैं जैसे ज्ञेय तत्त्व के ज्ञान से विद्वानों की विद्यायें।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

अश्वत्थामवधाभिधानसमये सत्यव्रतोत्साहिना,
मिथ्या धर्मसुतेन जिह्मवचसा हस्तीति यद् व्याहृतम्।
सा सत्यामृतरश्मिवैरमसमं संसूचयन्त्याः सदा,
शङ्के पङ्कजसंश्रयेण मलिनारम्भा विजृम्भा श्रियः॥

विचारौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथा मम मुनिमतेति। अश्वत्थामेति। अश्वत्थाम्नो द्रोणसुतस्य, वधस्य मृत्योः, अभिधानसमये कथनकाले, "अश्वत्थामा मृतो नरो वा कुञ्जरो वा' इति कथनसमय इति भावः, सत्यव्रतोत्साहिना सत्यव्रते परमोत्साहवता, नितरां सत्यवादिनेति भावः, धर्मसुतेन युधिष्ठिरेण, मिथ्याऽसत्यं, जिह्मवचसा कुटिलवाण्या, हस्ती कुञ्जर इति यद् व्याहृतं कथितं, सा, सततं सर्वदाऽसमं विषमं सत्यमेवामृतरश्मिश्चन्द्रस्तस्य वैरं द्वेषं, संसूचयन्त्या अभिव्यञ्जयन्त्याः, श्रियो लक्ष्म्याः, पङ्कजसंश्रयेण कमलसम्पर्केण, मलिनः कुत्सित आरम्भो यस्यास्तथाभूता, विजृम्भा विचेष्टितमिति भावः, अभूदिति शेषः, शङ्के इत्यहं मन्ये। इदमत्र तात्पर्यम् यत्—पङ्कजाश्चन्द्रद्वेषिणो भवन्ति, लक्ष्म्याश्च स एव वासभूमिरिति तत्सम्पर्केण लक्ष्म्यपि चन्द्रद्वेषिणी संयातेति सम्प्रति राजलक्ष्मीः सत्यवचसो युधिष्ठिरस्यापि सत्यरूपं चन्द्रं द्विषन्ती "अश्वत्थामा मृत" इत्यसत्यं वक्तुं तं प्रेरयदिति।

विचारौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है--यथा ममेति। अश्वत्थामेति। अश्वत्थामा की मृत्यु की बात कहने के समय सत्यव्रती युधिष्ठिर ने झूठ-मूठ नरो वा कुञ्जरो वा" ऐसा कहकर हाथी का जो नाम ले लिया, वह युधिष्ठिर का दोष नहीं है अपितु कमल चन्द्रद्वेषी होते हैं और उस पर निवास करने के कारण लक्ष्मी की विचारधारा भी वैसी ही हो गयी है। इसलिये युधिष्ठिर के सत्यवचन-चन्द्र का द्वेष करती हुई राजलक्ष्मी के कुत्सित व्यापार की प्रथम शुरुआत है वह, ऐसी मेरी मान्यता है।

अत्र "द्रोणनिधनाख्याने सत्यव्रतोत्साहवता धर्मतनयेनापि मिथ्या लघुवचसा कुञ्जर इति यदुक्तं सा सततं सत्यचन्द्रद्वेषं सूचयन्त्याः श्रियः

शङ्के पङ्कजसंश्रयेण मलिनव्यापारा विजृम्भे"त्यभिहिते ससंवादलक्ष्मी-स्वभावपरिभावनया तत्त्वावबोधेन मूलविश्रान्त्या फलपर्यवसायी विचारः सहृदयसंवेद्यमौचित्यं व्यनक्ति।

अस्मिन्पद्ये "द्रोणाचार्यमृत्युकथनप्रसङ्गे, सत्यवादिना युधिष्ठिरेणापि, स्वल्पोच्चारणपूर्वकं हस्तीति मिथ्या यत्कथितं सा सत्यचन्द्रविरोधं व्यञ्जयन्त्या लक्ष्म्या कमलावासरूपसम्पर्केण कुत्सितारम्भम् व्यवसितमित्यहं मन्ये" इति प्रतिपादिते ससंवादलक्ष्मीस्वभावपरिभावनया सकलहृदय-सम्मतलक्ष्मीस्वभावपरिज्ञानात्मकेन तत्त्वावबोधेन वस्तुस्थितिज्ञानेन मूलविश्रान्त्या मूलाधारस्थित्या, फलपर्यवसायी फले पर्यवसन्नो विचारः सहृदयसंवेद्यं सहृदयहृदयसंवेद्यमौचित्यं व्यनक्ति।

इस पद्य में 'द्रोणाचार्य की मृत्यु के कथन-क्रम में सत्यवादी युधिष्ठिर ने भी झूठ-मूठ हाथी का जो नाम ले लिया वह सर्वदा सत्यरूपचन्द्र के विरोध को सूचित करती हुयी, कमल पर निवास करने के कारण उसके सम्पर्क से लक्ष्मी के कदाचरण की भूमिका है, ऐसा मैं मानता हूँ" इस कथन से लक्ष्मी के सर्व-जनानुमोदित स्वभाव का ज्ञान हो जाता है जिससे झूठ बोलने में युधिष्ठिर का दोष नहीं है अपितु यह राजलक्ष्मी की प्रतिक्रिया है ऐसा विचार मूल से उठकर फल में पर्यवसन्न होता हुआ एक ऐसे औचित्य को व्यक्त करता है जो कि सहृदयहृदयमात्र संवेद्य है।

न तु यथा मम तत्रैव—

प्रग्लाने चिरकालवृत्तदयिताकेशाम्बराकर्षणे
क्रूरं राक्षसवैशसं यदि कृतं भीमेन दुःशासने।
तत्कालक्षमिणा कुशाश्मपरुषारण्यप्रवासे चिरं,
किं पीतं तततापमग्नमहिषस्वेदाम्बुपृक्तं पयः॥

विचारानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह— न तु यथा मम तत्रैवेति। प्रग्लान इति। चिरकाले त्रयोदशतमे वर्षे व्यतीते इति यावत् वृत्ते सम्पन्ने, दयितायाः प्रेयस्या द्रौपद्या इति भाव, केशाम्बरयोः केशस्य वस्त्रस्य चाकर्षणे आकर्षणजन्यपराभवे इति भावः, प्रग्लाने परिम्लाने सति, भीमेन, दुःशासने, क्रूरं निर्दयं, राक्षसवैशसं राक्षसोचितं शोणितपानरूपं कर्म, यदि, कृतं सम्पादितं, तदा तत्कालक्षमिणा सद्यःकृतापराधकाल-

क्षमिणा तेन, चिरं बहुकालं यावत्, त्रयोदशवर्षपर्यन्तमिति भावः, कुशाश्मभ्यां तीक्ष्णकुशपरुषप्रस्तराभ्यां परुषं कठिनं यदरण्यं वनं, तस्य प्रवासे, ततो विस्तृतो यस्तापो रौद्रस्तेन मग्ना जले ब्रुडिता ये महिषास्तेषां स्वेदाम्बुभिः स्वेदजलकणैः पृक्तं मिश्रितं, पयो जलं, किं किमथं पीतम् ? एतादृशमेव क्रूरं कर्म यदि करणीयमासीत्तदैतत्कालपर्यन्तमरण्यवासक्लेशः किमर्थमङ्गीकृत इति भावः।

विचारानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिए कहा गया है--न तु यथा ममेति। प्रग्लान इति। भरी सभा में दुःशासन ने केश और वस्त्र खींचकर द्रौपदी का अपमान किया था इस बात को बीते तेरह वर्ष हो गये थे, बात पुरानी पड़ गयी थी, उस समय में भीम ने भी इसे सह ही लिया था फिर इतने दिनों के बाद (महाभारत-युद्ध के समय) दुःशासन का रक्तपानरूप राक्षसोचित दुष्कर्म यदि भीम को करना ही था तो जंगल के कुश और पत्थरों में भटकते हुए, गर्मी के मारे जल में आकण्ठनिमग्न भैंसों के पसीनों से कुस्वादु पानी पीने का कष्ट अब तक क्यों सहते रहे ?

अत्र भीमसेनचरिते विचार्यमाणे त्रयोदशवर्षपर्युषिते कृष्णाकेशाकर्षणपराभवे भीमेन भीमं राक्षसकर्म दुःशासने यदि कृतं तत्सद्यः कृतार्द्रापराधकालक्षमिणा सुचिरं दर्भसूचीविषमाश्मपरुषवनवासे किं ग्रीष्मतापनिमग्नमहिषस्वेदस्रुतिपृक्तं पयः पीतमित्यनुपपन्नकृत्येऽभिहिते कारणविचाराभावान्निर्मूलोपालम्भमात्रमनौचित्यमनुबध्नाति ॥३७॥

अस्मिन्पद्ये भीमचरित्रे विवच्यमाने द्रौपदीकेशाकर्षणजन्यपराभवे त्रयोदशवर्षपूर्वं व्यतीते सति, भीमेन भयानकं राक्षसोचितशोणितपानरूपं कर्म दुःशासने यदि विहितं तर्हि सद्योविहितस्यार्द्रापराधस्य समये क्षमाकारिणा तेन, बहुदिनं यावत् दर्भाग्रनिम्नोन्नते कठिने च वनवासे तत्काले इति भावः, किमथं ग्रीष्मतापेनाकण्ठजलमग्नानां महिषाणां, स्वेदाम्बुकणिकाभिः संयुक्तं जलं पीतम् ?, इतीत्थंरूपेण भीमस्यायुक्ते कार्ये उक्ते, कारणविचाराभावात्तादृशक्रूरकर्मकरणे यन्महत्तरं प्रतिज्ञारूपकारणमासीत्तस्य विचाराभावान्निर्मूलापालम्भमात्रं निरर्थकानिन्दा[illegible]मात्रमनौचित्यं विचारकृतानौचित्यमनुबध्नाति प्रकटयति।

इस पद्य में "भीमसेन के चरित्र का विचार करते समय द्रौपदी चीरहरणरूप विपत्ति के बीते तेरह वर्ष हो जाने पर भीमसेन से दुःशासन के रक्तपान

के जैसा भयानक और राक्षसोचित काम यदि किया ही तब उस समय में उस अपराध को क्षमा करके तेरह वर्षों तक जंगलों में भटकते हुए धूप की गर्मी से आकण्ठनिमग्न भैसों के पसीने से युक्त जल पीने का कष्ट क्यों स्वीकार किया ? अर्थात् यह कर्म उनका उचित नहीं हुआ" ऐसा जो कहा गया है उसमें कारण के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है. ऐसा प्रतीत होता है कि केवल उपालम्भ देना मात्र कवि का अभीष्ट है इससे विचारकृत अनौचित्य स्पष्ट उद्भासित हो जाता है ॥ ३७ ॥

नामौचित्यं दर्शयितुमाह—

नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः ।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी ॥ ३८ ॥

काव्यस्य कर्मानुरूपेण नाम्ना पुरुषस्येव गुणदोषव्यक्तिः संवादिनी ज्ञायते ।

विचारौचित्यविवेचनात्परं सम्प्रति क्रमप्राप्तं षड्विंशतितमं नामौचित्यं मीमांसितुमुपक्रमते—**नाम्नेति** । कर्मणः कार्यस्यानुरूपेण समुचितेन, नाम्ना नामधेयेन, काव्यस्य कविकृतेः, पुरुषस्य मनुष्यस्येव, गुणदोषयोः, संवादपातिनी संवादिनी, व्यक्तिरभिव्यक्तिः, ज्ञायतेऽवगम्यते ।

कारिकार्थमेव विशदयति—**काव्यस्येति** । यथा पुरुषस्य मानवस्य, कर्मानुरूपेण नाम्ना, गुणदोषयोरभिव्यक्तिः संवादिनी जायते तथैव काव्यस्यापि गुणदोषयोरभिव्यक्तिः कर्मानुरूपेणाभिधेयेन संवादिनी प्रतीयते ।

विचारौचित्य का विचार करके अभी छब्बीसवें नामौचित्य की विवेचना करने के लिये कहा जा रहा है—नाम्नेति । जैसे कार्य के अनुरूप नाम से पुरुषों के गुण-दोषों की अभिव्यक्ति हो जाती है उसी तरह कर्म के अनुरूप नाम के प्रयोग से काव्य के गुण-दोषों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ।

कारिका की ही व्याख्या की जा रही है—काव्यस्येति । जैसे मनुष्यों के कर्मानुसार नाम से उनके गुण-दोषों का पता चल जाता है वैसे ही काव्यों के गुण-दोषों की अभिव्यक्ति भी उनके प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप नाम से ही होती है ।

यथा कालिदासस्य—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः
प्रथममपि मतो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।

किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥

नामौचित्यमुदाहर्तुमाह यथा कालिदासस्येति। इदमिति। असुलभस्य दुर्लभस्य, वस्तुनः प्रियाया इति भावः, प्रार्थनया कामनया हेतुना, दुर्निवारोऽनिवार्य इति भावः, पञ्चबाणः कामः, प्रथममपि प्रारम्भ एव, मे मम, मनश्चित्तं क्षिणोति शकलीकरोति, मलयवातेन मलयानिलेनान्दोलितानि कम्पितान्यापाण्डूनि पाण्डुरवर्णानि पत्राणि येषां तैरुपवनसहकारैरुपवनस्थिताम्रवृक्षैस्तद्द्वारेत्यर्थः, दर्शितेष्वसंख्येयेष्वङ्कुरेषु किमुत? इति न जाने—इति तात्पर्यम्।

नामौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा कालिदासस्येति। इदमिति। अलभ्य वस्तु (प्रियतमा) की प्रार्थना (कामना) करने के कारण दुर्निवार बने हुए इस पंचवाण (कामदेव) ने पहले से ही तो मेरे मन को खंड-खंड कर रखा है, मलयानिल से आन्दोलित पीले पत्तोंवाले उपवनस्थित आम्रवृक्षों के द्वारा अंकुरों के प्रदर्शन से न जाने अब क्या करने का विचार है?

अत्र प्रारम्भ एव ममेदं मनः पञ्चबाणः सुदुर्लभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः शकलीकरोति किमुत लीलोद्यानसहकारैर्मलयानिलान्दोलितबालपल्लवैरङ्कुरेषु दर्शितेष्वित्युक्ते मदनस्य पञ्चबाणाभिधानमुचितमेव।

अस्मिन्पद्ये, पूर्वमेव ममेदं मनः पञ्चसायको मदनः प्रियतमायाः कामनया दुर्निवारः सन्, शकलीकरोति, सुरभिनवातकम्पितप्रवालैरुपवनस्थाम्रवृक्षैरङ्कुरेषु दर्शितेषु किमुत? इत्युक्ते कामदेवस्य 'पञ्चबाण' इति नामोपादानं नितरां समुचितम्। अर्थात् हृदयभेदनरूपकर्मकारिणः पञ्चबाण एव संज्ञोपयुक्तास्ति, यद्यत्रैव "अनङ्ग" इत्युच्येत न तर्हि समुचितं स्यात्तस्मादत्र—कर्मोचितपञ्चबाणनाम्ना नाम्न औचित्यमत्यन्तं समुज्ज्वलमिति ज्ञेयम्।

इस पद्य में "पहले ही मेरे इस मन को अलभ्य वस्तु (प्रियतमा) की प्रार्थना (प्राप्तिकामना) से अपरिहार्य पंचबाण कामदेव) ने तो खंडखंड कर रखा है, अब मलयानिल के झोंके म डोलते हुए किसलय वाले उपवनस्थ सहकार (आम्र) वृक्षों के द्वारा नये-नये अंकुरों को दिखाकर न जाने क्या करना चाहता है? अर्थात् जब पाँच ही बाण उसके पास थे तब तो मेरी ऐसी दशा हो गयी थी, अब असंख्य बाणों वाला बनकर वह क्या कर देगा, इसका पता नहीं,

इस तरह के कथन में कामदेव को पंचबाण के नाम से जो अभिहित किया गया है उससे उसके नाम का औचित्य अत्यन्त परिस्फुट हो जाता है, क्योंकि हृदय-भेदनरूप कर्म करने वाले काम को पंचबाण होना ही चाहिये। यहीं पर यदि अनङ्ग कहा गया होता तो अनुचित होता, इसलिये यहाँ नामौचित्य का बड़ा ही मार्मिक रूप उपस्थित हो जाता है।

यथा वा मम बौद्धावदानलतायाम्—

तारुण्येन निपीतशैशवतया साऽनङ्गशृङ्गारिणी,
तन्वङ्ग्या सकलाङ्गसङ्गमसखी भङ्गिर्नवाङ्गीकृता।
निःसंरम्भपराक्रमः पृथुतरारम्भाभियोगं विना,
साम्राज्ये जगतां यया विजयते देवो विलासायुधः॥

नामौचित्यस्य द्वितीयमुदाहरणमुपस्थापयितुमाह—यथा वा ममेति। तारुण्येनेति। तारुण्येन यौवनेन, निपीतं कवलितं विनाशितमिति यावत्, शैशवं बाल्यावस्था यस्यास्तस्या भावस्तत्ता तया हेतुना, तन्वङ्ग्या कृशाङ्ग्याऽनङ्गशृङ्गारिणो कामव्यञ्जकशृङ्गारवती, सकलाङ्गसङ्गमसखी सकलावयवसम्पर्किणी, सा तादृशी, नवा नूतना, भङ्गिः क्रमोऽङ्गीकृता स्वीकृता. यथा तन्वङ्गीभङ्गया, निःसंरम्भोऽयत्नसिद्धः पराक्रमो यस्यैवंभूतो विलासो विभ्रम एवायुधं शस्त्रं यस्य, स देवः कामदेवः पृथुतरारम्भाभियोगं प्रभूततरारम्भसम्भारं विनैव, जगतां त्रैलोक्यस्य, साम्राज्ये, विजयते सर्वोत्कृष्टतया जयं लभते।

नामौचित्य का द्वितीय उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथा वा ममेति। तारुण्येनेति। तारुण्य के द्वारा शैशव के समाप्त कर दिये जाने पर कृशाङ्गी ने कामव्यञ्जकशृंगारवाली और सभी अंगों के साथ मित्रता रखने वाली एक ऐसी भंगी को अपना लिया है जिससे अयत्नसिद्धपराक्रम वाले विलासायुध (कामदेव) को विना कुछ किये ही तीनों लोकों की विजय मिल गयी है।

अत्र "यौवननिपीतशैशवतया तन्वङ्ग्याऽनङ्गशृङ्गारवती सर्वाङ्गसङ्गमसखी सा काप्यभिनवा भङ्गिरङ्गीकृता यया निष्प्रयत्नपराक्रमः प्रभूततरारम्भसम्भारं विहाय त्रिभुवनसाम्राज्ये जयति देवो विलासायुधः" इत्युक्ते कामस्य विलासायुध इति नामोपपन्नमेव, तन्वङ्गीभङ्ग्यैव सिद्धत्रैलोक्याधिपत्यविजिगीषायां कामसायकादीनां नैरर्थक्यात्।

अस्मिन्पद्ये "तारुण्यदूरीकृतबाल्यया कृशाङ्ग्या कामव्यञ्जकशृङ्गारशालिनी, सकलावयवकृतसख्या तादृशी काप्यभिनवैव भङ्गिः स्वीकृता यया भङ्ग्यैवायत्नसिद्धप्रभावो निरतिशयारम्भसाधनं विनैव त्रैलोक्यराज्ये देवो विलासायुधो जयति" इत्युक्ते कामस्य—"विलासायुध" इति नामधेयमुपपन्नं सुयुक्तमेव। तन्वङ्गीभङ्ग्यैव सिद्धत्रैलोक्याधिपत्यविजिगीषायां समुपपन्नलोकत्रयविजयेच्छायां सत्यां, कामसायकादीनामुन्मादनः शोषणश्चेत्यादिपञ्चबाणसायकादीनां नैरर्थक्याद्वृथात्वात्।

इस पद्य में "यौवन के द्वारा बाल्यावस्था समाप्त कर दिये जाने पर कृशाङ्गी ने कामव्यञ्जक शृंगार से युक्त, सभी अंगों से मित्रता रखने वाली, एक ऐसी भङ्गी का आविष्कार कर लिया है जिससे अयत्नसिद्ध प्रभाव वाले भगवान् विलासायुध (कामदेव) विना विशेषसाधन के ही तीनों लोकों के साम्राज्य में विजयी हो रहे हैं" ऐसा कहने के क्रम में कामदेव का जो "विलासायुध" (विलास ही है आयुध जिनका) नाम दिया गया है वह पूर्णतः उपयुक्त है, क्योंकि जब कृशाङ्गी की भङ्गी से ही तीनों लोकों की विजयेच्छा सिद्ध हो जाती हैं तब पंचबाण, पंचसायक आदि नामों की निरर्थकता एकदम स्पष्ट हो जाती है।

न तु यथा कालिदासस्य—

> क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
> तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा। भस्मावशेषं मदनं चकार॥

नामानौचित्यमुदाहर्तुमाह—न तु यथा कालिदासस्येति। क्रोधमिति। हे प्रभो स्वामिन्! क्रोधं कोपं, संहर संहर निवर्त्तय निवर्त्तय, "चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम्" इति वार्तिकेन शीघ्रतायां द्वित्वमिति भावः, इत्येवं मरुतां देवानां गिरो वाचः, खे व्योम्नि, यावच्चरन्ति प्रवर्तन्ते, तावत्तत्कालमेव, भवस्य हरस्य, नेत्राज्जन्म यस्य स भवनेत्रजन्मा हरतृतीयनेत्रसमुद्भव इति भावः, स विश्रुतपूर्वो वह्निरग्निर्मदनं, कामदेवं भस्मैवावशेषो यस्य तं भस्मावशेषं चकार कृतवान्, ददाहेत्यर्थः।

नामानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथा कालिदासस्येति। क्रोधमिति। हे प्रभो! क्रोध को रोकिये-रोकिये! ऐसी देवताओं की वाणी जब तक आकाश में ही गूंज रही थी—तब तक महादेव के तृतीय नेत्र

से उत्पन्न उस लोकत्रय-संहारक अग्नि ने कामदेव को जलाकर भस्मावशेष कर डाला।

अत्र "पश्यतो भगवतस्त्रिनेत्रस्य स्मरशरनिपातक्षोभे वर्ण्यमाने तन्निकारोपशमाय 'संहर संहर प्रभो क्रोधमि'ति यावद्वचः खे देवानां चरति तावद्भवनेत्रोद्भवः स वह्निर्मदनं भस्मराशिशेषकमकार्षीत्" इत्युक्ते संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानमनुचितमेव ॥ ३८ ॥

अस्मिन्पद्ये "तृतीयनेत्रेणावलोकयतो भगवतस्त्रिलोचनस्य स्मरशराणां कामबाणानां निपातेन निपतनेन, यः क्षोभस्तस्मिन्वर्ण्यमाने तन्निकारोपशमाय स्मरशरनिपातजन्यक्रोधरूपपरिभवविनाशाय 'प्रभो! क्रोधं संहर संहर' इति देवानां वचो यावदाकाशे चरति तावदेव भवनेत्रोत्पन्नो वह्निः कामदेवं भस्मीकृतं चकार" इत्युक्ते संहारावसरे कामदेवस्य संहारसमये रुद्रस्य हरस्य भवाभिधानं भवेतिनामधेयमनुचितमयुक्तमेव। हरेति नाम समुचितं स्यात् यतो हि भवति जगदस्मादितिव्युत्पत्त्या भवस्य निष्पादकोऽर्थः सम्भवति। विनाशकालेऽत्र तस्य नाम्नोऽनौचित्यं स्पष्टमेव। हरति विनाशयति जगदितिव्युत्पत्तियोगिहरेति नाम नितरामौचित्यमावहेत्, तत्त्वत्र न प्रतिपादितमित्यनौचित्यं नाम्न इति बोध्यम्। अत्र केचित् भवस्य न विनाशं प्रति सांक्षात्सम्बन्धस्तस्य तु वह्निसमुत्पादन एव गतार्थत्वमित्यत्र संहारावसरेऽपि वह्निजन्मरूपोत्पादनप्रसङ्गेन न भवेतिनाम्नो नैरर्थक्यमित्याभाषन्ते।

मादृशास्तु—भवेतिनामधेयं नितरामेवात्रोपयुक्तं यतो ह्यनेन जगज्जनकवासनाधिवर्धकस्य कामकृतशरनिपातस्याक्षम्यापराधत्वं व्यज्यते, येन च जगत्पितुरपि नेत्रात्सहजसुलभवात्सल्यमपेक्ष्य वह्नेरेवाभूत्प्रादुर्भाव इत्यभिप्रायाय विशेषावबोधो जायते, हरेति नामकरणेन नैवं समुपपद्येतेत्युपयुक्तमेव भवनामकरणमित्यामनन्ति।

वस्तुतस्तु साधारणतयाऽत्र संहारस्यैवावसर इति भवेत्यभिधानमनौचित्यं व्यञ्जयत्येवेति सुधियो विभावयन्तु ॥ ३८ ॥

इस पद्य में "तीसरे नेत्र से देखते हुए भगवान् त्रिलोचन के स्मरशरनिपातजन्य क्षोभ के वर्णन-क्रम में उसकी शान्ति के लिये 'हे! प्रभो क्रोध शान्त कीजिये' ऐसी देवताओं की वाणी जबतक आकाश में ही घूम रही थी, महादेव सुन भी

=हीं पाये थे तबतक 'भव' के तृतीय नेत्र से उत्पन्न उस प्रलयकारी वह्नि ने कामदेव को जलाकर राख कर दिया" इस तरह के कथन में महादेव का "भव" नाम का जो उपादान हुआ है वह बहुत ही अनुचित है, क्योंकि संहार करते समय रुद्र "भव" न रहकर "हर" हो जाते हैं, इसलिये "हर" कहना ही उपयुक्त होता, परन्तु वैसा न करके 'भव' जो कह दिया गया उससे नाम का अनौचित्य ही पूर्णतः व्यक्त होता है।

यहाँ पर कुछ आलोचक यह कहकर इस अनौचित्याक्षेप का खंडन करते हैं कि—"अवसर संहार का ही है, परन्तु पद्य के तृतीय चरण में अग्नि के जन्म की बात अवसर प्राप्त है। शंकर के नेत्र से अग्नि का जन्म हो रहा है और वही अग्नि मदन को जलाने में कृतकार्य होती है। यहाँ शंकर का काम केवल अग्नि का उत्पादन मात्र है मदन-भस्म करने से उनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में "भव" शब्द का कालिदासीय प्रयोग औचित्य की सीमा के भीतर ही है।"

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने जानबूझकर "भव" शब्द का ही प्रयोग यहाँ किया है। कारण—प्रायः उनका अभिप्राय यह था कि कामदेव ने ऐसा अक्षम्य अपराध किया, जिससे भव (जगत्पिता) की आँख से भी वात्सल्य नहीं बरस कर अग्निकण ही बरसने लगे, उसका जैसा भीषण फल होना चाहिये, हुआ। इस तरह कविकुलगुरु कालिदास 'भव' इस प्रयोग के द्वारा कामदेवकृत कर्म की अतिभीषणता, अथ च अक्षम्यता अभिव्यक्त करना चाहते हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'भव' पदप्रयोग अनुचित नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत इस व्याख्या के अनुसार "हर" पद का प्रयोग ही समुचित नहीं होता, क्योंकि जो सदा "हर" है वह तो साधारण अपराध पर भी सहारलीला रचा सकता है, अतः इस पद के द्वारा काम के अपराध की वह गंभीरता व्यक्त नहीं होती जिसकी अभिव्यक्ति कवि को अभीष्ट थी।

अस्तु, यह सब होते हुए भी संहार के अवसर पर साधारणतया "भव" पद का प्रयोग अनुचित्त प्रतीत होता ही है, इसलिये नामानौचित्य के प्रसंग में की गयी आलोचना भी उचित ही है।

एक बात और यहाँ ध्यान देने योग्य है कि "नाम्ना कर्मानुरूपेण"—इस कारिका और उनकी वृत्ति के अनुसार किसी काव्य के नामकरण के सम्बन्ध में औचित्यानौचित्य का विचार प्रस्तुत प्रतीत होता है, परन्तु यहाँ उदाहरण-

प्रत्युदाहरणों से व्यक्तिविशेष के अनेक नामों में से स्थल विशेष में किसी खास नाम का औचित्यकारी दिग्दर्शन कराया गया है। ऐसा क्यों हुआ है—यह विचारणीय है ३८ ॥

आशीर्वचनौचित्यं दर्शयितुमाह—

पूर्णार्थदातुः काव्यस्य सन्तोषितमनीषिणः।
उचिताशीर्नृपस्येव भवत्यभ्युदयावहा ॥ ३९ ॥

सम्पूर्णसमर्पकस्य सन्तोषितविदुषः काव्यस्य नृपतेरिवोचितमाशीः-पदमभ्युदयावहं भवति।

नामौचित्यविवेचनानन्तरं प्राप्तावसरं सप्तविंशतितममाशीर्वादौचित्यं परिभाषितुमाह पूर्णार्थदातुरिति। पूर्णार्थदातुर्निराकाङ्क्षाभिधेयबोधकस्य, पक्षान्तरे यथेष्टधनप्रदायकस्य, (अत एव) सन्तोषितास्तुष्टीकृता मनीषिणो विद्वांसो येन तस्य सन्तोषितमनीषिणः पक्षद्वयेऽपि तुल्यमेतत्, यतो ह्यर्थज्ञानेन धनोपलब्ध्या च विद्वांसस्तुष्टा भवन्त्येव। एवंभूतस्य, नृपतेः राज्ञ इवोचिताशीःसमुचिताशीर्वचनमभ्युदयावहा कल्याणप्रदा भवति जायते।

कारिकार्थमेव विशदयितुमाह—सम्पूर्णेति। यथा सम्पूर्णसमर्पकस्य सर्वस्वदातुरत एव सन्तोषितमनीषिणस्तुष्टीकृतविदुषः नृपतेर्भूपतेरुचितमनुरूपमाशीःपदमाशीर्वादवचनमभ्युदयावहं कल्याणकारकं भवति तथैव सम्पूर्णसमर्पकस्य निःशेषार्थावबोधकस्यात एव सन्तोषितमनीषिणः सन्तुष्टीकृतविदुषः काव्यस्याप्युचितं समुचितमाशीःपदमभ्युदयावहं कल्याणकारकं भवति जायते।

नामौचित्य की विवेचना कर चुकने के बाद अभी अवसर प्राप्त होने पर सत्ताइसवें आशीर्वचनौचित्य की परिभाषा की जा रही है—पूर्णार्थदातुरिति। यथेष्ट धन देने के कारण जिसने विद्वानों को सन्तुष्ट कर दिया है ऐसे राजा के प्रति व्यवहृत आशीर्वचन की आकांक्षा शान्तिकारक अर्थ के प्रतिपादन से जिसने विद्वानों को प्रसन्न कर दिया है वैसे काव्य के आशीर्वादसूचक वचन भी कल्याण-कारक होते हैं।

कारिका की ही व्याख्या करने के लिये कहा गया है—सम्पूर्णसमर्पकस्येति। जैसे सर्वस्वदान से विद्वानों को संतुष्ट कर देनेवाले राजा के प्रति व्यवहृत अनुरूप आशीर्वचन कल्याणकारक होते हैं उसी तरह आकांक्षारहित सम्पूर्ण अर्थ के ज्ञान के द्वारा विद्वानों को प्रसन्न कर देने वाले काव्य का भी अनुरूप आशीर्वचनसूचक

पद का प्रयोग अत्यन्त कल्याणकारक होता है।

यथाऽस्मदुपाध्यायगाङ्गकस्य—

> स कोऽपि प्रेमार्द्रः प्रणयपरिपाकप्रचलितो
> विलासोऽक्ष्णां देयात्सुखमनुपमं वो मृगदृशाम्।
> यदाकूतं दृष्ट्वा पिदधति मुखं तूणविवरे,
> निरस्तव्यापारा भुवनजयिनः पञ्चविशिखाः॥

आशीर्वचनौचित्यमुदाहर्तुमाह—यथाऽस्मदुपाध्यायगाङ्गकस्येति। स कोऽपीति। प्रेमार्द्रः प्रेम्णा स्नेहेनार्द्रो विगलितप्रायः, प्रणयस्य प्रीतेः परिपाकेन परिणत्या, प्रचलितः, स कोप्यनिर्वचनीयः, मृगदृशां हरिणलोचनानामक्ष्णां, विलासो विभ्रमः, वो युष्मभ्यमनुपममुपमारहितमननुभूतपूर्वमित्यभिप्रायः, सुखमानन्दं देयात्, यदाकूतं यदभिप्रायं दृष्ट्वा विलोक्यावगत्येति भावः, भुवनजयिनस्त्रिभुवनसम्मोहनस्य कामदेवस्य पञ्चविशिखाः पञ्चसंख्यकाः सायका निरस्तव्यापारास्त्यक्तनिजकार्याः सन्तस्तूणविवरे तूणीररूपबिले, मुखं पिदधति लज्जया मुखं गोपयन्तीति तात्पर्यम्।

आशीर्वचनौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—यथाऽस्मदुपाध्यायेति। स कोऽपीति। जिसके अभिप्राय को जानकर त्रिभुवनमोहन कामदेव के पांचों बाण अपना व्यापार संवृत करके लज्जा से तूणीर रूप बिल में मुख छिपा लेते हैं, उस प्रणय की परिणति से चलायमान, पवित्र-प्रेम से आर्द्र, मृगलोचनाओं की आँखों का अनिर्वचनीय विलास तुम्हें अपूर्व सुख प्रदान करे।

अत्र "स कोऽप्यसामान्यार्द्रप्रणयविश्रान्तिप्रगल्भकुरङ्गदृशां निरुपमो नयनविलासः, वो सुखं देयात्, यदभिप्रायमालोक्य भुवनजयिनः कामस्य पञ्चसायकाः समाप्तव्यापारास्तूणीरविवरे लज्जयेव मुखं पिदधती"-त्युक्ते सुखं वो देयादित्याशीःपदमुचितमेव प्रियानयनविभ्रमस्य सुखार्पणयोग्यत्वात्।

अस्मिन्पद्ये "सामान्येनासाधारणेन प्रेम्णाऽऽर्द्राणां द्रुतानां, प्रणयस्य प्रीतेर्विश्रान्त्या, प्रगल्भानां प्रौढानाञ्च कुरङ्गदृशां मृगलोचनानां, स कोऽपि, निरुपमो विलक्षणो नयनविलासो वो युष्मभ्यं सुखं देयात्, यदभिप्रायं तात्पर्यमालोक्य दृष्ट्वा, भुवनजयिनो जगद्विजेतुः कामस्य पञ्चसायका बाणाः, समाप्तव्यापारा व्यापारशून्याः सन्तस्तूणीरविवरे लज्जयेवाननं पिदधती"त्युक्ते "सुखं वो देयात्" इत्याशीःपदमुचितं

समुचितमेव । तत्र कारणमाह—प्रियेति । प्रियानयनविभ्रमस्य प्रेयसीनेत्र-विलासस्य, सुखार्पणयोग्यत्वात्सुखप्रदानक्षमत्वात् ।

इस पद्य में "असाधारण प्रेम से आर्द्र और प्रणय-विश्रान्ति से, प्रगल्भ मृग-लोचनाओं की आँखों का वह अपूर्व विलास तुम्हें सुख प्रदान करे, जिसके अभिप्राय को जानकर जगद्विजेता कामदेव के पांचों बाण कर्तव्यरहित हो जाने के कारण लज्जा से तूणीररूप बिल में अपना मुँह छिपा लेते हैं" इस तरह के कथन में "वः सुखं देयात्—तुम्हें सुख प्रदान करे" यह जो आशीर्वचन प्रयुक्त हुआ है वह अत्यन्त समुचित है, क्योंकि प्रेयसी के नयन-विलास में सुख पहुँचाने की क्षमता अवश्य होती है, इसलिये यह आशीर्वचनौचित्य का स्पष्ट संकेत करता है।

यथा वा मम वात्स्यायनसूत्रसारे—

> कामः कामं कमलवदनानेत्रपर्यन्तवासी
> दासीभूतत्रिभुवनजनः प्रीतये जायतां वः ।
> दग्धस्यापि त्रिपुररिपुणा सर्वलोकस्पृहार्हा
> यस्याधिक्यं रुचिरतितरामञ्जनस्येव याता ॥

आशीर्वचनौचित्यस्योदाहरणान्तरमुपस्थापयितुमाह—यथा वा ममेति । काम इति । कमलवदनायाः सरोजाननायाः नेत्रयोर्नयनयोः, पर्यन्तयोः कोणयोर्वासी स्थितिमान्, दासीभूता वशीभूतास्त्रिभुवनस्य जगत्त्रयस्य जना लोका यस्यैवंभूतः, कामः कामदेवः, वो युष्माकम्, प्रीतये प्रमोदाय, कामं यथेष्टं यथा स्यात्तथा जायतां भवतु, त्रिपुररिपुणा शङ्करेण, दग्धस्य भस्मीकृतस्यापि यस्यानङ्गस्य, सर्वलोकस्पृहार्हा सकललोकस्पृहणीया, रुचिः कान्तिरञ्जनस्य कज्जलस्येवातितरामत्यन्तमाधिक्यमधिकतां याता लेभे ।

आशीर्वचनौचित्य का उदाहरणान्तर दिखाने के लिये कहा गया है—यथा वा ममेति । काम इति । कमलवदनाओं की आँखों के शोण कोणों में निवास करनेवाला, तीनों लोकों के मनुष्यों को वश में कर लेने वाला, वह कामदेव तुम्हारे आनन्द के लिये हो, शंकर के द्वारा दग्ध हो जाने पर भी जिसकी कान्ति ने कज्जल के समान और अधिकता को प्राप्त कर लिया है।

अत्र कामः प्रीतये वो जायतां यस्य दग्धस्याप्यञ्जनस्येवाधिक्यं रुचिर्यातीत्युक्ते प्रीतये जायतामित्युचितं, कामस्य प्रीत्यात्मकत्वात् ।

अस्मिन्पद्ये स कामो युष्माकं प्रीतये भवतु यस्य हरभस्मीकृतविग्रहस्यापि सौन्दर्यं कज्जलस्येवातितरां याता पुनर्दग्धमेवाञ्जनं यथातितरां स्पृहणीयतामायाति तथैवं कामो दग्धीकृतोऽपि नितरामेव सौन्दर्यमासादयेदिति भावः। इत्युक्ते "प्रीतये जायताम्" इत्युचितं समुचितं, यतो हि कामस्य प्रीत्यात्मकत्वात्प्रीतिरेवात्मा यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् प्रीतिरूपत्वादिति भावः, प्रीत्यात्मनस्तस्य प्रीतिप्रदानमुचितमिति बोध्यम्।

इस पद्य में "वह कामदेव तुम्हारे आनन्द के लिये ही दग्ध हो जाने पर भी कज्जल के समान जिसकी शोभा और भी अधिक बढ़ गयी है" इस कथन में "प्रीतये जायताम्" ऐसा जो कहा गया है वह अत्यन्त उचित है, क्योंकि कामदेव के प्रीत्यात्मक होने के कारण उसका प्रीति प्रदान करना युक्तिसंगत ही है। अतः यह भी आशीर्वचनौचित्य का द्योतक हुआ।

न तु यथाऽमरुकस्य—

आलोलामलकावलीं विलुलितां बिभ्रच्चलत्कुण्डलं,
किञ्चिन्मृष्टविशेषकं तनुतरैः स्वेदाम्भसां सीकरैः।
तन्वङ्ग्याः सुतरां रतान्तसमये वक्त्रं रतिव्यत्यये,
तत्त्वां पातु चिराय किं हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैः॥

आशीर्वचनानौचित्यं प्रदर्शयितुमाह—न तु यथाऽमरुकस्येति। आलोलामिति। रतिव्यत्यये विपरीतरतौ आलोलां कम्पनपरां, विलुलितामितस्ततो विक्षिप्तामलकावलीं चिकुरनिकरं बिभ्रद्धारयत्तथा, चलती लोलती कुण्डले यस्य तत्, तनुतरैरतिसूक्ष्मैः स्वेदाम्भसां स्वेदजलानां सीकरैः कणैः, सुतराम् स्वभावत एव किञ्चिन्मनागेव, मृष्टो धौतो विशेषस्तिलकं यस्मिन्नेवंभूतं, तन्वङ्ग्याः कृशाङ्ग्याः नायिकाया इति भावः, रतान्तसमये निधुवनसमाप्तिकाले, यद्वक्त्रमाननं तत्त्वां, चिराय बहुकालं यावत्, पातु रक्षतु, हरिहरस्कन्दादिभिर्विष्णुशिवकार्तिकेयप्रभृतिभिरन्यैर्दैवतैर्दैवैः किम् ? न किञ्चित् प्रयोजनमिति भावः।

आशीर्वचनानौचित्य का उदाहरण दिखाने के लिये कहा गया है—न तु यथाऽमरुकस्येति। आलोलामिति। विपरीतरति के समय इतस्ततो विक्षिप्त और कंपनशील घुंघराले बालों को धारण करता हुआ तथा डोलते हुए कुण्डलों से सुशोभित शरीर के पसीनों की बूंदों से स्वभावत एव कुछ कुछ मिटे हुए टीके (तिलक) से

युक्त, रतिसमाप्तिकालिक तन्वङ्गी का जो मुख है वह चिरकाल के लिये तुम्हारी रक्षा करे। हरि, हर, स्कन्द आदि देवताओं से क्या प्रयोजन है ?

अत्र "तन्व्या रतिव्यत्यये लोलालकं चलत्कुण्डलं स्वेदसलिलेन किञ्चिन्मृष्टतिलकं यन्मुखं तत्त्वां पातु, किं हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैः" इत्युक्ते पातु त्वामित्यनुचितम्, आनन्दयतु त्वामित्युचितं स्यात्।

अस्मिन्पद्ये "विपरीतरतौ चञ्चलचूर्णककेशपाशयुक्तं, लोलत्कुण्डलद्वयं स्वेदाम्बुना किञ्चिद्धौतविशेषकं, तन्व्याः कृशोदर्या यन्मुखं तत्त्वां पातु रक्षतु हरिहरस्कन्दप्रभृतिभिर्देवैः किम् ? "इत्युक्ते "त्वां पातु" इत्यनुचितमनौचित्यद्योतकम्, "आनन्दयतु त्वाम्" इत्युचितमनुरूपं स्यात्, यतो हि दयितामुखस्यानन्दप्रदान एव शक्तिमत्त्वात्, रक्षणे नितरामयोग्यत्वात्।

इस पद्य में "विपरीत रति के समय चंचल घुंघराले बालों से युक्त, डोलते हुए कुण्डलों वाला, स्वेदकणों से कुछ-कुछ मिटे हुए तिलकवाला कृशोदरी का जो कमनीय मुख है, वह तुम्हारी रक्षा करे। हरि, हर, कार्तिकेय आदि देवताओं से क्या प्रयोजन है ?" ऐसा कहने के क्रम में "त्वां पातु—तुम्हारी रक्षा करे" ऐसा जो कहा गया वह नितान्त अनुचित है। "त्वामानन्दयतु—तुम्हें आनन्द पहुँचावे" यह कहना उचित होता, परन्तु ऐसा न कह कर कवि ने वैसा जो कह दिया उससे आशीर्वचनानौचित्य का भान हो जाता है, जो काव्य की स्पृहणीयता के ऊपर कुठाराघात करता हुआ सा प्रतीत होता है।

अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणान्यानन्त्यान्न प्रदर्शितानीत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ३९ ॥

ग्रन्थसमाप्तिसूचनायाह—अन्येष्विति। अन्येष्वपरे वृत्तादिषु काव्याङ्गेषु काव्योपादानेष्वनयाऽनेनैव, दिशा प्रकारेणौचित्यं सदृशविधानरूपं, स्वयमात्मनैवोत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणान्यवशिष्टकाव्याङ्गौचित्योदाहरणान्यानन्त्यादपरिमितत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयेन न प्रदर्शितानि। इत्यतिप्रसङ्गेन निरर्थकातिकथनेनालं निरर्थकम्। अथान्येष्विति यदुक्तं तत्र वृत्तवर्णयोरौचित्यानौचित्ये स्वयमूहयित्वा दर्शयामि—

वृत्तौचित्यं यथा कालिदासस्य—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा,
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।

पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां,
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

अनौचित्यं यथा कस्यचिदज्ञातकवेः—

हा नृप हा बुध हा कविबन्धो,
विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव ! ।
मुग्ध विदग्ध सभान्तररत्न,
क्वासि गतः क्व वयञ्च तवैते ॥

उक्तपद्यद्वये "प्रावृट्प्रवासकथने मन्दाक्रान्ता विराजते" इति नियमात्प्रवासकथने मन्दाक्रान्ताया एवौचित्यं न तु दोधकस्येति, पूर्वत्र वृत्तस्यौचित्यं परत्र चानौचित्यमिति बोध्यम् । इदमत्राकूतं यत् न खलु सर्वाणि वृत्तानि सर्वत्रोपयुक्तानि भवन्त्येष वृत्तस्वभावः । अत एव यद् वृत्तं यद्वस्तुतत्त्वाख्याने समर्थं तत्र तत्प्रयोग औचित्यमावहति, तदन्यथाप्रयोगोऽनौचित्यमत एव प्रकृतेऽपि प्रवासकथनरूपविषयप्रतिपादने मन्दाक्रान्तैव युक्ता न दोधकमिति ।

वर्णौचित्यं यथा भवभूतेः—

झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं धनु-
र्ध्वनद्, गुरुगणाटनीकृताकरालकोलाहलम् ।
वितत्य किरतोः शरानविरतस्फुरच्चूडयो-
र्विचित्रमभिवर्धते भुवनभीममायोधनम् ॥

अनौचित्यं यथा कस्यचिदज्ञातकवेः—

उद्वर्तयति उल्लोटयति शयने कह्यपि मोट्टयति ।
नो परिघट्टयति हृदयेन स्फोटयति लज्जया खट्टयति धृतेः ॥

अत्र प्रथमं भीषणसङ्ग्रामोचितायाः धनुषां झणत्कृतेः, शस्त्रास्त्राणां खटत्कृतेश्च सूचनार्थं प्रयुक्तो वर्णविन्यास औचित्यमातनोति । परत्र च शृङ्गाररसाभिव्यञ्जकवर्णविन्यासमपहायानुप्रासार्थं टकारा आयोजिता यैश्च शृङ्गाररसोद्बोधे महानन्तरायः समुत्पन्नः । अत एवात्रानौचित्यं सम्पन्नम् । एवमेवान्यत्राप्यूह्यम् ।

ग्रंथ-समाप्ति की सूचना देने के लिये कहा गया है—अन्येष्विति । उपर्युक्त पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ आदि सत्ताइसों औचित्य की तरह दूसरे (वृत्त = छन्द और वर्ण = अक्षर आदि) काव्याङ्गों में भी स्वयं औचित्यानौचित्य का ऊह करना

चाहिये। इन सबके विचार ग्रंथ-विस्तार के भय से नहीं किये गये हैं, इसलिए अधिक कहना निरर्थक है। इसमें दूसरे काव्याङ्गों की बात जो कही गयी है तदनुसार मैंने स्वयं ऊह करके वृत्त (छन्द) और वर्ण के औचित्यानौचित्य के उदाहरण संस्कृत व्याख्या में दिखला दिये हैं। विज्ञ पाठक वहीं से उनका परिचय प्राप्त कर लेंगे ॥ ३९ ॥

आसीत् प्रकाशेन्द्र इति प्रकाशः काश्मीरदेशे त्रिदशेश्वरश्रीः ।
अभूद् गृहे यस्य पवित्रसत्त्रमच्छिन्नमग्रासनमग्रजानाम् ॥ १ ॥

स्वपरिचयादिप्रदानाय ग्रन्थकर्ता महाकविः क्षेमेन्द्रः "आसीदित्यारभ्य किलायं कृतः" इत्यन्तं प्रतिपादयति—आसीदिति। काश्मीरदेशे, प्रकाशेन्द्र—इति नाम्ना प्रकाशः प्रकाशते इति व्युत्पत्त्या प्रकाशमान इत्यर्थः, त्रिदशेश्वरश्रीरिन्द्रतुल्यकान्तिः कश्चिद् ब्राह्मण इति शेष आसीदभूत्, यस्य प्रकाशेन्द्रस्य गृहे, अच्छिन्नमत्रुटितं धारावाहिकरूपेण प्रवृत्तमित्यर्थः, पवित्रसत्त्रं पूतयज्ञोऽग्रजानां ब्राह्मणानामग्रासनं प्रथम स्थानं चाभूत् ॥ १ ॥

अपने परिचय और ग्रंथ-निर्माण के ऊपर प्रकाश डालने के अभिप्राय से ग्रंथकर्ता महाकवि क्षेमेन्द्र कह रहे हैं—आसीदिति। काश्मीर देश में प्रकाशेन्द्र नाम के इन्द्रतुल्य शोभाशाली एक ब्राह्मण थे, जिनके यहाँ धारावाहिकरूप मे पवित्र यज्ञानुष्ठान हुआ करते थे तथा ब्राह्मणों का बहुत आदर होता था ॥ १ ॥

यः श्रीस्वयंभूभवने विचित्रे लेप्यप्रतिष्ठापितमातृचक्रः ।
गोभूमिकृष्णाजिनवेश्मदाता तत्रैव काले तनुमुत्ससर्ज ॥ २ ॥

यः श्रीति। यः प्रकाशेन्द्रः, विचित्रेऽपूर्वे, श्रीस्वयम्भूभवने शोभाशीले ब्रह्ममन्दिरे, लेप्ये भित्तौ, प्रतिष्ठापितं निर्मितमालिखितमिति यावत्, मातृचक्रं देवीमूर्तियेन तादृशः, गवां भूमेः, कृष्णाजिनस्य कृष्णसारमृगचर्मणः, वेश्मनो गृहस्य च दाता सन्, काले समयप्राप्तौ, तत्रैव ब्रह्ममन्दिरे, तनु शरीरं, ससर्ज तत्याज ॥ २ ॥

यः श्रीति। जिन्होंने ब्रह्ममन्दिर में अनेक देवी-देवताओं के चित्र बनवाये, तथा गाय, भूमि, कृष्णाजिन और गृह का दान करते हुए वहीं समयानुसार मृत्युलाभ किया ॥ २ ॥

तस्यात्मजः सर्वमनोषिशिष्यः श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा ।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश्चक्रे नवौचित्यविचारचर्चाम् ॥ ३ ॥

तस्यात्मज इति । तस्य प्रकाशेन्द्रस्यात्मजः पुत्रः, सर्वमनोषिशिष्यः सकलविद्वदन्तेवासी, श्रीव्यासदासत्यपरं द्वितीयं, पुण्यं पवित्रं, नामाभिधानं यस्य स व्यासदासोपनामक इति भावः । अक्षयाऽविनाशिनो काव्यकीर्तिः काव्यनिर्माणजन्ययशो यस्य स क्षेमेन्द्र इति क्षेमेन्द्र नाम्ना रचितकाव्यप्रबन्ध इत्यर्थः, नवां नूतनामौचित्यविचारचर्चामौचित्यविचारचर्चानामकं प्रस्तुतं ग्रन्थं चक्र कृतवान् ॥ ३ ॥

तस्यात्मज इति । उन्हीं प्रकाशेन्द्र का पुत्र सभी प्रसिद्ध विद्वानों का अन्तेवासी व्यासदासापरनामक श्री क्षेमेन्द्र नाम से काव्यसर्जन करके अक्षयकीर्ति प्राप्त करने वाले विद्वान् ने "औचित्यविचारचर्चा" नामक नये ग्रंथ का निर्माण किया ॥ ३ ।

श्रीरत्नसिंहे सुहृदि प्रयाते शार्वं पुरं श्रीविजयेशराज्ञि ।
तदात्मजस्योदयसिंहनाम्नः कृते कृतस्तेन गिरां प्रपञ्चः ॥ ४ ॥

श्रीरत्नेति । श्रीविजयेशराज्ञि श्रीविजयपुराधीश्वरे, सुहृदि प्रियमित्रे, श्रीरत्नसिंहे तदाख्यनृपतो, शार्वं शैवं, पुरं नगरं शिवपुरीमिति भावः । प्रयाते गते मरणमासादिते सतीत्यर्थः, उदयसिंहनाम्नः उदयसिंहाभिधानस्य, तदात्मजस्य श्रीरत्नसिंहपुत्रस्य, कृते तत्प्रसन्नतायै इति भावः, गिरां काव्यवचसां, विचारो विमर्शः, कृतः सम्पादितः ॥ ४ ॥

श्रीरत्नसिंह इति । प्रियमित्र विजयपुरेश्वर श्रीरत्नसिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र श्रीउदयसिंह की प्रसन्नता के लिये ही मैंने काव्यों का यह परिशीलन किया ॥ ४ ॥

यस्यासिः परिवारकृत्त्रिभुवनप्रख्यातशीलश्रुतेः
सर्वस्यावनतेन येन नितरां प्राप्ता विशेषोन्नतिः ।
आशाः शीतलतां नयत्यविरतं यस्य प्रतापानल-
स्तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः ॥ ५ ॥

यस्यासिरिति । यस्यानन्तराजनृपतेरसिः कृपाणः, सर्वस्य त्रिभुवनप्रख्यातशीलश्रुतेः एकत्र यत्प्रशस्यसद्व्यवहारशास्त्रज्ञानस्य सज्जनस्य विदुषश्चेति यावत्, परिवारकृत् परिवाररूपेणैकत्र कारको यत्रापरेषां कृपाणो विध्वंसकारको भवति तत्रास्यासिर्निमाणकारकोऽभूदिति तात्पर्यम्, तथा-

ऽवनतेन प्रणतेन विनयानेति भावः, येन, नितरामत्यन्तं विशेषोन्नतिरत्यभ्युदयः, प्राप्ता लब्धा, एवमेव यस्य प्रतापानलः प्रतापाग्निराशा दिशोऽविरतं सततं, शीतलतां शैत्यं, नयति प्रापयत्यर्थादवानतस्योन्नत्याश्रयणमनलस्य च शैत्यकरणं साधारणतो विरुद्धमिवाभाति परन्त्वस्मिन् राजनीयानेव विशेषोऽस्ति यदुभयमपि सिद्ध्यति यच्च समुचितमेवेति भावः, तस्य प्रसिद्धस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः, काले समयेऽयं ग्रन्थः किलेति निश्चयेन कृतः समाप्तिं नीतः ॥ ५ ॥

यस्यासिरिति। जिसकी तलवार विध्वंसकार्य में न लगकर निर्माणकार्य में लगी हुयी थी, देशों को जीत-जीत कर सभी प्रसिद्ध सदाचारी और विद्वानों का एक परिवार ही बना डाला था, तथा विनय से अवनत होकर जिसने अपनी पूरी उन्नति की थी, एवं जिसके प्रतापानल से (विघ्नबाधा-समाप्ति के द्वारा) सभी दिशायें शीतलता का अनुभव करती थी उस राजा श्रीअनन्तराज के समय में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

इति श्रीप्रकाशेन्द्रात्मजव्यासदासापराख्यश्रीक्षेमेन्द्रकृता 'औचित्यविचारचर्चा' समाप्ता।

●

उपसंहारः

(१)

वेदेन्दुखाक्षिमित (२०१४) विक्रमवत्सरान्ते,
मासे तपस्यतिशुभे विमले दले च ।
मारे तिथौ विबुधमोदकृते प्रयत्नाद्
व्याख्यामिमामिह विधातुमहं प्रवृत्तः ॥

(२)

व्याख्योपयोगिशुभसाधनमन्तरापि,
सा पूर्णतामुपगताऽचिरकाल एव ।
सन्तोषकृद् यदि भवेत् सुधियां तदेव,
स्यादेष धीधनविहीनजनः कृतार्थः ॥

(३)

नवानीनामविख्यातो ग्रामः कश्चित्मदाश्रयः ।
वर्तते मिथिलाभूमौ विद्वद्वृन्दविराजितः ॥

(४)

तत्र मैथिल-भूदेव-तदन्वयसमुद्भवः ।
व्रजमोहननामास्ति विदुषामाश्रयो बुधः ॥

(५)

वैद्यकेन दृढः कायः काव्येन सरसं मनः ।
पूता वाक् शब्दशास्त्रेण यस्य सम्यग् विराजते ॥

(६)

तस्यैव प्रथमायास-परिणामोऽयमेधते ।
विद्वांसोऽत्र मतिं कुर्युर्हंसवंशावतंसवत् ॥

इति दरभंगामण्डलान्तर्गत 'नवानी'ग्रामवास्तव्यमैथिलब्राह्मण-
वंशावतंस-व्याकरणसाहित्यायुर्वेदाचार्याचार्य श्रीमोहन-
झाशास्त्रिणा कृता 'औचित्यविचारचर्चाः 'प्रभा'
नामिका संस्कृत-हिन्दीव्याख्या समाप्ता ।

●

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

●
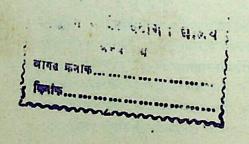
कतिपय परीक्षोपयोगी प्रकाशन

१ रघुवंशमहाकाव्यम प्र० सर्ग। 'चन्द्रकला' सं० हि० व्या०—शेषराजशर्मा २–५०
२ रघुवंशमहाकाव्यम्। 'विमला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्या। श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
द्वितीय २-५०, तृतीय ३-००, ४-५ ५ ००, ६-७ ६-००, १३-१४ ५-००
३ हितोपदेश : मित्रलाभ। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराजशर्मा ६–५०
४ लघुसिद्धान्तकौमुदी। 'शिवाख्य' सं० हि० टीका—गोमतीप्रसादशास्त्री १०–००
५ तर्कसंग्रह—पदकृत्य। हिन्दीटीकासहित-श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी' ३–००
६ कुमारसम्भव। 'विमला' संस्कृत-हिन्दीटीका—पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी
१–२ सर्ग ५–५० तृ० सर्ग २–२५ च० स० २–२५ पञ्चमसर्ग २–५०
७ स्वप्नवासवदत्ता। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी' ८–००
८ नीतिशतकम्। 'विमला' संस्कृत—हिन्दीव्याख्योपेतम्—कृष्णमणित्रिपाठी ३–५०
९ छन्दोमञ्जरी। (प्रमाणिक-संस्करण)। 'सुषमा'-'सफला' संस्कृत-
हिन्दी व्याख्या युक्त। व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ५–००
१० काव्यमीमांसा। 'विमला' संस्कृत-हिन्दी टीका। १–५ अध्याय ४–५०
११ पञ्चतन्त्र। अपरीक्षितकारक। 'विमला' सं० हि० टीका। कृष्णमणित्रिपाठी ४–००
१२ संस्कृत व्याकरणम्। (अनु० खण्ड—निबन्धखण्ड सहित)-पं० रामचन्द्रझा ८–००
१३ सांख्यकारिका। 'सांख्यप्रकाश' सं० हि० टीका। श्रीकृष्णमणित्रिपाठी ६–००
१४ वेदान्तसार। 'भावबोधिनी' सं० हि० टीका—श्रीरामशरणत्रिपाठी ६–००
१५ मेघदूत। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी' १४–००
१६ अनुवादचन्द्रिका। (सर्वांगपूर्ण संस्करण)। डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी १०–००
१७ दशरूपक। 'चन्द्रकला' हि० टीका सहित—डॉ० भोलाशंकर व्यास १८–००
१८ साहित्यदर्पण। 'शशिकला' हिन्दीटीका १-६ परि० ३०-००, ७–१० परि० १५–००
१९ काव्यप्रकाश। 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका—डॉ० सत्यव्रत सिंह ३०–००
२० भट्टिमहाकाव्य। सान्वय संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित। श्रीगोपालशास्त्री
'दर्शनकेशरी' १–४ सर्ग ८–००, ५–८ सर्ग १०–०० एवं १४–२२ १०–००
२१ नैषधमहाकाव्य। 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। श्रीशेषराजशर्मा
प्र० सर्ग ६–०० १-३ सर्ग १२–०० १-५ सर्ग १८–०० १-९ सर्ग ३०–००
२२ किरातार्जुनीयम्। 'विजया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, परीक्षोपयोगि
डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी। द्वि० सर्ग २–०० ३–६ सर्ग
२३ दशकुमार-पूर्वपीठिका। परीक्षोपयोगि 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या
व्याख्याकार—पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
२४ प्रस्तावरत्नाकरः। परीक्षोपयोगि निबन्धसंग्रह। डॉ० ब्रह्मानन्दत्रिपाठी
२५ सवृत्तिरष्टाध्यायीसूत्रपाठः। सम्पा० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी'